स्याद्वाद रहस्य

प्रद्योतक,

उपाध्याय श्रीयशोविजय.

स्वर्गवास, वि.सं. १७४४. डभोई.

कलिकालसर्वज्ञ-आचार्य-श्रीमद्‍हेमचन्द्रसूरि-

विरचितवीतरागस्तोत्राष्टमप्रकाशमर्मप्रकाशक

लघु-मध्यम-बृहद्विवरणत्रयात्मक

स्याद्वादरहस्य

—: प्रद्योतक :—

सर्वदर्शनमर्मज्ञ—समर्थतार्किक

न्यायविशारद-न्यायाचार्य-जिनशासनोद्योतक

महोपाध्याय श्रीयशोविजय

[स्वर्गवास वि. सं. १७४४

—: प्रकाशक :—

भारतीय प्राच्यतत्त्व प्रकाशन समिति—पिंडवाडा

प्राप्तिस्थान :—

शा. रमणलाल वजेचन्द
मस्कती मार्केट
अहमदाबाद

वीरसंवत्–२५०२
विक्रमसंवत्–२०३२

—:द्रव्यसहायकः—
श्री जैनसंघज्ञाननिधि–गोल–(राजस्थान)

मूल्य–रू० २०–००

|सर्वाधिकाराः श्रमणप्रधानश्रीजैनसंघस्य स्वायत्ताः|

मुद्रक

लघुस्याद्वादरहस्य
ज्ञानोदय प्रिन्टिग प्रेस
पिंडवाडा
स्टे०–सिरोही रोड–राजस्थान

मध्यम-बृहद्-स्याद्वादरहस्य
रामानन्द प्रिन्टिग प्रेस
कांकरिया रोड
अहमदाबाद–२२

प्रकाशकीय निवेदन

परमपूज्य सिद्धान्तमहोदधि आचार्यदेव श्रीमद् विजय **प्रेमसूरिश्वर** महाराज की पुनित प्रेरणा से नूतन ग्रथित कर्मसाहित्य के ग्रन्थों के प्रकाशन के लिये हमारी समिति की स्थापना हुई थी। किन्तु उसका उद्देश्य केवल कर्मसाहित्य के ग्रन्थों का प्रकाशन मात्र न था किन्तु आर्य-देश में उपलब्ध प्राचीन बहुमूल्य ग्रन्थों के प्रकाशन का भी ध्येय था।

सद्भाग्य से प. पू. मुनिप्रवर श्री जयघोषविजय महाराज तथा पू. मुनिराज श्री हेमचन्द्र विजय महाराज की प्रेरणा से प्राचीन जीर्ण–दुर्लभ्य–हस्तप्रतों को नवजीवन देने की भावना से प्राचीन प्रतों के पुनर्लेखन करवाने द्वारा जीर्णोद्धार का कार्य शुरु किया। अनेक जैनसंघों के ज्ञाननिधि में से तथा उदार गृहस्थों से इस कार्य में बहुमूल्य द्रव्य सहाय प्राप्त हुई जिसके लिये हम उन सबके सदा के लिये आभारी हैं। आशा है इस कार्य में दिन प्रतिदिन द्रव्यादि द्वारा सहाय देकर जैन संघ अगणित पुण्योपार्जन करता ही रहेगा। पू. मुनि भगवन्त श्री जयघोष विजय महाराज का मार्गदर्शन इस कार्य में सदा हमें प्राप्त होता रहा। आपने अनेक ज्ञानभंडारों का स्वयं निरीक्षण करके तथा जहाँ स्वयं न पहुँच सके वहाँ से ग्रन्थभंडारों की सूचियाँ मँगवा कर उसमें से चुनकर पुनर्लेखन के लिये योग्य ग्रन्थों की हस्त प्रतियाँ मँगवाई। आज तक प्रायः सौ से भी अधिक ग्रन्थों को नवजीवन दिया गया है–जो जिनागम–शास्त्रप्रेमी वर्ग के लिये अवश्य अनुमोदनीय है।

प्राचीन हस्तप्रतों के जीर्णोद्धार के कार्य के साथ यह भी एक आशय रहा कि यदि ऐसे ग्रन्थों की प्राप्ति हो जिन का मुद्रण अभी तक न हुआ हो तथा स्वाध्याय के लिये अति आवश्यक हो ऐसे ग्रन्थों का विद्वान् मुनिगण के पास सुवाच्य सम्पादन करवा कर मुद्रण के द्वारा प्रकाशित करना। हमारे इस आशय के अनुरूप अनेक ऐसे ग्रन्थरत्न प्राप्त हुए जिनका प्रकाशन करना उचित लगा। उनमें सबसे प्रथम उपाध्याय यशोविजय विरचित **'स्याद्वादरहस्य'** ग्रन्थ का प्रकाशन करने के लिये प्रयत्न किये गये। ६ मास पहले लघुस्याद्वादरहस्य के प्रकाशन के बाद उपाध्याय यशोविजय विरचित कतिपय प्रकीर्ण वादों के संग्रह रूप एक वादसंग्रह ग्रन्थ का भी प्रकाशन किया गया। अधुना लघु-मध्यम-बृहत् तीनों स्याद्वादरहस्य का एक साथ प्रकाशन का अमूल्य अवसर हमें प्राप्त हुआ है जो हमारे लिये अति हर्ष का विषय है।

जिन महानुभावों ने इस कार्य में हमें भावपूर्ण सहयोग दिया हैं उनके उस कार्य का हम कृतज्ञतापूर्वक अनुमोदन करते हैं। सहयोग देने वालों में विशेषतः उल्लेखयोग्य जो हैं उनके सहयोग को यहाँ नामशः याद करना अनुचित न होगा।

(१) श्रीजैनसंघ-गोल (राजस्थान) की ओर से इस ग्रन्थ के मुद्रण के लिये रू० ५००० की सहाय प्राप्त हुई।

२ (A) देवशा का पाडा (अहमदाबाद) के ज्ञान भंडार के कार्यवाहकों तथा (B) संवेगी उपाश्रय (अहमदाबाद) के ज्ञानभंडार के कार्यवाहकों तथा (C) ला. द. विद्यामंदिर (अहमदाबाद) के प्रधान अध्यक्ष-इन महानुभावों के द्वारा इस ग्रन्थ के सम्पादन के लिये अमूल्य हस्तप्रतियाँ प्राप्त हुई।

३ ज्ञानोदय प्रिन्टिंग प्रेस पिंडवाड़ा के मैनेजर फतेहचन्द जैन तथा पिंडवाडा की धार्मिक जैन पाठशाला के अध्यापक लघु० स्या. र. के प्रुफरीडींग में सहायक चम्पकलाल जैन तथा रामानन्द प्रिन्टिंग प्रेस के मेनेजर धर्मप्रचारक संत कवि श्री रामवल्लभदासजी महाराज इन तीनों के उत्साह पूर्ण सहयोग से इस ग्रन्थ का सुवाच्य मुद्रण हो सका।

अन्त में ग्रन्थ के स्वाध्याय द्वारा मुमुक्षु गण स्याद्वादसिद्धान्त की महत्ता समझ कर अपने परमश्रेय की प्राप्ति के मार्ग में आगे बढे यही एक शुभेच्छा।

—कार्यवाहकगणभारतीयप्राच्यतत्त्वप्रकाशनसमिति

लघु स्या० र० शुद्धिपत्रकम्

पृष्ठपङ्क्त्यङ्कौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
१२।१०	थत्याथ	यथातथ
१४।१०	द्र०तयां	द्रव्यतां
२०।१४	०भावादास०	०भावादिसा०
२२।१	मन्यत्रा	१मन्यत्र०
२८।१	व र्साप०	सर्वाप०

म० स्या० र० प्रधाना शुद्धिः

पृष्ठ ६४ तमे टिप्पण्यां

"३-'तद्धेतुहेतोस्तद्धेतोरेवातत्त्वम्' इति न्यायात्" इत्यस्य स्थाने "२-'तद्धेतोरेवास्तु किं तेन' इति न्यायात्" इति पठनीयम्।

बृ० स्या० र० शुद्धिपत्रकम्

पृष्ठपंक्त्यङ्कौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
८१।२८	'रूप२वव'	'रूपवत्त्व'
८५।११	कत्वसम्बद्धं	कत्वं सम्बद्धं
९२।२	हेतुरननुगत	हेतुरनुगत

प्रस्तावना

आनन्द की बात है–पूजनीय श्रीचतुर्विधसंघ का करकमल आज 'स्याद्वादरहस्य' नामक सुंदर जैनन्याय के ग्रन्थ से सुशोभित हो रहा है।

'स्याद्वादरहस्य' के प्रद्योतक है १८ वीं शताब्दी के ज्योतिर्धर श्रीमद् **यशोविजय** उपाध्याय। उपाध्यायजी ने कलिकालसर्वज्ञ श्री **हेमचन्द्रसूरि** विरचित 'वीतरागस्तोत्र' के अष्टम प्रकाश पर प्रथम एक संक्षिप्त विवरण लिखा। उसके बाद उसी को फिर से पल्लवित किया और अन्त में अनेक वादस्थलों का संग्रह करने के लिये पुनः तृतीय विवरण करना शुरू किया।

प्रथम संक्षिप्त विवरण १२ श्लोक पर होने से संपूर्ण है। द्वितीय विवरण जिसका ग्रन्थ परिमाण प्रथम से अधिक हैं केवल ११ वा श्लोक के विवेचन के बाद १२ वे श्लोक का विवेचन के पहले अपूर्ण रह गया है। तृतीय विवरण ३ श्लोक के विवेचन के बाद अपूर्ण रह गया है फिर भी इन श्लोकों का विवेचन द्वितीयविवरणगत ३ श्लोक के विवेचनग्रन्थपरिमाण से अधिक हैं, इसलिये तृतीय विवरण को यहाँ 'बृहत्', द्वितीय को 'मध्यम' और प्रथम को 'लघु' ऐसी संज्ञाएँ दी गई हैं।

१–प्रतिपरिचयादि

लघु 'स्याद्वादरहस्य' का उपाध्यायजी के स्वहस्ताक्षर वाला आदर्श आज अहमदाबाद देवशापाडा के उपाश्रय के भंडार में उपलब्ध हो रहा है। क्रमांकपत्र में उसका क्रमांक है ५९६२। इसका लेखन वि. सं. १७०१ में आन्तरोली गाँव में किया है। इसमें १३ पत्र हैं, प्रत्येक में २० से कम पंक्ति नहीं है केवल तेरहवे में द्वितीय पृष्ठ पर १६ पंक्ति के बाद ग्रन्थ समाप्ति है। अनेक पत्रों में हाँसीए में पाठ का प्रक्षेपण कीया है। छट्ठे पत्र का द्वितीय पृष्ठ और सातवाँ का अग्रपृष्ठ चारों ओर से भर दिया है, जिससे कौनसा पाठ कहाँ बढाना यह शोधना विषय के ज्ञान के विना अति दुरुह बन गया है। उपाध्यायजी की स्वहस्तलिखितग्रन्थप्रति से जिन ग्रन्थों का पूर्व प्रकाशन हुआ है उसमें कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जिसमें हाँसिआ में लिखा हुआ पाठ का उचित स्थान में निवेश न किया गया है जिससे अर्थ का अनर्थ हो गया है, उदाहरण के लिये नयरहस्य आदि ग्रन्थ देखिए। हमने हमारी मति के अनुसार विषय को समझकर उन प्रक्षेपों का उचित स्थान में निवेश करके सम्पादन किया है फिर भी कहीं त्रुटी दीख पडे तो उसके संमार्जन के लिये उपाध्याय जी के मूलादर्श को अवश्य देखने के लिये हमारी साग्रह विज्ञप्ति है। इसकी अन्य नकल आज कहीं भी उपलब्ध नहीं हो रही है।

मध्यम 'स्याद्वादरहस्य' का आदर्श भी उपाध्यायजी के स्वहस्ताक्षर वाला विमलगच्छीय महेन्द्रविमल के ज्ञानभंडार से उपलब्ध हो रहा है। यह ज्ञानभंडार पहले देवशा के पाडा में ही था किन्तु अभी ला. द. विद्यामंदिर (अहमदाबाद) में रखा गया है।

इस आदर्श में ४९ पत्र हैं। इसमें पंक्तियों का प्रमाण सर्वत्र समान नहीं है, किसी में १३ से कम नहीं है और २० से अधिक प्रायः नहीं है। पत्र ४९ के द्वितीय पृष्ठ में चतुर्थ पंक्ति अपूर्ण रह गइ है—उपाध्यायजी के स्वहस्तलिखित आदर्श होने से यह ज्ञात होता है कि यह मध्यम स्या० र० अपूर्ण ही रह गया है। संभव है कि इतना लिखने के बाद यह आदर्श कहीं गुम हो गया हो जिससे ग्रन्थ भी अपूर्ण ही रह गया हो और इसी लिये उन्हों ने तृतीय बृहत्परिमाण वाले 'स्या र.' रचना का प्रारम्भ किया हो। इसकी भी अन्य नकल अप्राप्य है।

तृतीय बृहत्परिमाण स्या० र० का मूल आदर्श 'संवेगी जैन उपाश्रय (अहमदाबाद)' के ज्ञानभंडार में उपलब्ध हो रहा है। यह आदर्श उपाध्यायजी के स्वहस्तलिखित न होने पर भी पृष्ट ११।२ में स्वहस्ताक्षरों से प्रक्षेप होने से उनके ही काल में लिखी गई होगी यह सिद्ध है। प्रति का लेखन शुद्ध और सुवाच्य है इसमें २४ पत्र हैं। प्रत्येक में प्रायः २५ पंक्ति हैं। केवल पत्र २४ का अग्रपृष्ठ पाँचवी पंक्ति से अपूर्ण रह गया है यह अपना दुर्भाग्य है। अन्य कोई नकल इस प्रति की प्राप्त नहीं है।

'स्याद्वादरहस्य' एक विवेचनात्मक ग्रन्थ है जिसमें वीतरागस्तोत्र के अष्टम प्रकाश का मूल रूप से ग्रहण किया गया है इस लिये वीतरागस्तोत्र और उसके प्रणेता पू. आचार्यदेव श्रीमद् हेमचन्द्रसूरि का संक्षेप में यहाँ परिचय करना उचित है।

२—पू. आ. श्रीमद् हेमचन्द्रसूरि और वीतरागस्तोत्र

जिनशासन में अनेक विद्वान् और प्रभावक आचार्य हो गए जिसमें पू. आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि का अति—उन्नत स्थान है। वि. सं. ११४५ में जन्म और मात्र ५ वर्ष की उम्र में उनकी जैन दीक्षा हुई। आचार्य श्री देवचन्द्रसूरि उनके गुरु थे जिन्होंने भावि के रहस्य को जान कर छोटी उम्र में इस बालक को दीक्षित बना कर सुशिक्षित भी बनाया। धैर्य—गाम्भीर्यादि गुणसम्पन्नता के कारण वि. सं. ११६६ में जिनशासन के जिम्मेदारी पूर्ण श्री आचार्यपद से विभूषित किये गये। तब से वे आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन आचार्य ने गुर्जरनरेश सिद्धराजजयसिंह को प्रतिबोध करके जिनशासन की शोभा में अभिवृद्धि करवाई। व्याकरण—काव्य—छंद—अलंकार—न्याय—चरित्र आदि साहित्य का कोइ विषय उनकी लेखिनी से अछूत न रहा। साडेतीनकरोड़श्लोक रचना करने वाले श्री हेमचन्द्रसूरि ने सिद्धराज के बाद गुर्जरदेश के अधिपति कुमारपाल को भी जैन धर्म का उपदेश देकर परम श्रमणोपासक बनाया। कुमारपाल भूपाल की प्रार्थना से उन्होंने अपने वीतरागदेव की मधुर स्तुति रूप में

वीतरागस्तोत्र की रचना की जिसमें २० प्रकाश हैं और प्रत्येक में ८ से कम श्लोक नहीं हैं। आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि ने दो राजवी को प्रतिबोध कर के सारे गुजरात में अहिंसा धर्म की बहुमूल्य प्रतिष्ठा की। भारत देश में आज सबसे अधिक अहिंसक शान्तियप्र प्रजा का निवास कहीं भी हो तो वह गुजरात में, जिसके लिये श्री हेमचन्द्रसूरि का सारे गुजरात का समाज अवश्य ऋणी है। ऐसे महान् प्रभावक आचार्य वि. सं. १२२९ में स्वर्ग पधारे। सिद्धहेमशद्वानुशासन आदि अनेक ग्रन्थरत्न आज इन महापुरुष की उच्चतम प्रतिभा में साक्षी दे रहे हैं।

३–स्याद्वादरहस्य के कर्त्ता उपाध्याय यशोविजय :–

विक्रम की १७ वीं शताब्दी में गुजरात में पाटण (सिद्धपुर) के नजदीक में एक छोटा सा देहाँत कनोडु श्री यशोविजय के जन्म से धन्य बन गया। श्रीयशोविजय महाराज का जन्म दिन निश्चितरूप से बताने के लिये कोइ आधार न होने पर भी इतना जरूर कह सकते हैं कि उनका जन्म वि. सं. १६७५ से १६८० के बीच में हुआ होगा। क्योंकि वि. सं. १६८८ में उनकी दीक्षा निश्चित है और ८ वर्ष से कम उम्र वाले को जैनशासन में उत्सर्ग मार्ग से दीक्षा दी नहीं जाती, तथा उन्होंने बाल्यवय में ही दीक्षा ली हैं इस से दीक्षा के समय ८ से १३ वर्ष की उम्र हो तो वह अनुमान ठीक हो सकता है। उनके पिता का नाम नारायण था और माता का सोभागदे। अपना नाम था जसवन्त।

बाल्यवय में भी जसवन्त की तीक्ष्ण बुद्धि और दयालुता–उदारता आदि को देख कर लोगों को यह विश्वास पैदा हुआ था कि जरूर एक दिन यह बालक बड़ा पंडित और महात्मा बनेगा। वह दिन भी दूर न था कि जसवन्त को सद्‌गुरुदेव **पू. नयविजय** महाराज का परिचय हुआ। उनकी सौम्यमुखाकृति और निस्पृहतापूर्ण मुनिचर्या से जसवन्त प्रभावित हुआ। श्री नयविजय महाराज ने भी जौहरी की तरह इस बाल रत्न की परीक्षा कर ली और वह दिन आ गया जब कि माता और पिता ने हर्षाश्रुपूर्ण आशिष से जसवन्त की दीक्षा के लिए शरणाइयों का मंगल ध्वनि बजाना शुरू कर दिया। वि. सं. १६८८ में बालक जसवन्त ने अणहिलपुर पाटण में अपने जीवन को पांच महाव्रतों के अंगीकारपूर्वक संयमित बना दिया। आजीवन सद्‌गुरु के चरणोपासक बन गये। केवल स्वयं नहीं किन्तु अपना लघु बन्धु पद्मसिंह भी साथ ही दीक्षा लेकर अपने बडे भाइ का पदानुसारी बना। दीक्षा के समय नामपरिवर्त्तन से जसवन्त **जशविजय** बना और पद्मसिंह **पद्मविजय**।

तीक्ष्ण बुद्धि वाले श्री जसविजय महाराज ने बाल्यवय में ही अर्थगम्भीर जैनशास्त्रों के अध्ययन में अपने को तल्लीन बना दिया। किन्तु जैन शास्त्रों में पूर्वपक्ष के रूप में

आने वाले जैनेतरदर्शनों के सिद्धान्तों का अभ्यास जब तक अच्छी तरह न किया हो तब तक जैनदर्शनशास्त्रों का रहस्य हस्तगत होना कठीन है। पूज्य गुरुदेव श्री नयविजय महाराज भी समझते थे कि यदि जसविजय को जैनेतरदर्शनों का अच्छा अध्ययन कराया जाय तो जैनदर्शन के सिद्धान्तों का सम्यक् ज्ञान भी होगा। दूसरी ओर जसविजय की प्रतिभा से चमत्कृत होकर अहमदावाद में एक धनजी सूरा नामक श्रेष्ठी ने गुरुदेव श्री नयविजय महाराज को आग्रहपूर्ण विज्ञप्ति की कि 'आप जसविजय को काशी में ले जाइए और सभी दर्शनों का अध्ययन करने में पढ़ाने वाले भट्टारक आचार्य को जो दक्षिणा देनी होगी वह सब मैं समर्पित करूँगा।'

श्री **नयविजय** महाराज ने भी निश्चय कर लिया और गुजरात में से उग्र विहार करके गुरु–शिष्य के युगल ने काशी को पावन किया। वहाँ सातसो विद्यार्थीओं को पढ़ानेवाले भट्टारक के पास जसविजय भी पढ़ने लगे और भट्टारकजी भी उनकी प्रतिभा देखकर दाँतों तले अँगुली दबाने लगे। विद्यार्थीओं में सब से आगे थे जसविजय। असीम गुरुकृपा का वह फल था। मात्र तीन वर्ष में तो जसविजय महाराज ने न्याय-वैशेषिक-मीमांसक आदि दर्शनों के कठिन ग्रन्थों का तलस्पर्शी अध्ययन कर लिया।

जसविजय महाराज अध्ययन में मग्न थे उस समय काशी में एक महावादी संन्यासी ने वाद के लिये काशी के पण्डितों को आह्वान दिया। वाद में बडे बडे पण्डित हार गये। तब भट्टारक की नजर जसविजय पर स्थिर हुई। जसविजय महाराज ने वाद-सभा में अनेक पण्डितों की उपस्थिति में गुरुकृपा के अनन्य प्रभाव से स्याद्वाद की अकाट्य युक्ति द्वारा उस संन्यासी को वाद में पराजित कर दिया। स्याद्वाद दर्शन की जयपताका को काशी के गगनांगण में लहराना आसान तो नहीं था, सभी पण्डित आश्चर्यमग्न बन गये और बहुत सम्मानपूर्वक जसविजय महाराज को **न्यायविशारद** की उपाधि से विभूषित बना दिये।

तदनन्तर श्रीमद् नयविजयमहाराज और न्यायविशारदजी विहार करके आग्रा में आये। वहाँ भी एक विद्वान भट्टारक के पास चार वर्ष तक श्री जसविजय महाराज ने जैनेतरदर्शनों का ही अभ्यास किया। इस समय में श्री जसविजय महाराज ने अनेक नवीन ग्रन्थों की रचना की होगी जिसको देखकर भट्टारक श्री ने जसविजय को न्यायाचार्य पद भी समर्पित किया। जैनेतर दार्शनिकों में उदयनाचार्य के बाद यह गौरवपूर्ण पद किसी दूसरे को दिया गया हो ऐसा सुना नहीं है। उपाध्यायजी इन दोनों पदवी का स्वयं उल्लेख इस तरह करते हैं–

"पूर्वं न्यायविशारदत्वबिरुदं काश्यां प्रदत्तं बुधैः,
न्यायाचार्यपदं ततः कृतशतग्रन्थस्य यस्यार्पितम् ॥"

अर्थ–जिसको (जसविजयजी) को पहले काशी में पण्डितों ने 'न्यायविशारद' बिरुद दिया और बाद में १०० ग्रन्थों की रचना करने वाले को न्यायाचार्य पद भी दिया गया।

२–तथा "न्यायाचार्य बिरुद तो भट्टाचार्यइ न्यायग्रन्थरचना करी देखी प्रसन्न हुइ दिउँ छइ।.... .... न्यायग्रन्थ २लक्ष कीधो छई। तो बौद्धादिकरी एकान्त युक्ति खंडो स्याद्वादपद्धति मांडीनइ।"

–श्रीयशोविजय के स्तम्भतीर्थ से जेसलमेरवास्तव्य साहहरराज पर लिखित पत्र में से।

इस उद्धरण से पता चलता है कि श्री जसविजय महाराज ने अपने पठनकाल में ही बृहत्काय ग्रन्थ की रचना की होगी। लघु स्याद्वादरहस्य में न्यायवादार्थ, अध्यात्ममतपरीक्षा आदि अनेक स्वोपज्ञ ग्रन्थों का उल्लेख मिलता हैं। 'लघु स्या. र.' का रचना काल संवत् १७०१ होने से दीक्षा के बाद केवल १२–१३ वर्ष के अन्तर में ही श्री उपाध्यायजी महाराज ने अनेक ग्रन्थों की रचना की होगी जिनमें अध्यात्ममतपरीक्षा आदि ग्रन्थ तो उपलब्ध है किन्तु दो लक्ष श्लोकपरिमाण वाला ग्रन्थ जो हमारे ख्याल से न्यायवादार्थ ही होना चाहिए अभी अनुपलब्ध है यह एक दुर्भाग्य की बात है।

आग्रा में अभ्यास पूर्ण करने पर गुरु शिष्य का युगल जब अहमदाबाद आया तब भारी धामधूम से उनका नगर प्रवेश कराया गया और श्री यशोविजय महाराज की १८ अवधान की कला देख कर वहाँ का सुबा महोबतखान प्रसन्न हुआ। श्री यशोविजय महाराज का पूरा जीवन प्राचीन-नवीनन्यायशैली के मिश्रण वाले सैद्धान्तिक और न्याय ग्रन्थों की रचना में ही समाप्त हुआ।

संवत् १७१८ में श्री विजयप्रभसूरि ने उनको उपाध्याय पद से अलंकृत किया और तब से श्री यशोविजय महाराज 'उपाध्यायजी' के दुलारे नाम से हीं बहुधा प्रसिद्ध बने। वि. सं. १७४३ में बडौदा के पास दर्भावती (डभोई) नगर में चातुर्मास किया था। उसके बाद सं० १७४४ में उसी नगर में समाधिपूर्ण स्वर्गवासी बने। जिस स्थान पर श्री उपाध्यायजी का अग्निसंस्कार किया गया था उसी स्थान पर एक स्तूप बनाकर गाँव के संघ ने वहाँ उपाध्यायजी के पदयुगल की स्थापना की। आज भी यह स्तूप डभोई में श्री यशोविजय महाराज की विद्वत्ता का यशोगान कर रहा हैं।

५५ वर्ष के दीक्षा पर्याय में श्री उपाध्यायजी महाराजने लाखों श्लोक प्रमाण ग्रन्थ रचना के द्वारा श्री जैन शासन की अपूर्व सेवा की। जैन संघ श्री यशोविजय महाराज के वचनों में प्रामाणिकता का संपूर्ण विश्वास रखता हैं। इतना ही नहीं जैनेतर पंडित भी

श्री उपाध्यायजी के ग्रन्थों को पढ कर चकित हो जाते हैं और उनकी प्रतिभा के आगे मस्तक झुका देते हैं।

जिन ग्रन्थों की श्री यशोविजय महाराज ने रचना की उनमें रहस्यपद से अङ्कित १०८ ग्रन्थ उपाध्यायजी ने बनाया हो ऐसा अनुमान करने के लिये एक महत्त्व का उल्लेख उनके 'भाषारहस्य' नामक ग्रन्थ में देखने में आता हैं वह इस प्रकार है–"रहस्यपदाङ्कित-तया चिकीर्षिताऽष्टोत्तरशतग्रन्थान्तर्गतप्रमारहस्य-नयरहस्य-स्याद्वादरहस्यादिसजातीयं प्रकरणमिदमारभ्यते"। इस प्रकरण में आगे जाकर 'वादरहस्य' ग्रन्थ का भी उल्लेख मिलता है वह इस प्रकार है 'तत्त्वमत्रत्यं मत्कृतवादरहस्यादवसेयम् (भा. र. पृष्ठ १५।२)'। उपदेश-रहस्य नामक एक ग्रन्थ भी उपलब्ध है। रहस्यपदाङ्कित सभी ग्रंथ तो आज उपलब्ध नहीं हैं किन्तु उन सभी में महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'स्याद्वादरहस्य' उपलब्ध होकर प्रकाशित हो रहा है यह आनन्द की बात है। इस ग्रन्थ का खुद उपाध्यायजीने अनेक ग्रन्थों में अतिदेश किया है जिन में से कुछ इस प्रकार हैं।

१ अधिकं मत्कृत-न्यायालोक-स्याद्वादरहस्ययोरवसेयम्। शास्त्रवार्त्तासमुच्चय-स्त० १ श्लो० ४२ की टीका स्याद्वादकल्पलता

२ 'विस्तरस्तु स्याद्वादरहस्ये' शा० वा० स्त० ६ श्लो० ३७ टीका

३ 'अधिकं स्याद्वादरहस्ये' ज्ञानार्णव पृष्ठ ३४।२ और ३६।१

४ 'अधिकं स्याद्वादरहस्यादवसेयम्' न्यायालोक

५ 'धर्मधर्मिणोर्भेदाभेदस्य सप्रपञ्चं स्याद्वादरहस्ये व्यवस्थापितत्वात्' ज्ञानार्णव पृष्ठ ३९।१

इस तरह भाषारहस्य, शास्त्रवार्त्ता की टीका स्याद्वादकल्पलता, ज्ञानार्णव-न्यायालोक आदि अनेक ग्रन्थों में उस उस विषय के विस्तार की जिज्ञासा के लिये श्री उपाध्यायजी स्याद्वादरहस्य की ओर अंगुलीनिर्देश करते है। इस ग्रन्थ में श्री उपाध्यायजी ने स्याद्वाद के सर्वाङ्गीण स्वरूप बताने के लिये एक सफल और गौरवपूर्ण प्रयास किया है। उसको समझने के लिये आवश्यक है कि हम प्रथम उसकी भूमिका को समझ ले।

४–'स्याद्वादरहस्य' की पार्श्वभूमि

भगवान ऋषभदेव से लगाकर भगवान महावीरस्वामी पर्यन्त ऐसा काल बीत गया जिसमें समय समय पर शाश्वत सुख और अध्यात्म का महान संदेश सुनाने वाले २४ तीर्थंकर सर्वज्ञ भगवन्त थे। किन्तु अध्यातम साधना की मूल बुनीयाद आत्मा-पुण्य-पाप-परलोक इत्यादि ऐसे अतीन्द्रिय पदार्थ हैं जिनके प्रत्यक्ष इन्द्रियगोचर न होने से हेतु-तर्क और दृष्टान्तों की सहाय से लोगों के हृदय में इनके प्रति श्रद्धा जमाई जाती थी। भगवान महावीर के

समय में अन्य भी अनेक जैनेतर दर्शन विद्यमान थे जिसमें आत्मा आदि की बातें की जाती थी तथा उनकी सिद्धि के लिये और दूसरे के मतों के खंडनार्थ हेतु-तर्क का सहारा लिया जाता था किन्तु हेतु और तर्क से जनहृदय में उन सिद्धान्तों के प्रति श्रद्धा जमाने के लिये प्रयास किया गया हो ऐसा कम देखने में आ रहा था।

भगवान महावीर के बाद जैनशासन की धुरा को वहन करने वाले अनेक प्रभावक आचार्य हुए जिन्होंने हेतुवाद के आधार पर अहिंसादि निर्दोष सिद्धान्तों को जनसमाज में प्रतिष्ठित करने के लिये पर्याप्त श्रम लिया था। वैदिक दर्शनों में न्यायदर्शन के प्रस्थापक न्यायसूत्रप्रणेता गौतम ऋषि भी ऐसे हुए जिन्होंने हेतुवाद के बल से आत्मा आदि अतीन्द्रिय पदार्थों के बारे में अपनी वैदिक मान्यताओं को जनहृदय में प्रतिष्ठित करना शुरु किया। साथ साथ अन्य वैदिक दर्शनों में भी हेतुवाद का आश्रय लेकर अपनी मान्यताओं का प्रतिपादन करने वाले तरह तरह के ग्रन्थों की रचना शुरु हो गई।

अनेक ग्राम नगर में विचरने वाले जैनाचार्यों से यह हकीकत गुप्त नहीं थी कि यदि इन दर्शनों की वाग्जालों में जनसमाज फँस जायगा तो अहिंसा-सत्य के सुनहरे सिद्धान्तों के नाम पर लोग हिंसापूर्ण यज्ञ यागों में निर्दोष पशुओं की बलि करने से अछुत न रहेगा और धर्म के नाम अधर्म के प्रचार में कुछ कमी न रहेगी। इसलिये परम्परया मनुष्यों की कुवासनाओं को पुष्ट करने वाले ऐसे सिद्धान्तों के प्रचार की भयंकरता को समझने वाले जैनाचार्यों ने उनके प्रतिविधान के लिये स्वदर्शन के अभ्यास के साथ परदर्शन के ग्रन्थों को भी जैन श्रमणवर्ग के अभ्यास में स्थान दिया। यद्यपि दृष्टिवाद (१२ वाँ अंगशास्त्र) में मिथ्यादर्शनवादीओं के मतों का उत्थापन विस्तारपूर्वक किया था फिर भी दृष्टिवाद महाकाय शास्त्र होने के कारण तथा मुनिवर्ग में स्मृतिह्रास के कारण उसका अधिकांश विच्छेद हो गया था इसलिये परदर्शनों के अभ्यास के लिये उनके ग्रन्थों के अभ्यास के सिवा और कोई मार्ग रहा न था। इस तरह के अभ्यास का यह नतीजा था कि जैन परम्परा में अनेक ऐसे विद्वान हुए जिनके रचे गये ग्रन्थों में हेतुवाद के बल पर अकाट्य तर्क और हृदयङ्गम दृष्टान्तों की सहाय से जैनेतर दार्शनिकों की मान्यताओं की अपूर्णता या असत्यता दर्शाई गई। साथ साथ अध्यात्म से अपने उत्कर्ष की साधना के लिये कैसे पूर्ण और सत्य सिद्धान्तों का आश्रय लेना चाहिये यह भी सयुक्तिक बताया गया।

जो आजकल के आधुनिक विद्वान् यह शोर मचा रहे हैं कि—"प्राचीन काल में परदर्शनों की मान्यताओं को धिक्कार या हीनता की दृष्टि से देखे जाने के कारण दार्शनिक लोगों ने अपने ग्रन्थों में इतर दर्शनों की मान्यताओं का खंडन मंडन करने में व्यर्थ ही समय बीता दिया"—यह केवल अपनी मतिमन्दता के प्रदर्शन के सिवा और कुछ नहीं है।

चूँकि कदाचित् जैनेतर दार्शनिकों के विषय में यह कथन सत्य भास रहा हो तो भी जैन दार्शनिकों के लिये तो नितान्त असत्य कहा जा सकता है। जैनेतर दार्शनिकों ने जैन धर्म को नास्तिक भी बता दिया है किन्तु जैन दार्शनिकों ने कभी भी अन्य दार्शनिकों को नास्तिक नहीं बताया यदि चार्वाक दर्शन को छोड दिया जाय। हमारे ख्याल से तो जैनेतर दार्शनिकों ने भी अपने ग्रन्थों में अन्य दार्शनिकों के मन्तव्यों की समीक्षा की है वह इसलिये कि अपने दर्शन के अनुयायी लोग जो की स्वपरउभय दर्शन के मन्तव्यों कि परीक्षा करने में असमर्थ हैं वे अपने दर्शन के सिद्धान्तों का खण्डन सुन कर स्वदर्शन से भ्रष्ट हो जाय और परदर्शन के सिद्धान्तों और आचारों को अंगीकार करने की क्षमता न रखें तो आखिर उभयतो भ्रष्ट होकर परलोक की मान्यता से सर्वथा निरपेक्ष हो जाय—पाप का भय न रहे और अकार्य में सदा प्रवृत्त रह कर अपनी आत्मा को अधःपतन के पथ पर ले जाय ऐसे महान् अनिष्ट का सर्जन न हो इस उद्देश्य से बहुधा अन्य दर्शन की मान्यताओं के खंडन में प्रवृत्त होते थे। जैन दर्शन के विद्वान् भी अन्य दार्शिनिकों के मन्तव्यों की समीक्षा करने में प्रवृत्त हुए थे वह इसलिये कि मुमुक्षु मानवगण उसके सहारे तत्त्व का विनिश्चय कर सके और तत्त्व के विनिश्चय का फल द्वेषशान्ति को भी पा सके। जैन शास्त्रों के रहस्य को नहीं समझने वाले केवल दो—चार ग्रन्थों का अनधिकृत अध्ययन कर लेने पर पांडित्य का अभिमान धारण करने वाले आधुनिक विद्वान जो कि प्राचीन आचार्यों के लिये 'हरिभद्र—हेमचन्द्र' ऐसे नाम मात्र का तुच्छ निर्देश करते हुए अनेक ग्रन्थों की प्रस्तावना में देखे जाते हैं और उन तत्त्वदर्शी मनीषीओं के लिये यद्वा तद्वा लीख डालते है—यह उन आधुनिक विद्वानों की अतिशोचनीय दयनीय दशा का द्योतक है। अस्तु।

शुभ उद्देश से स्वसिद्धान्त का साधकयुक्तियों से समर्थन और अन्यदार्शनिक प्रदर्शित बाधक युक्तियों का निराकरण करने की प्राचीन परम्परा के प्रभाव से जैन जैनेतर दर्शन को अनेक बहुमूल्य ग्रन्थरत्न प्राप्त हुए। 'स्याद्वादरहस्य' भी उनमें एक है।

एक समय था जब जैनेतर विद्वान् लोग अपनी परम्परा से प्राप्त सिद्धान्तों को ज्यों का त्यों अपना लेते थे। किन्तु जब दार्शनिकसिद्धान्तों का परस्पर संघर्ष बढा तब विक्रमीय १४वी शताब्दि के न्याय दर्शन के एक प्रखर विद्वान ने परम्परा आगत सिद्धान्तों को थोडा परिष्कृत कर के नयी शैली से विद्वानों के सामने उपस्थित करना उचित समझा। वह था 'तत्त्वचिन्तामणि' ग्रन्थ का सर्जक उपाध्याय गङ्गेश। प्राचीन सिद्धान्तों को परिष्कृत करके नवीन शैली से प्रतिपादन करने वाले वह विद्वान नव्यन्याय के आद्य पिता रूप में प्रसिद्ध हुये। विक्रमीय १७ वीं शताब्दि के अन्त में तो पक्षधरमिश्र—रघुनाथ शिरोमणि इत्यादि अनेक विद्वानों के पांडित्यपूर्ण विवेचन से वह नव्यन्याय का ग्रन्थ अतिपल्लवित हो गया था। तत्त्वचिन्तामणि के अभ्यास के विना मानो विद्वत्ता ही उस काल में अपूर्ण रह जाती थी।

'तत्त्वचिन्तामणि' को रचना के बाद जैनदर्शन में भी उसका अभ्यास शुरू हो गया था किन्तु उसकी जटिलता के कारण सब उसका अभ्यास न कर सकते थे तो उसका परीक्षण और आलोचन के कार्य की तो आशा भी कहाँ !

किन्तु 'जैनं जयति शासनम्' इस न्याय से १७ वीं शताब्दी के शृङ्गार श्रीमद् उपाध्याय यशोविजयजी ने अपने गुरुदेवों के पास जैनदर्शन को सूक्ष्म अभ्यास किया और काशी में जा कर जैनेतर दर्शनों का भी आमूलचूल अध्ययन किया । 'तत्त्वचिन्तामणि' तो उनके लिये मानों बालक्रीडा थी ।

अध्ययन के बाद यशोविजय उपाध्यायजी ने नव्यन्याय की शैली से ही नवीनन्याय के सिद्धान्तों की परीक्षा और समालोचना करना शुरु कर दिया । इतना ही नहीं, जैनदर्शन के प्राचीन सिद्धान्तों में कुछ भी परिवर्तन न करने पर भी नव्यन्याय की शैली से उनका इस ढंग से प्रतिपादन करना शुरु किया जिस को पढ कर आज नव्यन्याय के अनेक विद्वानों का मस्तक झुक जाता है ।

'स्याद्वादरहस्य' भी एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें स्थान स्थान पर चिन्तामणिकार और दीधितिटीकाकार के मतों की समीक्षा करके जैनन्याय के स्याद्वाद सिद्धान्त को नवीनन्याय की शैली से सुप्रतिष्ठित करने का एक अनूठा प्रयास किया गया है । जिज्ञासा होगी कि 'स्याद्वाद किसको कहते हैं ?'

५–स्याद्वाद

जैसे वेदान्तदर्शन का प्रधान अङ्ग **अद्वैतवाद** है, बौद्धदर्शन का प्रधान अङ्ग **क्षणिकवाद** है वैसे ही जैनदर्शन का प्रधान अङ्ग है **स्याद्वाद** ।

जगत् में एक जटील प्रश्न हर विचारकों के सामने उपस्थित होता है कि वस्तु का आखरी स्वरूप क्या है ? जैसे जैसे इस प्रश्न पर विचार किया जाता है वैसे वैसे इस प्रश्न की जटीलता कम होने के स्थान में बढती ही रहती है । भिन्न भिन्न विचारकों की मति भी भिन्न भिन्न होती है और सब अपनी अपनी प्रतीति के अनुसार उस प्रश्न का समाधान देने की कोशिश करते हैं । इन समाधानों में से भी फिर अनेक प्रश्नों का जन्म होता है और उनके उत्तर में प्रवृत्त होने पर विचारमणिओं की संख्या भी बढती ही रहती है । कोई ऐसा भी विचारक जन्म लेता है जो इन विचारमणिओं में अपने एक विचार का धागा पिरोकर विचारमणिमाला के रूप में उन विचारों का गठन कर लेता है और इस तरह गठित किया गया विचारसंग्रह भी जगत् में दर्शन के नाम से प्रसिद्ध होता है ।

वस्तु के आखरी स्वरूप पर जैसे भिन्न भिन्न विचारों का आविर्भाव होता है वैसे ही प्राणिगण में बुद्धि में सबसे अग्रणी गिने जाने वाले मनुष्य को अपना जीवन किस ध्येय

की सिद्धि के लिये किस तरह जीना चाहिये यह भी एक अतिजटिल प्रश्न है और उस पर भी विचार करने वाले भिन्न भिन्न समाधान प्रगट करते हैं और उन समाधानों को आचार-शास्त्र के रूप में लोग अपना लेते हैं ।

इस जगत् में विविध दर्शन और आचारशास्त्रों का उद्गम होता है तब सूक्ष्म बुद्धि वाले लोगों के हृदय में यह भी प्रश्न स्थान लेता है कि किस दर्शन को अपनाया जाय और किस आचारशास्त्र के आधार पर जीवन बिताया जाय ? इस प्रश्न का प्रायः सभी दार्शनिकों की ओर से एकमात्र यह समाधान होना चाहिये कि 'जो सर्ववस्तुओं का ज्ञाता हो और सर्व दोषों से मुक्त हो ऐसे पुरुषविशेष से प्रतिपादित दर्शन और आचारशास्त्र को ही अपनाना चाहिये । भिन्न भिन्न दर्शन के शास्त्रों का अभ्यास किया जाय तो यह भी एक प्रश्न खडा होता है कि 'भिन्न भिन्न दर्शनों में एक दूसरे से प्रतिपादित सिद्धान्तरूप विचारों में यदि परस्पर अत्यन्त विरोध देखने में आ रहा है तब किस दर्शन के प्रणेता को सर्वज्ञ मान कर उसके वचन को प्रामाणिक माना जाय ?' इस प्रश्न के उत्तरमें अभिनिवेशरहित विचारक इतना ही कहेंगे कि जिस दर्शनशास्त्र में प्रतिपादित तत्त्व किसी भी प्रमाण से बाधित न होता हो और जिस आचारशास्त्र में बताये गये सकल प्रवर्त्तक और निवर्त्तक विधान उस प्रमाणाऽबाधित तत्त्व से विरुद्ध न हो और परस्पर भी अविरुद्ध हो उसी दर्शन और आचारशास्त्र को सर्वजीव कल्याणसाधक कहा जा सकता है ।

संक्षेप में कह सकते हैं कि "जिस दर्शन में तर्क युक्ति और प्रमाण से अबाधित तत्त्वों (वस्तुस्वरूप) का प्रतिपादन किया गया हो और जिस दर्शन पर आधार रखने वाले आचारशास्त्र में बताये गये विधि निषेध परस्पर अविरुद्ध होने पर सर्वजीवों के कल्याण का साधक युक्तिओं से सिद्ध होता हो वह दर्शन ही कसौटी में उत्तीर्ण और कल्याणसाधना में उपयुक्त होता है ।"

इस भूमिका पर यदि सभी दर्शनों का अध्ययन किया जाय तो मालूम होगा कि कोई जगत् के अस्तित्व का अस्वीकार करता है, तो कोई उसके अस्तित्व का समर्थन करता है । अस्तित्व के समर्थन करने वालों में भी कोई दार्शनिक एक मात्र चेतनातत्त्व की ओर निर्देश करता है और कोइ मात्र जडतत्त्व की ओर निर्देश करता है तो अन्य दार्शनिक जड और चेतन दोनों तत्त्व का स्वीकार करता है । चेतन तत्त्व के स्वीकार करने वाले भी कोई उसके बहुत्व का निषेध करते है तो कोई अनेकता का समर्थन करते है । इन सभी विचारों का गहराई में उतर कर परीक्षण किया जाय तो यह भी मालूम होगा की भिन्न भिन्न प्रवक्ता वस्तु के भिन्न भिन्न स्वरूप में से किसी एक स्वरूप का दर्शन करके उसका प्रतिपादन कर रहा है जब कि सभी दर्शनों के तथ्यांशों को मिलाया जाय तो वस्तु का सही स्वरूप समझ में आ सकता है ।

'कर्मसिद्धान्त इत्यादि सिद्धान्तों का अतिविस्तार से और रहस्यपूर्ण विवेचन केवल जैन दर्शन में ही उपलब्ध है और युक्ति--तर्क से आज भी अबाधित रहा है' इस सत्य के आधार पर जैनदर्शन के प्रतिपादन करने वाले श्री तीर्थंकरदेवों में उनके अनुयायियों को यह अटूट श्रद्धा है कि वे अवश्य सर्वज्ञ थे और राग-द्वेष से पर थे। उनसे प्रतिपादित सिद्धान्तों के संग्रह करने वाले आगमशास्त्रों का अवगाहन किया जाय तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि इस दर्शन में वस्तु के किसी एक मात्र धर्म (स्वरूप) की ओर अंगुलीनिर्देश नहीं किया जाता है किन्तु उसमें सम्भवित सभी धर्मों का स्वीकार किया जाता है चाहे उसमें परस्पर विरोध का आभास भी क्यों न हो रहा हो ! जैनदर्शन का यह सनातन प्रघोष रहा है कि सकल वस्तुसमूह अनन्तधर्मात्मक है—अनेकान्तात्मक है—उसमें से किसी एक अभिप्रेत धर्म का ही प्रतिपादन करने में अपूर्णता है । हाँ उस अभिप्रेत धर्म का प्रतिपादन करते समय दूसरे अनन्त धर्मों का अपलाप न किया जाय और उस धर्म के प्रतिपादन करने में अपना क्या उचित अभिप्राय या अपेक्षा है यह व्यक्त किया जाय तो उस एक धर्म के प्रतिपादन को भी समीचीन कहा जा सकता है । वास्तव में वस्तुगत अनन्तधर्मों का प्रतिपादन करने लगे तो समय का शायद अन्त होगा लेकिन उसका अन्त न होगा तथा अनेक पदार्थ भी ऐसे होते हैं जिसको जानते हुए भी हम उसके स्वरूप को शब्द से नहीं बता सकते इस लिये सर्वज्ञ—तीर्थंकरो ने सकल पदार्थ को जानते हुये भी उन सभी का अभिलाप अशक्य होने के कारण कतिपय भावों का ही स्वरूप बताया किन्तु खास उपदेश यह दिया गया कि जिस पदार्थ में आज हमें किसी एक अनित्य धर्म का दर्शन हो रहा है वह पदार्थ ही अपने आप में अनित्य होने पर भी नित्य है चूँकि उसकी दृश्यमान अवस्था केवल अल्पकालीन है किन्तु उस अवस्था का आधारभूत पदार्थ जो की दूसरे क्षण में अवस्थान्तर को प्राप्त कर लेता है वह तो स्थायी रहने से नित्य माना जा सकता है—जैसे कि १० ग्राम भार वाले सुवर्ण गोलक में से एक लम्बा तार खींचा जाता है तब वहाँ गोलकावस्था निवृत्त होती है और लम्बायमानावस्था जन्म लेती है किन्तु दोनों में १० ग्राम सुवर्ण तो वही रहता है । इस तरह सत्त्व—असत्त्व नित्यत्व—अनित्यव भेदाभेद आदि अनेक धर्मयुगल ऐसे होते हैं जिसमें आपाततः विरोध भास रहा हो फिर भी एक पदार्थ में उसका अस्तित्व भी देखने में आ रहा हो ।

वस्तुगत अनन्त धर्मों में से प्रत्येक का प्रतिपादन अशक्य होने के कारण तथा किसी एक काल में किसी एक वस्तु में कोई एक धर्म अथवा धर्मसमूह का ही प्रतिपादन शक्य होने के कारण उस धर्म के प्रतिपादन के समय वक्ता को उस वस्तु में उस धर्म को संगत करने वाला अपना अभिप्राय या अपेक्षा को स्पष्ट करने की आवश्यकता रहती है ।

इस तरह सम्यक् अपेक्षाओं के स्पष्टीकरण द्वारा वस्तुगत वास्तविक धर्मों के प्रतिपादन का ही दूसरा नाम है **स्याद्वाद** ।

स्याद्वाद का सरल अर्थ यह है कि सम्यक् अपेक्षा से वस्तु का बोध अथवा प्रतिपादन । जब तर्क युक्ति और प्रमाणों की सहाय से समुचित अपेक्षा को लक्ष में रख कर वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन किया जाता है तब उनमें किसी भी प्रकार के विरोध को अवकाश नहीं रहता । क्योंकि जिस अपेक्षा से प्रवक्ता किसी धर्म का किसी वस्तु में निदर्शन कर रहा हो यदि उस अपेक्षा से वस्तु में उस धर्म की सत्ता प्रमाणादि से अबाध्य है तो उसको स्वीकारने में अपेक्षावादीओं को कोई हिचक का अनुभव नहीं होता ।

सर्वज्ञ-तीर्थंकरों के उपदेशों में से प्रतिफलित होने वाले जैनदर्शन के सिद्धान्तों की यदि परीक्षा की जाय तो सर्वत्र इस स्याद्वाद का दर्शन होगा । स्पष्ट है कि स्याद्वाद ही जैन दर्शन की महान बुनियाद है । सभी सिद्धान्तों की समीचीनता का ज्ञान कराने वाला स्याद्वाद है जिसमें सकल समीचीन सिद्धान्तों को अपने अपने सुयोग्य स्थान में प्रतिष्ठा की जाती है ।

संक्षेप में कहें तो प्रमाण से अबाधित सकल सिद्धान्तों का मनोहर संकलन ही स्याद्वाद है । अप्रामाणिक सिद्धान्तों का समन्वय करना स्याद्वाद का कार्य नहीं है ।

इस महान् स्याद्वाद सिद्धान्त का प्रतिपादन जैन आगमों में मिलता है तथा उसके बाद रचे जाने वाले निर्युक्ति ग्रन्थों में भी उसका प्रतिपादन है । उसके आधार पर दिवाकर सिद्धसेनसूरिजी हरिभद्रसूरिजी—देवसूरिजी आदि अनेक जैनाचार्यों ने स्याद्वाद के सिद्धान्त को अपने अपने सम्मतितर्क—अनेकान्तजयपताका—स्याद्वादरत्नाकर आदि ग्रन्थों में पल्लवित किया जिसमें स्याद्वाद सिद्धान्त की यथार्थता की उद्घोषणा की गई और उसमें परवादीओं द्वारा दिये गये दूषणों का परिहार भी किया गया । पुनः नव्यन्याय की शैली से स्याद्वादी अभिमत भेदाभेदवाद आदि पर अनेक दूषण लगाये गये जिसका परिहार करके नव्यन्याय की शैली से ही स्याद्वादसिद्धान्त की पुनः प्रतिष्ठा करने का महत्त्वपूर्ण कार्य श्री यशोविजय महाराज ने "स्याद्वादरहस्य" आदि ग्रन्थों द्वारा पूर्ण किया ।

६–'स्याद्वादरहस्य' का वक्तव्य

वीतराग स्तोत्र के अष्टम प्रकाश के आधार पर श्री यशोविजय महाराज ने स्याद्वादरहस्य में एकान्तवादीओं की मान्यताओं का खण्डन करके भगवान् ने जिस तरह सप्तभङ्गी के द्वारा स्याद्वादसिद्धान्त का उपदेश दिया है उसका सयुक्तिक समर्थन किया है । बौद्धादि दार्शनिक जो कि प्रकटरूप से स्याद्वाद सिद्धान्त का स्वीकार नहीं करते हैं वे भी अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के लिये किस तरह स्याद्वाद का ही गुप्त आश्रय लेते है वह भी दृष्टान्तों के साथ बताया गया है ।

इस तरह (१) एकान्तवादी मतों का खण्डन, (२) स्याद्वाद सिद्धान्त के स्वरूप का प्रतिपादन और (३) अन्य दार्शनिकों के अभिप्रेत सिद्धान्तों से भी स्याद्वाद का समर्थन ये तीन कार्य स्याद्वादरहस्य का प्रधान अभिधेय रहा है जो कि मूल श्लोक में भी है।

इन मुख्य तीन कार्यों के अतिरिक्त दूसरे अनेक वादों का इस (मध्यमस्याद्वादरहस्य) ग्रन्थ में संग्रह किया गया हैं जिसमें सब से प्रथम एकान्तवादी और अनेकान्तवादी के बीच में विप्रतिपत्ति का आकार कैसा होना चाहिये उसका निरूपण हैं। विप्रतिपत्ति के आकार का समर्थन करने के बाद प्रथम श्लोक के विवेचन में (१) नय और प्रमाण के आधार से ध्वंस का स्वरूप (२) भेदाभेद पर विवरण (३) समवायनिराकरण (४) चक्षु की अप्राप्यकारिता की सिद्धि (५) पुनः भेदाभेदनिरूपण (६) भेद और पृथक्त्व के स्वरूप का विचार (७) सांख्याभिमतसत्कार्यवाद का खण्डन (८) जैनमत से सदसत्कार्यवाद की स्थापना (९) क्षणिकवाद का खंडन—इन ९ विषयों पर चर्चा की गई है।

द्वितीय श्लोक के अवतरण में आशंका के रूप में आत्मा की अनित्यता में बाधकों की उपस्थिति कर के ज्ञानादि गुणों से आत्मा के अभेद में भी बाधकों का उपस्थान किया है। फिर उस शंका के उत्तर में द्वितीय श्लोक के विवरण में (१) भोगपदार्थ विवेचन (२) आत्मा की एकान्तनित्यता का खण्डन और (३) एकान्त अनित्यता के खंडन की युक्तियाँ बताई गई हैं।

तृतीय श्लोक के विवरण में एकान्तनित्य और एकान्तअनित्यवादी के मत में पुण्य पाप की असंगति बताई गई है। उसमें (१) अदृष्ट की सिद्धि (२) अदृष्ट के पौद्गलिकत्व तथा आत्मपरिणामरूपत्व की सिद्धि (३) अमूर्त्त से मूर्त्त का सम्बन्ध और उसका विभाव परिणाम-आदि पर पर्याप्त विवरण किया गया है।

चतुर्थ श्लोक में एकान्तनित्यवादी और एकान्तअनित्यवादी के मत में अर्थक्रिया कारित्व की अनुपपत्ति का निरूपण हैं जिसमें अर्थक्रिया के स्वरूप का विवेचन तथा स्वभाव पर विवरण किया है।

पंचम श्लोक में वस्तु॰ का नित्यानित्यत्वादिरूप निर्दोषस्वभाव भगवान् ने किस तरह बताया है वह दर्शाने के लिये (१) सप्तभङ्गी का विस्तार से निरूपण (२) सप्तभङ्गी के स्वभाव-द्वैविध्य का निरूपण (४) 'सकृदुच्चरित'० न्याय के अर्थ का निरूपण किया गया है। प्रसंग से विस्तार से (१) तमोद्रव्यत्ववाद (२) इश्वरकर्तृत्वखंडन और (३) सर्वज्ञसिद्धि का प्रतिपादन किया है।

षष्ठ श्लोक सरल होने से उसके पर कुछ भी विवेचन किया नहीं है—इस श्लोक में गुड और सूण्ठ के संयोजन के दृष्टान्त से स्याद्वाद की निर्दोषता बताई गई हैं।

सप्तमश्लोक का विवेचन महत्त्वपूर्ण है। प्रथम इस श्लोक का अन्वय किस तरह लगाना उसके पर विवेचन दिया हैं। तदनन्तर सत्त्वाऽसत्त्व, नित्याऽनित्यत्व, भेदाऽभेद, सामान्य विशेष-अभिलाप्याऽनभिलाप्यादि परस्पर विरुद्ध प्रतीयमानधर्मों का सामानाधिकरण्य जिन युक्तियों से सिद्ध होता है उन का प्रतिपादन किया है।

८ वे श्लोक में बौद्धमत से अनेकान्तवाद का समर्थन बताया है।

९ वे श्लोक में विस्तार से चित्ररूप पर विवेचन किया गया है। चित्ररूप को एकानेक मानने वाले दार्शनिकों के मत से स्याद्वाद का समर्थन किया है। अभिन्न पदार्थों में भी धर्म-धर्मी भाव का समर्थन किया हैं। शास्त्रप्रसिद्ध उपसर्जनत्व पदार्थ का स्फुटीकरण किया है। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को न मानने वाले बौद्ध पक्ष का भी खंडन किया गया है।

१० वे श्लोक में सांख्यमत से अनेकान्तवाद का समर्थन किया गया है

११ वे श्लोक में अनेकान्तवाद में चार्वाक की सम्मति की अनावश्यकता का प्रतिपादन किया गया है। बाद में चार्वाकमत का पूर्वपक्ष और विस्तार से उसका खंडन भी किया गया है, शब्द की पौद्गलिकता का विस्तार से समर्थन किया गया है, शब्द नित्यानित्यत्व का विस्तार से विचार किया गया है, आत्मा की सिद्धि करके उसके विशेषस्वरूप का प्रतिपादन प्रमाणनयतत्वालोक के 'चैतन्यस्वरूपः ....[७–५६]' इस सूत्र के आधार पर किया गया है जिसमें ज्ञानाज्ञानात्मकस्वभाववादी भट्टमत का निराकरण किया हैं, आत्मा के देह-परिमाणवत्ता की सिद्धि ८१ श्लोकों में की है। एकात्मवाद का खंडन किया गया है। प्रसंग से कारणता के निरूपण में पांच अन्यथा सिद्धिओं का निरूपण किया गया है, जिसमें चतुर्थ अन्यथासिद्धि के निरूपण में ही मध्यम स्याद्वादरहस्य अपूर्ण रह गया है।

लघु स्याद्वाद० में १२ वे श्लोक पर भी विवेचन किया है जिसमें बुद्धिमान पुरुषों के लिये वीतराग सर्वज्ञ भगवन्त प्रतिपादित दुग्ध दहीं और घृत-तीनों में अनुगत गोरस के समान उत्पाद-व्यय स्थैर्य से मिश्रित ही वस्तु स्वीकारने योग्य बताई गई है।

बृहत्स्याद्वाद० में केवल तीन श्लोक का ही सम्पूर्ण विवेचन पाया जाता है, चतुर्थ श्लोक का विवरण अपूर्ण ही उपलब्ध हो रहा है फिर भी प्रथम तीन श्लोकों का जितना विवरण मध्यमस्याद्वाद० में मिलता है उससे भी विशद विवरण उन विषयों का इस बृहत्स्याद्वाद० में पाया जाता है। इसमें मध्यम की अपेक्षा (१) प्रतियोगिता विचार (२) न्यायमत से अन्योन्याभाव की अव्याप्यवृत्तिता का विचार तथा (३) जैनमत से अन्योन्याभाव की अव्याप्यवृत्तिता का विचार (४) वैशिष्ट्यवाद (५) प्रागभाव पर विमर्श इत्यादि अधिक विवेचन भी पाया जाता है।

सभी विषयों के जिज्ञासु अनुक्रमणिका से अधिक परिचय प्राप्त कर सकेंगे और नवीन न्याय की शैली से इन सभी विषयों का प्रतिपादन पूज्य श्रीमान् उपाध्यायजी ने किस तरह किया हैं इस जिज्ञासा को तृप्त करने के लिये तो पाठकों को इस ग्रन्थ का ही अभ्यास करना आवश्यक रहेगा।

बृहत्स्याद्वादरहस्य यदि सम्पूर्ण उपलब्ध होता तो जैनन्याय की शोभा अत्यन्त बढ जाती किन्तु दुर्भाग्य से जिस तरह उपाध्यायजी के अन्य ग्रन्थ अनुपलब्ध अपूर्णोपलब्ध हो रहे हैं उस तरह यह ग्रन्थ भी सम्पूर्ण उपलब्ध न हुआ किन्तु मध्यमस्याद्वादरहस्य बहुधा पूर्ण मिला है यह भी कम आनन्द की बात नहीं है।

जैसे जैसे इस ग्रन्थ का अभ्यास विद्वद्वर्ग में होता जायगा—हमारी यह श्रद्धा है कि जैन दर्शन के प्रति पाठक की श्रद्धा में ज्वार (भरती) आती ही रहेगी। विद्वान् जैन मुनिवर्य के लिये स्वाध्याय का एक उत्तम आलम्बन सदा के लिये बना रहेगा। यद्यपि इस ग्रन्थ के अभ्यास के लिये विवेचन की आवश्यकता जरूर अभ्यासिओं को महसूस होगी किन्तु आशा है कि एक बार उसके मूलरूप में प्रकाशन हो रहा है तो उससे प्रेरणा पाकर कोई विद्वान् मुनिरत्न सविवेचन प्रकाशन के लिये भी उद्यत होंगे।

उपकारस्मरणः—

इस ग्रन्थ के सम्पादन में इन महापुरुषों का अचिन्त्य उपकार अवश्य स्मरणीय हैं—

(१)—सिद्धान्तमहोदधि—कर्मसाहित्यनिपुणमति—वात्सल्यक्षीरोदधि—परमपूज्य—आचार्य देवेश श्रीमद् विजय **प्रेमसूरीश्वर**जी महाराजा जिनकी अनहद कृपा हमें संयम और सम्यग्ज्ञान आदि सद्योगों की उपासना-आराधना में सतत उत्साहित कर रही है।

(२)—न्यायविशारद वर्धमानतपोनिधि उग्रविहारी परमगुरु आचार्यदेवश्रीविजय**भुवन भानुसूरीश्वरजी** महाराज, जिन्होंने अज्ञान अटवी में गुमराह हमारी आत्मा के ज्ञान नेत्र को विमलाञ्जन लगाकर सन्मार्गदर्शन कराया तथा अमूल्य संयमरत्न का दान दिया।

(३)—प. पू. शान्तमूर्त्ति मुनिभगवन्त प्रगुरुदेव श्री **धर्मघोषविजय** महाराज और सद्-गुरुदेव प्रशान्तमुद्र गीतार्थ मुनिभगवन्त श्री **जयघोषविजय** महाराज, जिनकी पुनित निश्रामें हमारे संयमदेह की पुष्टि और जिनके अविरत सान्निध्य में इस ग्रन्थ का सम्पादन हुआ।

इन सद्गुरुओं की महती कृपा से इस ग्रन्थ के सम्पादन के द्वारा जिस पुण्य का अर्जन हुआ उससे विश्व के सकल जीव स्याद्वादरुचि तथा कदाग्रहविषमुक्त बने यह एक शुभेच्छा।

—जयसुन्दरविजय

अहमदाबाद

लघु.स्या.रहस्ये विषयानुक्रमः

क्रमाङ्कः विषयः	पृष्ठाङ्कः	क्रमाङ्कः विषय	पृष्ठाङ्कः
१ मङ्गलम्	१	२४ तौतातिकैकदेशीमतम्	१६
२ वीतरागस्तोत्राष्टमप्रकाशाद्यश्लोकः	१	२५ तौतातिकमतनिराकरणम्	१७
३ विप्रतिपत्तिप्रदर्शनम्	१	२६ स्वतन्त्रमतोपदर्शनम्	१८
४ कृतनाशदोषघटना	१	२७ षष्ठ-सप्तमश्लोकौ	१९
५ मणिकारमतदूषणम्	२	२८ सत्त्वाऽसत्त्वाविरोधोपदर्शनम्	१९
६ तद्भावाव्ययत्वाशंकोद्धारः	२	२९ सामान्य-विशेषविरोधपरिहारः	२०
७ अकृतागमदोषघटना	२	३० अभिलाप्यत्वाऽनभिलाप्यत्वविरोधपरिहारः	२१
८ समवायनिरसनम्	३	३१ दिगम्बरमतोपदर्शनम्	२१
९ भेदाभेदस्थापनम्	३	३२ अष्टमश्लोकव्याख्या	२२
१० दिगम्बरमतनिरूपणम्	४	३३ नवमश्लोकव्याख्या	२२
११ पृथक्त्वपदार्थनिरूपणम्	४	३४ चित्ररूपमतविविधता	२२
१२ ऋजुमतोपदर्शनम्	५	३५ अव्याप्यवृत्तिनानारूपवादिमतम्	२४
१३ सांख्यसत्कार्यवादः	५	३६ दशमश्लोके कपिलमतसम्मतिः	२६
१४ सांख्यमतनिराकरणम्	६	३७ एकादशश्लोकव्याख्या	२७
१५ एकान्तनित्यवाददूषणम्	७	३८ नास्तिकपूर्वपक्षः	२७
१६ द्वितीयश्लोकावतरणिका	८	३९ नास्तिकमतनिराकरणम्	२८
१७ भोगपदार्थनिरूपणम्	९	४० नव्यनास्तिकमतखण्डनम्	२९
१८ आत्मनित्यत्वदूषणम्	९	४१ द्वादशश्लोके वस्तुस्वरूपम्	३१
१९ तृतीयचतुर्थमूलश्लोकौ	१०	४२ उपसंहारः	३२
२० अदृष्टसिद्धिः	११	४३ ग्रन्थकारप्रशस्तिः	३२–३३
२१ पञ्चममूलश्लोकः	१२	४४ परिशिष्ट १. मूलश्लोकाः	३४
२२ सप्तभङ्गीनिरूपणम्	१३	४५ परिशिष्ट २. विशेषनामानि	३५
२३ अन्धकारद्रव्यत्ववादः	१४	४६ परिशिष्ट ३. उद्धरणानि	३५

मध्यमस्या०र०विषयानुक्रमः

१ मङ्गलम्	१	४ आत्मनः एकान्तनित्यत्वाशङ्का	३
२ विप्रतिपत्तिप्रदर्शनम्	१	५ एकान्तनित्यत्वेऽकृतागमदोषः	४
३ नयप्रमाणाभ्यां ध्वंसविचारः	२		

क्रमाङ्कः	विषयः	पृष्ठाङ्कः
६	कथञ्चिद्भेदाभेदे दूषणनिराकरणम्	४
७	समवायसिद्धिः तन्निराकरणं च	५
८	चक्षुरप्राप्यकारितावादः	५
९	नानासमवायवादिनव्यनैयायिकमतसमीक्षा	७
१०	भेद-पृथक्त्वयोः स्वरूपम्	९
११	ऋजुमते भेदाऽभेदाविरोधनिरूपणम्	१०
१२	सांख्यसत्कार्यवादस्थापननिरसने	११
१३	सदसत्कार्यवादस्थापनोद्यमः	१२
१४	क्षणिकवादिबौद्धपूर्वपक्षः	१३
१५	क्षणिकवादनिरसनम्	१४
१६	द्वितीयश्लोकावतरणिका	१५
१७	भोगपदार्थसमीक्षा	१५
१८	आत्मन एकान्तनित्यत्वपक्षदूषणम्	१६
१९	तृतीयश्लोकव्याख्यारम्भः	१७
२०	अदृष्टपौद्गलिकत्वसिद्धिः	१७
२१	मूर्त्तामूर्त्तसंसर्गसम्भावनम्	१८
२२	सिद्धपरमेष्ठिनश्चारित्रसिद्धिः	१८
२३	चतुर्थश्लोकव्याख्यारम्भः	१८
२४	एकान्तवादेऽर्थक्रियाविघटनम्	१९
२५	पञ्चमश्लोकव्याख्यारम्भः	२०
२६	सप्तभङ्गीनिरूपणम्	२०
२७	सप्तभङ्गीस्वभावप्रदर्शनम्	२१
२८	व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावपरामर्शः	२२
२९	स्वद्रव्यादिचतुष्टयेनास्तित्वादिविचारः	२३
३०	सप्तभङ्गीद्वैविध्यम्	२४
३१	'सकृदुच्चरित'०न्यायप्रामाण्यपरीक्षा	२५
३२	तमोद्रव्यत्ववादः	२६
३३	उद्भूतनीलरूप-उद्भूतस्पर्शव्याप्तिखंडनम्	२७
३४	आलोकाभावेन तमोव्यवहारनिर्वाह-निराकरणम्	२८
३५	उलूकादिचाक्षुषेन व्यभिचारप्रदर्शनम्	२९
३६	आलोककारणतायामुच्छृङ्खलमतम्	२९
३७	तामसेन्द्रियकल्पनापनयनम्	३०
३८	आत्मनो ज्ञानस्वभावत्वनिदर्शनम्	३०
३९	प्रकाशकरूपाभावतमोवादिप्रगल्भमत खंडनम्	३१
४०	तमसो द्रव्यत्वे बाधकनिराकरणम्	३२
४१	तमसः पृथिवीत्वापत्तिनिरासः	३३
४२	ईश्वरकर्तृत्वनिराकरणम्	३४
४३	खण्डघटकर्तृत्वेनेश्वरसाधकदीधितिकार-मतखण्डनम्	३६
४४	ईश्वरसाधकधृत्यनुमानापाकरणम्	३७
४५	सर्गादौ व्यवहारप्रयोजकतयेश्वरसिद्धि-निराकरणम्	३७
४६	सर्वज्ञसिद्धौ प्रमाणम्	३८
४७	षष्ठश्लोकः	३८
४८	सप्तमश्लोकः	३८
४९	श्लोकव्याख्यादिग्दर्शनम्	३९
५०	'प्रत्ययानां०' नियमे मानाभावप्रदर्शनम्	३९
५१	सत्त्वाऽसत्त्वविरोधपरिहारः	४०
५२	नैयायिकाभिमतजातिनिराकरणम्	४०
५३	दिगम्बरमते स्वरूपास्तित्वव्याख्या	४१
५४	योगमते सादृश्यव्याख्या	४२
५५	जैनमते सादृश्यनिर्वचनम्	४३
५६	विशेषपदार्थाऽनुपपत्तिः	४४
५७	अभिलाप्यत्वपदार्थसमीक्षा	४४

क्रमाङ्कः	विषयः	पृष्ठाङ्कः
५८	अभिलाप्यत्वनिर्वचनम्	४५
५९	भगवतः शब्दाऽप्रयोक्तृत्ववादि-दिगम्बरमतदूषणम्	४६
६०	सप्तमश्लोकपूर्वार्द्धव्याख्याभेदाः	४६
६१	सामान्यविशेषाऽविरोधप्रदर्शनम्	४७
६२	अष्टमश्लोकव्याख्याने बौद्धमतसम्मतिप्रदर्शनम्	४८
६३	नवमश्लोके योगवैशेषिकसम्मतिप्रदर्शनम्	४८
६४	चित्ररूपे विविधमतप्रदर्शनम्	४८
६५	पृथ्वी-चित्ररूपयोः कार्यकारणभावः	४९
६६	विजातीयचित्ररूपे हेतुत्वविचारः	५०
६७	चित्ररूपस्थले घटनीरूपत्वखंडनम्	५१
६८	चाक्षुषे रूपाभावस्य प्रतिबन्धकता-विचारः	५२
६९	अवच्छेदकतायाः कारणतानियामक-त्वविमर्शः	५२
७०	एकत्र व्याप्यवृत्ति-अव्याप्यवृत्ति-रूपद्वयसमावेशः	५४
७१	अनेकान्तवादेऽप्येकान्तापत्त्याः निराकरणम्	५४
७२	स्वभावभेदाभावेऽपि धर्मधर्मि-भावसमर्थनम्	५४
७३	असत्ख्यातिनिराकरणम्	५५
७४	उपसर्जनत्वनिरुक्तिः	५६
७५	वस्तुनोऽनभिलाप्यतावादिबौद्धपक्षखंडनम्	५७
७६	दशमश्लोके सांख्यमतेनानेकान्तवाद-समर्थनम्	५७
७७	एकादशश्लोके चार्वाकमतावग-णनाऽऽविष्करणम्	५८

विषयः	पृष्ठाङ्कः
७८ नास्तिकमतपूर्वपक्षः	५८
७९ नव्यनास्तिकस्य नवीना युक्तयः	५८
८० देहाभिन्नात्मवादे प्रत्यासत्तिलाघ-वोपदर्शनम्	५८
८१ नास्तिकमतप्रतिकारारम्भे आत्मानुपलब्धिखंडनम्	५९
८२ नव्यनास्तिकयुक्त्यपहरणम्	६०
८३ अनुमितेर्मानसान्तर्भावनिराकरणम्	६१
८४ दिक्कालयोर्निर्वचनम्	६२
८५ शब्दपौद्गलिकत्ववादारम्भः	६४
८६ शब्दाम्बरगुणत्वनिराकरणम्	६५
८७ प्राचीननैयायिकोपदर्शितहेतुपञ्चक-निराकरणम्	६६
८८ शब्दनित्यानित्यत्वचिन्ता	६६
८९ शब्दनित्यतावादिमीमांसकमतम्	६६
९० शब्दक्षणिकतावादिनैयायिकमतम्	६७
९१ शिरोमणिमतमुपन्यस्य खंडनम्	६७
९२ स्याद्वादे शब्दनित्यानित्यत्वसिद्धिः	६८
९३ आत्मसिद्धौ विशेषस्वरूपचिन्ता	६९
९४ आत्मनः ज्ञानस्वभावसमर्थनम्	७०
९५ ज्ञानस्य प्रकृतिगुणभाषकसांख्यमतखण्डनम्	७०
९६ ज्ञानाऽज्ञानोभयस्वभाववादिभट्टमत-निराकरणम्	७०
९७ आत्मनः स्वदेहपरिमाणत्वसाधनम्	७१
९८ प्रतिशरीरभिन्नात्मवादसमर्थनम्	७५
९९ कारणतानिर्वचनम्	७६
१०० आद्यान्यथासिद्धिनिर्वचनम्	७६
१०१ द्वितीयान्यथासिद्धिनिर्वचनम्	७७

विषयः	पृष्ठाङ्कः
१०२ तृतीयचतुर्थाऽन्यथासिद्धिनिरूपणम्	७८
१०३ म० स्या० र० शुद्धिपत्रकम्	८०

बृ० स्या० र० विषयानुक्रमः

विषयः	पृष्ठाङ्कः
१ मङ्गलम्	८१
२ वीतरागस्तोत्राष्टमप्रकाशाद्यश्लोकः	८१
३ विप्रतिपत्तिस्वरूपम्	८१
४ एकान्तनित्यवादे कृतनाशदोषारोपः	८२
५ नयभेदेन ध्वंसस्वरूपम्	८३
६ प्रतियोगिताविचारः	८३
७ दीधितिकार-प्रतियोगितानिरुक्ति-निराकरणम्	८४
८ उदयन-प्रतियोगितानिरुक्तिखंडनम्	८५
९ ध्वंसस्वरूपनिरूपणम्	८५
१० अकृतागमदोषारोपणम्	८६
११ अन्योन्याभावाऽव्याप्यवृत्तिता-व्यवस्थापनं न्यायमतेन	८७
१२ जैनमतेनान्योन्याभावाऽव्याप्य-वृत्तिताऽव्यवस्थापनम्	८९
१३ गुणगुणितादात्म्ये दूषणोद्धारः	९०
१४ चक्षुरप्राप्यकारिताऽव्यवस्थापनम्	९१
१५ महत्त्वोद्भूतरूपयोश्चाक्षुषकारणताविचारः	९२
१६ चक्षुषः तैजसत्वनिराकरणम्	९३
१७ समवायप्रतिषेधः	९४
१८ वैशिष्ट्यवादारम्भः	९५
१९ भेदाभेदवादारम्भः	९६
२० दिगम्बरमते भेदाभेदस्वरूपम्	९७
२१ पृथक्त्वनिर्वचने दीधितिकारादि-मतनिराकरणम्	९८
२२ ऋजुमते भेदाभेदविरोधः	९९
२३ सांख्यसत्कार्यवादपूर्वपक्षः	९९
२४ सांख्यमतनिराकरणम्	१००
२५ सदसत्कार्यवादसिद्धिः	१०१
२६ प्रागभावे मीमांसकमतिः	१०३
२७ प्रागभावस्थानीयानादिभावखंडनम्	१०४
२८ प्रागभावे स्याद्वादिमतम्	१०५
२९ द्रव्यनित्यत्वपूर्वपक्षसंक्षेपः	१०६
३० द्रव्यनित्यत्वनिराकरणम्	१०६
३१ एकान्ताऽनित्यवादनिराकरणम्	१०६
३२ क्षणिकवादिबौद्धपूर्वपक्षः	१०७
३३ क्षणिकवादनिरसनम्	१०७
३४ द्रव्यनाशकारणताविमर्शः	१०८
३५ आद्यश्लोकव्याख्यासमाप्तिः	१०९
३६ आत्मनोनित्यत्वाशङ्का	१०९
३७ आत्मनित्यत्ववादपूर्वपक्षः	११०
३८ द्वितीयश्लोकव्याख्यारम्भः	१११
३९ भोगपदोपादाने पुनरुक्त्याशंका-समाधानम्	१११
४० शक्यानन्यार्थे लक्षणोपपत्तिः	१११
४१ आत्मनित्यत्वे भोगानुपपत्तिः	११२
४२ एकान्तपक्षद्वये दूषणान्तरम्	११३
४३ तृतीयचतुर्थश्लोकद्वयोपक्रमः	११३

४४	नित्यात्मवादे पुण्यपापाव्यवस्था	११३
४५	जैनमतेऽदृष्टस्वरूपम्	११३
४६	सिद्धपरमेष्ठिनश्चारित्रसिद्धिः	११४
४७	चतुर्थश्लोकव्याख्यारम्भः	११५
४८	एकान्तनित्यवादेऽर्थक्रियानुपपत्तिः	११५
४९	सम्पादकीयनिवेदनम्	११५
५०	परिशिष्ट–१–अर्थविशेषा	११६
५१	परिशिष्ट–२–उद्धरणानि	११७
५२	परिशिष्ट–३–न्यायाः	११९
५३	परिशिष्ट–४–विशेषनामानि	११९
५४	परिशिष्ट–५–ग्रन्थनामानि	१२०
५५	संकेतस्पष्टीकरणम्	१२०

यत्र सर्वनयालम्बिविचारप्रबलाग्निना ।
तात्पर्यश्यामिका न स्यात्तच्छास्त्रं तापशुद्धिमत् ॥

—अध्यात्मसार–१।२९ —उपाध्याययशोविजय

श्री शंखेश्वरपार्श्वनाथाय नमः ।

श्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वरेभ्यो नमः ।

श्रीमद्विजयभुवनभानुसूरीश्वरेभ्यो नमः ।

महोपाध्याय–न्यायाचार्य–श्रीमद्–यशोविजय-प्रकाशितम्

❋ (लघु) स्याद्वादरहस्यम् ❋

ऐँकारस्फारमन्त्रस्मरणकरणतो याः प्रसर्पन्ति वाचः,
स्वच्छास्ताः कर्तुमिच्छुः सकलसुखकरं पार्श्वनाथं प्रणम्य ।
वाचाटानां परेषां प्रलपितरचनोन्मूलने बद्धकक्षो,
वार्चां श्रीहेमसूरेर्विवृतिमतिरसोल्लासभाजां तनोमि ॥१॥

अभ्यस्य तर्के **स्याद्वादरहस्यं** शस्ययुक्तिकम् ।
निरस्तदुर्नयं मार्गप्रवेशाय निबध्यते ॥ २ ॥

इह हि निखिलकुवादिकुतर्कसन्तमसच्छन्नं जगतः शुद्धनयलोचनमुन्मिमीलयिषवः **श्रीहेमसूरयो** यथावस्थितार्थव्यवस्थापनद्वारा भगवंतं स्तोतुमुपक्रमंते "**सत्त्वस्ये**" ति ।

(मूल–वीतराग स्तोत्र-प्र० ८)

सत्त्वस्यैकान्तनित्यत्वे कृतनाशाऽकृतागमौ ।
स्यातामेकान्तनाशेऽपि कृतनाशाऽकृतागमौ ॥१॥

अत्र सत्त्वमेकान्तनित्यं नवेति न विप्रतिपत्तिः, एकान्तनित्यत्वकोट्यप्रसिद्धेः । किन्तु नित्यत्वमनित्यवृत्ति न वा, अनित्यत्वं नित्यवृत्ति नवेत्यादिरूपा । न चैवमपि तद्भावाऽव्ययत्वरूपं नित्यत्वं परमतेऽप्रसिद्धम्, नित्यव्यवहारविषयत्वेनैव तस्योपन्यासात् ।

सत्त्वस्य=पदार्थत्वेनोभयमतसंप्रतिपन्नस्य । उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकस्येति व्याख्यानं तु स्वमतावष्टम्भेन शोभते, परमते धर्मितावच्छेदकाऽनिश्चयात् । **एकान्तनित्यत्वे**=अनित्यत्वाऽसम्भिन्ननित्यत्वे । **कृतनाशो**–घटादिपर्यायाणां कुम्भकारादिकृतानां सर्वथा नाशः स्यात्, अनित्यस्य नित्यत्वविरोधात् । एतच्च प्रत्यक्षविरुद्धं, पर्यायाणामपि द्रव्यार्थतोऽनाशात् । अयं दंड्यासीदितिवदिदं मृद्द्रव्यं घट आसीदिति प्रतीतेरेकस्यैवातीतविद्यमानत्वभानात्, रूपभेदेनैवोभयधर्मसमावेशसंभवात् । न हि कम्बुग्रीवत्वादिनेव मृत्त्वेनाऽपि घटो नष्ट इति कश्चित्प्रत्येति,

प्रत्युत पूर्वमयमेव मृत्पिण्डः (तत्) कम्बुग्रीवत्वादिनासीदिति सर्वोऽपि प्रत्यभिजानीते। न चेयं विशेषणाभावमेव विषयीकुरुते विशेष्ये नञर्थाऽन्वये बाधकाऽभावात्, प्रतीतिप्रातिल्याच्च।

यत्तु यदि ह्यतीतविशेषणावच्छेदेन विद्यमानस्यैव विशेष्यस्य ध्वंसः स्यात् तदा क्षणरूपातीतविशेषणावच्छिन्नत्वेन प्रतिक्षणं घटस्य विनाशः स्यादित्यभिदधे **मणिकृता, तत्तु** तादृशक्षणभंगस्य दोषानवहत्वात् तदीयैरेव **दुषिनम्**। **कश्चित्तु** संसर्गावच्छिन्नकिञ्चिद्धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्याऽभावस्याऽत्यंताभावत्वनियमान्न प्रागुक्तप्रतीतेर्विशेषणावच्छिन्नविशेष्याऽभावविषयत्वमिति, **तत्तुच्छं**, घटत्वस्य ध्वंसप्रतियोगिताऽतिरिक्तवृत्तित्वेऽपि प्रागुक्तविशेषणस्याऽतथात्वात्, यदुत्पत्तौ कार्यस्याऽवश्यं विपत्तिस्तस्य प्रध्वंसत्वाऽभ्युपगमाच्च। **नन्वत्र** विपत्तिपदार्थाऽपरिचयो, विभागादेः संयोगादिनाशताऽऽपत्तिश्चेति **चेत्**? **न**, प्रतियोग्युत्तरकालीनाऽभावत्वादौ तात्पर्यात्, उत्तरत्रेष्टापत्तेश्च।

स्यादेतत्–घटत्वेन घटध्वंसस्येवाऽऽत्मत्वादिनाऽऽत्मादेर्ध्वंसाऽभावादात्मादेरेकान्तनित्यत्वं स्यादिति। **मैवं**, ध्वंसप्रतियोगित्वे सति ध्वंसाऽप्रतियोगित्वेनैवैकान्तत्वापायात्। इयांस्तु विशेषो–यदात्मत्वेनाऽऽत्मनो नित्यत्वं तद्भावाऽव्ययत्वात्, घटत्वेन घटस्य तु नेति। **ननु** तद्भावेन व्ययश्चेत् प्रसिद्धः तदा तदभाव(त्व)रूपं नित्यत्वमात्मत्वादिनाऽऽत्मादौ सम्भवेत्, स एव तु गगनारविन्दसोदर इति **चेत्**? **न**, ध्वंसप्रतियोगितानवच्छेद(क)रूपवत्त्वस्यैव तदर्थत्वात्। **न चैवं** कम्बुग्रीवादिमत्त्वेन घटस्य नित्यत्वं स्यादिति **वाच्यम्**, गुरुधर्मस्यापि प्रतीतिबलेनाऽवच्छेदकत्वस्वीकारात्। ध्वंसप्रतियोगिताऽवच्छेदकं यद्धर्मवन्निष्ठाऽ[1]त्यंताऽभावप्रतियोगितानवच्छेदकं तदन्यधर्मवत्त्वस्य वा तदर्थत्वात्। **अथ** कपालनाशादेः कपालादिसमवेतनाशं प्रति कारणत्वात् घटत्वेन घटध्वंस आकस्मिक इति **चेत्**? **न**, कारणत्वपर्यायाणां प्रतीतिबलेन विशिष्य विश्रान्तानामेव कल्पनादिति **दिक्**।

अथाऽकृतागमः–पर्यायाणामपि नित्यानामेव सतामागन्तुकत्वादन्यथा पर्यायवतोऽप्यनित्यत्वाऽऽपत्तौ नित्यत्वपक्षहानेः। **अथ** घटत्वादेरेव कपालादिजन्यताऽवच्छेदकत्वात्, घटत्वस्य च कपालाद्यवृत्तित्वान्नाऽयं दोष इति **चेत्**? **न**, कपालं घटीभूतमिति प्रतीत्या तयोः स्यादभेदसिद्धेः।

अत्र किञ्चिद्विचार्यते–**नन्वेवं** कपालघटयोर्जन्यजनकभावो न स्यात्, अभेदे तदसम्भवात्। **न च** कथञ्चिद्भेदोऽप्यभ्युपगम्यत इति **वाच्यम्**, अवच्छेदकभेदं विनैकत्र भेदाभेदयोर्विरोधात्। तदुक्तं **मणिकृता**–तस्यैव तत्राभावोऽवच्छेदकभेदेन वर्त्तते. ज्ञायते च यथा संयोगाऽभावः, श्यामावच्छिन्नस्य तस्यैवाऽन्योन्याऽभावः तत्रैव रक्ताऽवच्छिन्ने,

१ 'न्योन्याऽ' इति संगच्छतेऽत्र।

तदन्योन्याभावश्च श्यामावच्छेदेन । तदिहापि नीलस्याऽन्योन्याभावो घटत्वावच्छेदेनेति नीलात्घटस्य भेदोऽस्तु, अभेदस्तु नीलान्योन्याभावाऽभावरूपो घटे न, घटत्वावच्छेदेनैव विरोधात्, एकावच्छेदेन भावाऽभावयोरेकत्राऽवृत्तेरज्ञानाच्च । नाप्यवच्छेदकान्तरेण घटत्वावच्छिन्ने घटे तदभावः, तदज्ञानेऽपि नीलो घट इत्यनुभवाच्चेति **चेत्** ? **अत्र वदन्ति**—न हि भेदाऽभेदो भेदविशिष्टाऽभेदो, अभेदविशिष्टभेदस्यापि सम्बन्धत्वे विनिगमकाभावात्, किन्तु जात्यन्तररूप एव गुणगुण्यादिविशिष्टप्रतीतिनियामकत्वेन सिद्ध इति क्वावच्छेदकभेदानुपलब्धिबाधः ? एकान्तभेदेऽवयवेष्ववयवी किं भेदेन समवेयात्कार्त्स्न्येन वा ? नाऽऽद्योऽवयवातिरिक्तस्य तद्देशस्याऽभावात् । न द्वितीयः प्रत्यवयवसमवेतावयविबहुत्वप्रसङ्गात् ।

अथ समवाय एव प्रागुक्तप्रतीतिनियामकत्वेन कल्प्यतामिति **चेत्** ? न तस्यैकत्वेऽतिप्रसङ्गात्, नानात्वे चैतस्यैव नामान्तरकरणात्, अतिरिक्तकल्पनायां गौरवात् । **एतेन** "समवायसम्बन्धेन जन्यभावत्वावच्छिन्नं प्रति संयोगत्वावच्छिन्नं प्रति वा द्रव्यस्य कारणत्वेन समवायसिद्धिः" **इत्यपास्तम्**, लाघवात्भेदाभेदसम्बन्धेन परिणामत्वावच्छिन्नं प्रति परिणामिनस्तत्त्वकल्पनाया एवोचितत्वात् । भेदाभेदस्य जातित्वेऽपि सम्बन्धत्वं प्रतीतिबलादेवाऽविरुद्धम् । **ननु** 'नीलोत्पलं, प्रमेयाऽभिधेयमि'त्यादौ कर्मधारयेऽभेदस्यैव संसर्गतया प्रदर्शनान्नाऽभेदातिरिक्तभेदाभेदसिद्धिरिति **चेत्** ?, **न**, कथंचित्तस्य तदनतिरेकात् । इयांस्तु विशेषो यद् धर्म-धर्मिभावाऽपेक्षया द्वयोर्भेदाऽभेदः, प्रतिस्वं प्रातिस्विकरुपेण केवलाऽभेदो, गोत्वाश्वत्वादिना तु केवलभेद इति । न चैवमेकान्ताऽनुप्रवेशोऽभेदसम्भिन्नभेदवत्त्वेनैव तदपायात् ।

इत्थञ्चैतदवश्यमङ्गीकर्त्तव्यम्, कथमन्यथा स्याद्भिन्नं स्यादभिन्नमित्यत्र स्यात्पदं नाऽनतिप्रयोजनमिति **ध्येयम्** । **अथ** भेदाऽभेदस्याऽभेदत्वे कपाले घट इत्यादावाधाराऽऽधेयभावप्रतीतिर्न स्यादिति **चेत्** ? **न**, भेदाभेदत्वेन तस्य वृत्तिनियामकत्वात् । घटाभावे घटो नास्तीत्यादावपि घटाभावत्वेन धर्म-धर्मिभावविवक्षयैव निस्तार इति तत्त्वम् । **वस्तुतः** तत्तत्प्रतीतिमनुस्मृत्य तत्तत्प्रतियोगिकत्वविशिष्टतत्तत्सम्बन्धस्याऽऽधारतात्वं कल्प्यते, तेन रूपरसयोर्भेदाभेदसम्भवेऽप्याधाराऽऽधेयभावाऽभावेऽपि न क्षतिरिति **ध्येयम्** ।

नन्वेवमपि भवतु भगवान् भेदाभेदो जात्यंतररूपः, तथाप्यसावेकत्राऽन्योन्याभावतदभावप्रतीतिव्यंग्यः, तयोश्चैकत्रावच्छेदकभेदं विना प्रतीत्यनुपपत्तिरित्युक्तमेवेति **चेत्** ? **न**, घटत्वद्रव्यत्वयोरेव तदवच्छेदकयोः सम्भवात् । यदवदाम स्तुतौ [1]"**एकत्रे**"ति ।

---

१ एकत्र वृत्तौ हि विरोधभाजोर्येषामवच्छेदकभेदयाञ्चा । द्रव्यत्वपर्यायतयोर्विभेदं विजानतां सा कथमस्तु वस्तु ॥ इति मध्यमस्याद्वादरहस्ये ।

कश्चित्तु भेदोऽन्योन्याभावोऽभेदस्तु धर्मान्तरमित्यभ्युपैति । अत्र तादृशाभेदस्य व्यवहारानौपयिकत्वं यदाविश्चक्रे **मणिकृता,** तत्तुच्छम्, प्रमेयमभिधेयमित्यादौ तस्यैव शरणीकरणीयत्वात् ।

दिगम्बरमतानुयायिनस्तु–भेदाभेदो भेदविशिष्टाऽभेद एव, सम्बन्धता तु तयोरुभयत्वेन रूपेण । न चोभयत्वमपि एकविशिष्टापरत्वमिति विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहः, अविशिष्टयोरपि गोत्वाश्वत्वयोरुभयत्वप्रत्ययात्तस्याऽतिरिक्तधर्मत्वात् । न च भेदाऽभेदयोरेकत्र विरोधः, न हि वयं यत्र यस्य यो भेदः तत्र तस्य तदभावमेव ब्रूमहे किन्त्वन्यमेवेति । तथाहि–भेदो द्विविधः, पृथक्त्वरूपोऽन्योन्याभावरूपश्च । तत्र पृथक्त्वं प्रविभक्तप्रदेशत्वरूपमन्योन्याभावस्त्वतद्भाव इति ।

यत्तु पृथक्त्वमन्योन्याभाव एव इत्यभिदधे **दीधितिकृता, तन्न,** एवं सति घटः पटात्पृथगितिवद्रूपात्पृथगित्यपि प्रमीयेत । यदवोचाम **श्रीपूज्यलेखे**—"'अण्णं घडाउ" त्ति । तथाचान्योन्याभावादपि पृथक्त्वस्य भेदाभेद एवेति तत्त्वम् । नचैवमनवस्था, प्रामाणिकत्वात् । तत्र घटपटादीनां नैतदन्यतराभाव इति केवलभेदः, तेषां भेदत्वावच्छिन्नाऽभावासंवलितत्वात् । प्रतिस्वं प्रातिस्विकरूपेणोभयाभावात्केवलाऽभेदो, अवयवावयव्यादीनां त्वतद्भावसत्त्वेऽपि पार्थक्याभावात् भेदाभेद इति ।

अत्रेदमस्माकमाभाति–प्रविभक्तप्रदेशत्वमित्यत्र बहुव्रीह्याश्रयणे परमाणवः कुतोऽपि न पृथग्भवेयुः । एवं कर्मधारयाश्रयणे देशस्कन्धयोरपि स एव दोषः । स्कन्धाश्रितपरमाणूनामेव प्रदेशत्वसंज्ञया तदनाश्रितपरमाणूनाञ्च कुतोऽपि न पृथक्त्वं घटेत ।

किञ्च—प्रदेशेषु किं प्रविभक्तत्वं ? न तावदन्यत्वं, एकद्रव्यस्यैव प्रदेशानां तादृशत्वात् । नापि पृथक्त्वं, तस्य प्रविभक्तस्कन्धकत्वरूपतयाऽन्योन्याश्रयात् । तथाहि–प्रदेशानां प्रविभक्तत्वसिद्धौ प्रविभक्तप्रदेशत्वरूपं स्कन्धानां पार्थक्यं सिध्यति, सिद्धे च स्कन्धानां प्रविभक्तत्वे प्रविभक्तस्कन्धकत्वरूपं प्रदेशानां पार्थक्यं सिध्यतीति । **अथ** पृथक्त्वं जात्यंतररूपमेवेति **चेत्तर्हि** भेदाभेद एव तादृशः किमिति नास्थीयते ?, धर्मिधर्मोभयभासकसामग्र्या एव तद्भासकत्वेन व्यञ्जकगवेषणविश्रामात् ।

एतेन "पृथक्त्वव्यवहाराऽसाधारणकारणं तदि" त्यप्युपेक्षितम्, कारणतावच्छेदकरूपपरिचयं विना तादृशनिर्वचनाऽसम्भवाच्च । **यत्तु**–'विभिन्नाश्रयाऽऽश्रितत्वमेव पार्थक्यं, विभिन्नाश्चाश्रयाः स्कन्धानां देशा इव देशानां स्कन्धा अपि सम्भवन्ति, तन्तौ पट इति वत्पटे

---

१ अण्णं घडाउ रूवं, ण पुढोत्ति विसारदाण ववहारो । भेदा उणो पुधत्तं, भिज्जदि ववहारबाधेणं ॥ इति मध्यमे ।

[अन्यत् घटात् रूपं, न पृथगिति विशारदानां व्यवहारः। भेदात्पुनः पृथक्त्वं, भिद्यते व्यवहारबाधेन]

तन्तव इति प्रतीतेरप्यबाधितत्वात् । अन्यत्र रूपादिप्रतियोगिकत्वविशिष्टभेदाभेदस्याधारतात्वेऽप्यत्रान्यतरप्रतियोगिकत्वविशिष्टस्यैव तस्य प्रतीतिबलेन तथात्वकल्पनात् । तदुक्तमु**दयने**नापि "संविदेव हि भगवती वस्तूपगमे नः शरणमिति" । परमाणूनामपि शुद्धस्य स्वस्यैव स्वाश्रयत्वं भाविभूताश्रयसम्भवेनैव वा तदाश्रितत्वमक्षतमन्यथा द्रव्यचतुष्टयस्य सार्वत्रिकत्वाऽसम्भवादिति' **तच्चिन्त्यम्**, अत्यन्तविभिन्नानामपि आकाशादिरूपैकाश्रयसम्भवेन भेदाभेदसम्बन्धावच्छिन्नाश्रयताविलक्षणे स्फुटदोषात् ।

ऋजवस्तु—सार्वजनीनप्रतीतिस्वारस्यादेव भेदाभेदयोर्न विरोधः । अत एव न संकर-व्यतिकर-संशया ऽनवस्था-दृष्टहान्यदृष्टकल्पनाः । भेदश्च स्वरूपान्तरात् स्वरूपव्यावृत्तिरूपः । स चैकद्रव्यगुणपर्यायेष्वपि सम्भवति । अयम्भावः—यथाहि सूत्रग्रथितमुक्ताफलानामपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वरूपं हारत्वं सूत्रमुक्ताफलाधारतावच्छेदकं तथा गुणपर्यायाणां तादृशं द्रव्यत्वमपि । तथा, यथा च हारत्वसूत्रत्वमुक्ताफलत्वावच्छेदेन शुक्लत्वप्रतीतिस्तथा द्रव्यत्वगुणत्वपर्यायत्वावच्छेदेन सत्त्वप्रतीतिरपि । यथा च शुक्लत्वाद्यवच्छिन्ने हारत्वाद्यवच्छिन्नभेदस्तथा सत्त्वत्वाद्यवच्छिन्ने द्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नभेद इति । तदुक्तं—"सद्दव्वं सच्च गुणोत्ति" । [1]**विस्तारः**=तत्तद्धर्मावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपिताः प्रकारताः । **नन्वेवं** वृक्षो वनमितिवत् सद् द्रव्यमिति प्रयोगो न स्यात्, यत्र हि यद्धर्मावच्छिन्नप्रकारकबुद्धिविषयत्वं व्यवहारौपयिकं तत्तद्धर्मावच्छेदेनैवाभेदेनान्वेतीति व्युत्पत्तेरिति **चेत्** ? **न**, एतन्नियमस्य विशिष्य विश्रामादिति दिक् ।

यद्वा **कृतस्य**=कुम्भकारादिप्रयत्नस्य **नाशः**= [2]उपधानाऽव्याप्यत्वम्, **अकृतस्य** कुम्भकारादिप्रयत्नाऽभावास्याऽऽ**गमो**ऽनुपधानाऽव्याप्यत्वं च स्याताम् , वस्तुनः सर्वथा नित्यत्वात् , तथा च व्यवहारबाधः इति भावः ।

अत्रेदं विभाव्यते—**सांख्यैर्हि** सदेव वस्त्वभिमन्यते । तदुक्तं—"असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसम्भवाऽभावात् । शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम्"।। [**सांख्यकारिका**-९] इति । असतः=शसविषाणादेः **कर्तुमशक्यत्वात्** , सत एव सत्करणस्वाभाव्यात् । उपादानेन ग्रहणात्=सम्बन्धात् , न ह्यसतः सम्बन्धोऽस्ति । असम्बद्धस्यैव करणमिति **चेत्** ? **न**, सर्वसंभवाऽभावात्=असम्बद्धत्वाऽविशेषे हि सर्वे सर्वस्माद्भवेयुः, न चैवमिष्टमिति । तथाऽशक्तस्य जनकत्वेऽतिप्रसंगात् शक्तस्य जनकत्वं वाच्यम्, शक्तिश्च कार्यस्य प्रागसत्त्वे नियता

१—सद्दव्वं सच्च गुणो, सच्चेव य पज्जओत्ति वित्थारो । जो खलु तस्स अभावो, सो तदभावो अतब्भावो ।। प्रव० सार० अ० २ गा० १५ ।

२—फलोत्पत्त्यव्याप्यत्वमित्यर्थः । घटादिवस्तुनो नित्यत्वात् कुम्भकारादिप्रयत्नस्य वैफल्यमेव न तु फलनिष्पत्तिव्याप्यत्वमिति भावः ।

न स्यात्, इतोऽपि कारणात् प्राक् कार्यस्य सत्त्वमुपेयम् । तथा तादात्म्यादपि सत्कार्यम्, अवयविनोऽवयवभेदाऽप्रतीतेरिति । **तदयुक्तम्**, यतो घटश्चेत्कारणव्यापारात्प्रागप्यस्ति तर्हि तदानीमुपलम्भप्रसङ्गः ।

अथाऽनाविर्भावात् नोपलभ्यते इति **चेत्** ? कोयमनाविर्भावः ? १ उपलब्ध्यभावो वा, २ अर्थक्रियाकारिरूपाऽभावो वा, ३ व्यञ्जकाऽभावो वा, ४ योग्यताऽभावो वा, ५ कालविशेषविशिष्टत्वाऽभावो वा, ६ जिज्ञासाऽभावो वा, ७ तिरोधानं वा, ८ अन्यद्वा ?

नाद्यः, यस्यैवाक्षेपस्तस्यैवोत्तरे घट्टकुटीप्रभाताऽपातात् । **अथ** घटानुपलब्ध्याक्षेपे संस्थानाद्यनुपलम्भस्योत्तरत्वमिति **चेत्** ? न, संस्थानज्ञानस्य संस्थानिज्ञानात् पूर्वं नियतमनपेक्षणात्तस्यापि प्राक्सत्त्वे उपलब्धेरापाद्यत्वात्, असत्त्वे वक्ष्यमाणदोषानुसङ्गाच्च ।१। न **द्वितीयः**, अर्थक्रियारुपस्य प्रागसत्त्वेऽसत्कार्यवादापातात् ।२। अत एव न **तृतीयो**ऽपि, प्राथमिकोपलब्धौ कुविन्दादिसमुदायस्योपलब्धिमात्रे वा विजातीयसंयोगस्य कारणत्वेऽपि तयोः प्राक्सत्त्वावश्यकत्वात् । आविर्भूतयोरेव तयोः तथात्वमिति **चेत्** ? **न**, आविर्भावस्यापि सदसद्विकल्पग्रासात् । विजातीयसंयोगाद्याविर्भावस्य प्राक्सत्त्वेऽपि विजातीयसंयोगेन समं तस्य सम्बन्धो नास्तीत्यप्यसमीक्षिताभिधानं तद्दोषाऽनतिवृत्तेः ।

एतेन "विषयिताविशेषसम्बन्ध एव घटत्वादेः विजातीयसंयोगजन्यतावच्छेदकतावच्छेदकोऽस्त्वनंतप्रागभावप्रध्वंसाद्यकल्पनलाघवात्" इत्यपि **परास्तम्** । तदभावेऽपि घटत्वविनिर्मुक्तविषयताकघटसाक्षात्काराऽऽपत्तेश्च । **किञ्च** घटादेः कुम्भकारादिव्यङ्ग्यत्वे जन्यत्वव्यवहारो निरालम्बनः स्यात्, अन्यथा दिनकर-करनिकराऽभिव्यञ्जिते घटे तज्जन्यव्यवहाराऽऽपत्तेः ।३।

नाऽपि **तुरीयः**—महत्त्वसमानाधिकरणोद्भूतरूपवत्त्वादिरुपायाश्चाक्षुषादियोग्यतायाः प्रागुक्तदिशा प्रागपि सत्त्वात् ।४। नापि **पञ्चमः**, कालविशेषस्य कारणत्वेनाऽनतिप्रसंगे एककारणपरिशेषाऽऽपत्तेः । विशेषस्याऽऽगन्तुकोपाधिरूपस्य सदसद्विकल्पग्रासाच्च ।५। नापि **षष्ठः**, सत्यामपि जिज्ञासायां कारणव्यापारात्प्राक्कार्याऽनुपलम्भाज्जिज्ञासाया ज्ञानमात्रं प्रत्यहेतुत्वाच्च । जिज्ञासितबोधं प्रति जिज्ञासाया हेतुत्वे जिज्ञासां विनापि तत्राऽजिज्ञासितबोधाऽऽपत्तेश्च ६ । नापि **सप्तमो**, अनाविर्भावस्यैव तिरोधानपदार्थत्वात्तस्य च लक्ष्यत्वादद्यापि नियतनिर्वचनाऽपरिचयात् ७। **नाप्यष्टमो**ऽनिर्वचनात् ।८। [इति]

स्यादेतत्—"विजातीयसंयोगस्य जन्यसाक्षात्कारत्वं जन्यतावच्छेदकमस्तु न तु जन्यद्रव्यत्वं, अनंतप्रागभाव-प्रध्वंसाऽभावकल्पनागौरवात् । न च विजातीयसंयोगं विनापि गुणादौ द्रव्यसाक्षात्कारोदयाद्व्यभिचारः, द्रव्यनिष्ठलौकिकविषयतायाः कार्यतावच्छेदकसम्बन्धत्वेन तदुद्धारात् । **एतेन**—"द्रव्यसाक्षात्कारत्वस्य तत्कार्यतावच्छेदकत्वे मूर्त्तसाक्षात्कारत्वादिना

विनिगमनाविरहः, स्वाश्रयविषयतासम्बन्धं कार्यतावच्छेदकीकृत्य द्रव्यत्वादिना तथात्वेऽपि मूर्त्तत्वादिना स एव दोषः" **इत्यपास्तम्**। इत्थञ्च द्रव्यमात्रं सर्वथा नित्यमस्तु। **न चैवं** तंतूनामेव पटत्वात्तंतौ पट इति प्रत्ययो न स्यादिति **वाच्यं**, फलबलेन विलक्षणसंयोगवत्त्वरुप-पटत्वादिविशिष्टाधारतावच्छेदकत्वस्य विलक्षणसंयोगवत्त्वरुपशक्यतावच्छेदकभेदात्। तंतु-संयोगात्पट उत्पन्न इति व्यवहारस्तु भ्रान्त एव, पटपदं वा पटाभिव्यक्तिपरम्। पट उत्पन्न-इत्यादिप्रतीतिस्तु पटत्वादिघटकसंयोगोत्पादमात्रमवगाहते। तंतुः पट इति प्रतीतिस्तु वृक्षो वन-मिति वदेव नोदेति। पटः तंतव इति प्रतीतिस्तु एकत्वधर्मितावच्छेदककबहुत्वप्रकारिका सतीच्छाविशषमपेक्षते। एकत्र द्वयमिति न्यायेन तदन्वयबोधापादने शब्दाऽसाधुत्वमेव वा। [१]अधिकं मत्कृतन्यायवादार्थेषु बोध्यम्।"

अत्र ब्रूमः—पर्यायत्वावच्छेदेनैव द्रव्यस्य कारणता सामान्यतो गृहीतेत्यसमानजातीयद्रव्य-पर्यायरूपस्य घटस्य कथं न जन्यत्वम्? अन्यथा कपालस्यैव घटत्वात्कपालरूप-घटरूपयोर्भेदो न स्यात्, तथा च प्रत्यक्षबाधः। किञ्चैवं दण्डादौ घटसाधनताज्ञानेन प्रवृत्तिर्न स्यात्। **अथ** "विजातीयसंयोग(व)त्त्वमेव घटत्वं, युक्तं चैतत्, कथमन्यथा घटत्वस्य जातित्वं? मृत्त्वस्वर्ण-त्वादिना सांकर्यात्। **न च** कुलालादिजन्यतावच्छेदकतया मृत्त्वस्वर्णत्वादिव्याप्यं नानाघटत्वमेव स्वीकर्त्तव्यमनुगतधीस्तु कथञ्चित् सौसादृश्यात्, घटपदं तु नानार्थकमिति **वाच्यम्**, कुम्भका-रादेर्विजातीयकृतिमत्त्वेन तत्त्वे घटत्वस्यैकत्वौचित्यात् इति **चेत्**?" **न**, एवं सति घटवत्यपि भूतले संयोगेन घटो नास्तीति प्रतीतेः प्रमात्वापातात्, घटः पटसंयुक्त इत्यादिप्रतीतेरप्रमात्वा-पाताच्चेति **दिक्**।

अथ अनित्यत्वैकान्तपक्षेऽपि दोषमाहुः "**स्याताम्**"**इति**। **एकान्तनाशे**=नित्यत्वाऽ-संभिन्ननाशे **कृतस्य नाशो**=अकृततुल्यता। तन्मते हि वस्तुनः सर्वस्य क्षणिकत्वादुत्पत्तिसम-नंतरमेव घटस्य नाशः, इति पृथुबुध्नोदरत्वादिपर्यायाणामाधारेण केन भवितव्यम्? तथा-**ऽकृतस्याऽऽगमः**=अर्थक्रियाकारित्वम्। यद्धि कुम्भकारादिना घटादिकं कृतं तेन तु दुर्जनमनः-प्रणयपरंपरावत्तदानीमेव दध्वंसे, तथा च जलाहरणादिक्रियासु व्याप्रियमाणेन तेनाकृतेनैवोप-पस्थातव्यमिति दूषणद्वयमिदं **बौद्धबुध्द्युपनीतकाकुव्याकुलीकरणप्रवणं** प्रसज्येतेति भावः।

[क्षणिकवादपूर्वपक्षः]

इदमप्यत्र विचार्यते—किं क्षणभंगुरमेव वस्त्वन्यथा वा? तत्र **बौद्धाः**—"मुद्गरादिसमव-धानदशायां घटादेर्यत् स्वरुपं वरीवर्त्ति तेन प्रागासीनं न वा? अन्त्ये स्वरुपभावहान्यापत्तिः,

---

१—अधिकं=अधिकं पूर्वपक्षवचनमित्यर्थः।

आद्येऽनायासेनैव सिद्धा क्षणभंगुरता भगवती । किंच–तत्तत्क्षणावच्छेदेन घटादेः प्रध्वंसाऽप्रतियोगित्वकल्पनापेक्षया प्रध्वंसप्रतियोगित्वकल्पनैव लघीयसी । वस्तुनः तत्तत्क्षणेष्वेवास्तु घटत्वपटत्वादिकम् । नच संकरः, वासनाकृतविशेषेण तन्निरासात् । अत एव न स्थितिकाले घट उत्पन्नो, घटो ध्वस्त इत्यादि प्रतीतिः । विशिष्टोत्पादध्वंसयोर्विशेषणसत्त्वविरुद्धत्वात् । न च 'स एवायं घट' इति प्रत्यभिज्ञा क्षणिकत्वे बाधिका; स एवायं गकार इत्यादि प्रत्यभिज्ञाया इव तस्यास्तज्जातीयाभेदविषयत्वात् । किञ्च–नित्यस्य सतो वस्तुनः सर्वदार्थक्रियाकारित्वापत्तिः, स्वतः सामर्थ्याऽसामर्थ्याभ्यां परोपकारानवकाशात् । स्वतः समर्थमपि तत्कारणांतरसहकृतमेव कार्यमुपदधातीति चेत् ? न, कार्यानुपधानसमये सामर्थ्ये मानाभावात् । तस्मात् कुर्वद्रूपस्यैव कारणत्वाद्वस्तुनो मदुक्तदूषणभारभंगुरस्य सतः क्षणविश्राम एवोचित इति ।"

[क्षणिकवादनिरासः]

तदतिजरत्तरं–विनाशस्वभावत्वेन क्षणिकत्वे स्थितिस्वभावत्वेन नित्यत्वस्याप्याऽऽपत्तेः। स्थितिप्रत्ययो भ्रान्तो, विनाशप्रत्ययस्तु प्रमेति तु निजप्रणयिनीमनोविनोदमात्रम् । ध्वंसप्रतियोगित्वं तु यथा त्वया विधिपर्यायेण कल्प्यते तथा मया निषेधपर्यायेणापीति न दोषः । वासनाया ध्रुवत्वे तु नामान्तरेण द्रव्यमेवाऽभ्युपेतवान् भवान्, कृतांतं च कोपितवान्, अध्रुवत्वे तु किमनयाऽजागलस्तनायमानया ? कुर्वद्रूपत्वेन तु न कारणता, तस्य प्रागपरिचयात् इष्टसाधनताज्ञानविलम्बात् घटार्थिनो दंडादौ प्रवृत्त्यनुदयापत्तेरिति दिक् ।

श्रीहेमसूरिवाचामाचामति चातुरीपरविचारम् । व्याख्याताद्यश्लोको **जसविजयस्तां** परिचिनोति ॥१॥ [प्रथमश्लोकविवरणं समाप्तम्]

ननु भवतु कदाचिद्बाह्यवस्तुनो नित्यानित्यत्वम् ; प्रमातुस्तु न कथमपि । न च ज्ञानाद्यभेदात् तथात्वं, तथा सति दुःखाभेदाद् दुःखध्वंसस्यापि आत्मध्वंसरूपत्वात्तदर्थिनो यमादौ प्रवृत्तिर्न स्यात् । न च दुःखध्वंसत्वमेव काम्यतावच्छेदकं, तत्राऽऽत्मध्वंसत्वरूपाऽनिष्टतावच्छेदकज्ञानस्य प्रवृत्तिप्रतिबंधकत्वात् । न चाऽऽत्मत्वावच्छिन्नध्वंसत्वमेव **चार्वाकादि**मतप्रसिद्धमनिष्टतावच्छेदकं, विजातीयसुखत्वमेव वा काम्यतावच्छेदकमिति **वाच्यम्**, तथापि "नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"(तैत्तरीय-आरण्यक) इत्यादिश्रुत्या तस्य नित्यत्वौचित्यात् नित्यसुखादिनैव सममभेदबोधात् । **न च** "आनन्दं ब्रह्मणो रूपं, तच्च मोक्षे प्रतिष्ठितमि" ति भेदबोधकश्रुतिसद्भावादुपचरितार्थत्वमेव तस्या युक्तमिति **वाच्यम्**, राहोः शिरः इत्यादौ षष्ठ्या अभेदेऽपि दर्शनात् । अत्राऽभेदप्रकारकबोधदर्शनाल्लक्षणैव, श्रुतौ तु सा न युक्तेति **चेत्** ? **न**; सुब्विभक्तौ लक्षणाऽनभ्युपगमात्, अन्यथा व्यत्ययानुशासनवैयर्थ्यात् ।

अथ विभक्त्यंतरार्थे विभक्त्यंतरस्य लक्षणाया निषिद्धत्वज्ञापकं व्यत्ययानुशासनम्, अत

एव घटं जानातीत्यादौ द्वितीयाया विषयित्वे लक्षणा नाऽनुपपन्ना । कृद्योगे षष्ठ्यनुशासनं च द्वितीयाऽसाधुत्वज्ञापकं, निष्ठादिवर्जनं च निष्ठायां तत्साधुत्वज्ञापकं, कृत्ययोगे विकल्पविधानं च निष्ठायां शेषषष्ठ्यसाधुत्वज्ञापकमिति चेत् ? न, तथापि तत्र सम्बन्धत्वप्रकारकबोधस्यैवेष्यमाणत्वात् । अत आहुः 'आत्मनी'ति–

आत्मन्येकान्तनित्ये स्यात् न भोगः सुखदुःखयो ।
एकान्ताऽनित्यरूपेऽपि न भोगः सुखदुःखयोः ॥ २ ॥

आत्मन्येकान्तनित्ये–अभ्युपगम्यमान इति शेषः । सुखदुःखयोर्भोगः=साक्षात्कारो न स्यात् । यद्यपि भोगपदं सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारे रूढमिति पुनः 'सुखदुःखयो' रित्युपादाने पौनरुक्त्यं, तथापि [1]विशिष्टवाचकानामित्यादिन्यायात् भोगपदमत्र साक्षात्कारमात्रपरं द्रष्टव्यम् । न च शक्यादनन्येऽर्थे कथं लक्षणा, [2]शक्यतावच्छेदकरूपभेदे एव लक्षणास्वीकारात्, यथा जयतेः प्रकृष्टजये । तदाहुः "शक्यादन्येन रूपेण ज्ञाते भवति लक्षणे" ति ।

नैयायिकैकदेशिनस्तु–"भोगत्वं चाक्षुषादिसामग्रीप्रतिबध्यतावच्छेदककुक्षिप्रविष्टतया सिद्धो जातिविशेषः । न च स्वसमवायिलौकिकविषयितया भोगान्यमानसप्रतिबन्धकतावच्छेदकीभूतसुखदुःखवृत्तिजातिविशेषवदन्यज्ञानत्वादिकमेव मानसान्यसामग्रीप्रतिबध्यतावच्छेदकं, सुखदुःखवृत्तिजातिविशेषवत्प्रतिबध्यतावच्छेदकमपीदमेव तेन न तत्प्रविष्टतया भोगत्वसिद्धिरिति वाच्यं, अनया दिशा साक्षात् सुखादिवृत्तिर्जातिः प्रतिबध्यतावच्छेदककोटौ प्रवेश्या, साक्षात् मानसवृत्तिर्भोगत्वजातिर्वा स्वसमवायिलौकिकविषयतासम्बन्धेन प्रतिबन्धकतावच्छेदककोटौ प्रवेश्येत्यत्र विनिगमकाभावात्, प्रागुक्तजातेर्ज्ञानत्वपर्यन्तसम्बन्धेन प्रतिबध्यतावच्छेदकत्वप्रसंगाच्चे"त्याहुः । [[3]तन्मते सुखदुःखयोरित्यस्य न पौनरुक्त्यम् ।]

[3][अथ प्रकृतं प्रस्तुमः ।] [4]अयं भावः–एकान्तनित्यः सन्नात्मा सुखदुःखे युगपद्भुञ्जीयात्, क्रमेण वा ? नाद्यो, विरोधात् । न द्वितीयः स्वभावभेदेन सर्वथानित्यत्वहानेः । सुखदुःखानुभवकालेऽपि तत्स्वभावत्वमात्मनः कथमिति चेत् ? तस्य गुणरूपत्वात् ; गुणगुणिनोश्च भेदाभेदस्य निपुणतरमुपपादितत्वादिति गृहाण । स्वभावो हि स्वद्रव्य-गुण-पर्यायाऽनुगतं स्वरूपास्तित्वं, तच्च सादृश्या(द)स्तित्वेनैकीभवतोऽप्यन्यस्माद्भेदप्रतीतिमाधत्ते ।

अथैवमपि ध्वंसाऽप्रतियोगित्वरूपं सर्वथा नित्यत्वमक्षतमेवेति चेत् ? न, ज्ञानत्वादिना तद्ध्वंसादात्मत्वादिना नेति तु प्रागेव प्रत्यपीपदाम । आत्मत्व-ज्ञानत्वयोरपि भेदे का प्रत्याशेति

१ विशिष्टवाचकपदानां सति विशेषणबाधकपदसमवधाने विशेष्यार्थमात्रपरत्वमिति न्यायात् ।
२ समाधत्ते शक्यतेत्यादिना । ३ कोष्ठद्वयान्तर्गतौ पाठौ मध्यमवृत्तौर्योजितौ आवश्यकत्वात् ।
४ 'अयं भावः' पाठो नावश्यको नास्ति च मध्यमवृत्तौ ।

चेत् ? न, तथापि ज्ञानादिसाक्षाद्वृत्तेर्ज्ञानत्वादेरेव ध्वंसप्रतियोगितावच्छेदकत्वात् । आत्मत्वव्यापकत्वमपि तस्य न साक्षादिति न कोऽपि दोषः ।

इदमत्र ध्येयम्—यद्यपि यत्किञ्चिद्घटाऽन्यत्याभाववत्यजायमानया घटाऽत्यंताभावप्रतीत्या तत्र घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिता सिध्यति, ध्वसे तु नैवं, तथापि 'घटत्वेनायं ध्वस्तो न तु मृत्त्वेन'-त्यादिप्रतीत्या तत्र सा सिध्यति । अवच्छेदकता तु स्वरूपविशेषः । सा च क्वचिदतिप्रसक्तेऽपि धर्मे प्रतीतिबलात्कल्प्यत इति । प्राञ्चस्तु—पूर्वाकारपरित्यागेनोत्तराकारपरिणतिरूपं कार्यत्वमात्मत्वावच्छेदेनैव गायन्ति । नन्वेवमात्मनः कार्यत्वव्यवहारः स्यान्नतु ज्ञानादेः, तस्याऽनीदृशत्वात् इति चेत् ? न, द्रव्यकार्यत्वस्यैवैतल्लक्षणत्वात् । पर्यायकार्यत्वस्य तु ध्वंसप्रतियोगित्वमेव लक्षणम् । अत एव द्रव्यस्य हि पूर्वाकारपरित्यागेनोत्तराकारपरिणामः कार्यत्वमित्येव रत्नाकरावतारिकायामभिहितम् । ध्वंसप्रतियोगितानवच्छेदकरूपवत्त्वस्य नित्यत्वे तदनवच्छेदकरूपवत्त्वमेवोभयानुगतं कार्यत्वमित्यभिप्रेत्य तु प्रागुपदर्शितः पन्थाः । ध्वंसस्यापि किञ्चिदुत्पत्तिरूपत्वात्तद्ध्वंससंभवान्नाऽव्याप्तिः । घटादिनाशस्य कालविशेषविशिष्टकपालत्वादिनयेऽपि कपालत्वादिना तन्नाशसंभवोऽनन्यथासिद्धनियतोत्तरवर्तितावच्छेदकरूपवत्त्वे वा तात्पर्यमिति ध्येयम् ।

अथाऽनित्यत्वपक्षेऽपि दोषमाहुः—"एकान्तानित्यरूपेऽपि" इति—निगदसिद्धमिदम् । अयं भावः—एकान्तानित्यस्यापि सतः आत्मनः सुखदुःखयोर्युगपद्भोगो विरुद्धत्वादेव नेष्टः । क्रमभोगे तु क्षणिकत्वहानिः, तत्तत्क्षणध्वंसाधिकरणसमयस्यैव क्रमपदार्थत्वात्, क्षणिकस्य तु तदसंभवादिति ।

हेमसूरिगिरां गुम्फे, यस्यास्ति परमा गतिः ।
द्वितीयानुष्टुभो व्याख्यां, स यशोविजयोऽतनोत् ॥२॥ श्री

अथोभयोः पक्षयोर्दूषणांतरमुभाभ्यामनुष्टुब्भ्यामाहुः 'पुण्यपाप' इति

पुण्यपापे बन्धमोक्षौ, न नित्यैकान्तदर्शने
पुण्यपापे बन्धमोक्षौ, नाऽनित्यैकान्तदर्शने ॥३॥
क्रमाऽक्रमाभ्यां नित्यानां, युज्यतेऽर्थक्रिया न हि ।
एकान्तक्षणिकत्वेऽपि युज्यतेऽर्थक्रिया न हि ॥४॥

एकान्तनित्यात्मवादिमते पुण्यपापयोरसम्भवः । ते हि "यागब्रह्महत्यादीनां क्षिप्रभंगुराणां स्वर्गनरकादिकं प्रति श्रुतिबोधितकारणतायाः फलपर्यन्तव्यापारव्याप्ततया तत्र व्यापारस्य चान्यस्याऽसंभवात् परिशेषाददृष्टसिद्धिः । न च ध्वंसेनैव निर्वाहस्तस्य फलाऽनाश्यत्वात् । नचाऽपूर्वस्यापि प्रथमस्वर्गादिना नाशात् फलसन्तानो न निर्वहेत् इति वाच्यम्, तस्य चरमफलनाश्यत्वात् । चरमत्वं च स्वसमानजातीयप्रागभावाऽसमानकालीनत्वादिकं जातिविशेषो वा । नचा-

ऽपूर्वोत्पत्त्यनन्तरमेव फलं कुतो न भवतीति **वाच्यम्**, वृत्तिलाभकालस्यापि नियामकत्वात् । **अथ** निर्व्यापारस्यैव यागादेरव्यवहिततत्त्वांशविनिर्मुक्तकारणताग्रहः सम्भवतीति **चेत्? न**, अव्यवहितपूर्वसमयावच्छेदेन कार्यवति यदभावो ज्ञायते तत्रैव कारणताबुद्ध्यनुदयेन तद्गर्भायाः कारणताया औचित्यात्, कीर्त्तनादिनाश्यत्वेनाऽपूर्वसिद्धेश्च ।

तस्मादृष्टमात्मनो गुणरूपं विहितनिषिद्धक्रियाजन्यमित्याहुः । तच्चाऽयुक्तम्— स्वभावभेदेनैवात्मना धर्माधर्मयोर्जनने एकान्तनित्यतापक्षक्षतेः । वस्तुतः शुभाशुभोपयोगावेव धर्माधर्मौ, तदुपनीतप्रकृतिविशेषाऽवाधाकालपरिपाकाच्च फलोदय इति दिग् ।

अत एव बन्धमोक्षयोरपि कर्मादानसकलकर्मविप्रमोक्षलक्षणयोस्तत्पक्षेऽसम्भवः । एवमेकान्ताऽनित्ये'त्यादिना क्षणिकत्वपक्षेऽपि दोषो विभावनीयः ॥३॥

क्रमाक्रमाभ्यामिति—अप्रच्युताऽनुत्पन्नस्थिरैकरूपाणां हि क्रमेण युगपद्वाऽर्थक्रियाकारित्वं न घटामटाट्यते । तथाहि—अर्थस्य=घटादेः, क्रिया=ज्ञानादिरूपा, तत्कारित्वं-तज्जनकत्वम्, सर्वथा नित्यानामात्मादीनां देशक्रमेण कालक्रमेण वा न सम्भवति, यत्किञ्चिद्देशकालावच्छेदेनैव सकलकार्यकरणसामर्थ्यात् । अन्यथा देशकालभेदेन स्वभावभेदादनित्यत्वापातात् । **अथा**त्मादीनामर्थक्रियाकारित्वेऽपि सर्वत्र सर्वदेत्यापादकाऽभावस्तत्स्वभाववतां देशकालादीनां विलम्बाच्च कार्यविलम्ब इति **चेत्? न**, तत्तद्देशप्रतिबद्धेतरकालत्वेन तत्तत्कालप्रतिबद्धेतरदेशत्वेन च कारणताया **अध्यात्ममतपरीक्षायां** प्रदर्शितत्वात् । एवं च तत्तद्देशकालाद्यवच्छेदेन स्वभावभेदे सर्वथा नित्यत्वापायात् ।

स्यादेतत्-एवं सति घटादीनां कारणता न स्यात् । मैवं, विनिगमनाविरहेण तेषामपि तत्सम्भवात् । न चैवं गौरवं, प्रतीतिसिद्धस्वभावस्यैवमेव कल्पनात् । किञ्च कारणकलापमेलकस्य कार्योपधायकत्वेऽपि तस्यापि वैचित्र्यात् स्वभावाऽवैचित्र्ये का प्रत्याशा? तस्मात् स्वभावाऽवैचित्र्येऽप्यन्यादृशं नित्यत्वमेव तत्रास्तीति स्वाग्रहमेव गृहाण । तमेव गृह्णामीति चेत्? पथः स्मर मोचितोऽसि ततः प्राक् ।

अथ पूर्वपूर्वपरिणामानामेवोत्तरोत्तरपरिणामजननस्वभावत्वादात्मनः कूटस्थनित्यत्वमेवोचितमिति **चेत्? न**, तस्य तदभेदेनैव कर्तृत्वात् । अत एवैकस्य षट्कारकीभावोऽन्यत्र प्रासाधि । **अथ** नित्यचेतनास्वभावत्वरूपार्थक्रियाकारित्वादात्मनः कूटस्थनित्यत्वमेवोचितमनित्यचेतनायास्तु प्रधानसाध्यत्वमिति **चेत्? न**, चेतनायाः स्वतो नित्यत्वात् पर्यायतोऽनित्यत्वस्यैतदपक्षपातित्वात् । ज्ञानकर्मफलरूपायाः स्वतन्त्रप्राप्यत्वेन कर्मीभूतायाश्चेतनायास्तत्तदुपयोगपरिणतेन स्वतंत्रतयाऽऽत्मनैव कर्त्रा सम्भवात्, प्रधाने मानाऽभावात् ।

अथैवमपि द्रव्यकर्मरूपाऽर्थक्रियाकारित्वमात्मनः कथमिति चेत्? निमित्तीभूतभावकर्मकर्तृत्वेनोपचारादिति गृहाण। एवं घटादिकर्तृत्वमप्यात्मनः उपचारादेव बोध्यम्, प्राप्यत्वगर्भकर्मत्वस्य परिणामविशेष एव पर्यवसानात्। न हि क्रियाजन्यफलशालित्वादिकं पराभिमतं कर्मत्वमपि सार्वत्रिकं, घटं जानातीत्यादावेव तदभावात्। एतेनाऽर्थक्रियेत्यत्र प्रथमातत्पुरुषेऽपि क्रमपक्षः प्रत्याख्यातः। युगपत् पक्षे तु प्रत्यक्षबाधः। एकान्ताऽनित्यपक्षेऽपि दोषमभिदधाति "एकान्ता-ऽनित्यपक्षेऽपि" इति–क्रमाक्रमयोरसम्भवप्रतीतिबाधाभ्यामिति भावः ॥४॥

अथैकान्तवादोपकल्पितकर्कशतरतर्कतिमिरनिकरनिराकरणेन प्रकटीभूतप्रतापं भास्वतमनेकान्तवादमभिनन्दन्ति–'यदात्वि'ति—

यदा तु नित्यानित्यत्वरूपता वस्तुनो भवेत्।
यथात्थ भगवन्नैव तदा दोषोऽस्ति कश्चन ॥५॥

ननु परेऽपि पृथिव्यादिन्यपि परमाणुरूपाणि नित्यान्यन्यानि अनित्यानि प्रतिजानत इति को विवादोऽतः प्राहुः 'यथात्थे' ति। भगवान् हि घटादिकमप्येकं वस्तु [१]स्यान्नित्यं, [२]स्यादनित्यं, [३]स्यान्नित्यानित्यं, [४]स्यादवक्तव्यं, [५]स्यान्नित्यमवक्तव्यं, स्यादनित्यमवक्तव्यं, [७]स्यान्नित्यश्चाऽनित्यश्चाऽवक्तव्यञ्चेति प्रकाशयति न तथा परे स्वप्नेऽपि संविद्रत इति भावः।

इदमिदानीं निरूप्यते। सर्वत्र हि वस्तुनि स्यान्नित्यत्वादयः सप्त धर्माः प्रत्यक्षं प्रतीयन्ते। तथाहि–घटो द्रव्यत्वेन नित्यः, पर्यायत्वेनानित्यः, क्रमिकविधिनिषेधार्पणासहकारेण स्यान्नित्याऽनित्योऽपि प्रतीयते। न च समुदिताभ्यां नित्यत्वाऽनित्यत्वाभ्यामेव तन्निर्वाहाद्धर्मान्तरकल्पनं किमर्थकमिति वाच्यं, समुदितयोस्तयोर्विलक्षणत्वेनैतत्स्थानाऽभिषेचनीयत्वात्। न चात्र प्रत्यक्षे इच्छायाः कथं नियामकत्वं, प्रतीतिबलादेतादृशेच्छाविशिष्टबोधं प्रत्येतादृशेच्छायाः कारणत्वकल्पनात्। युगपदुभयाऽर्पणासहकारेण स्यादवक्तव्योऽपि न तु सर्वथा, अवक्तव्यपदेनाऽप्यवक्तव्यत्वापत्तेः। न चाऽवक्तव्यत्वं शब्दाऽबोध्यत्वरूपं कथं योग्यमिति वाच्यम्, उपदेशसहकारेण पद्मरागादिवत्तद्ग्रहात्। नित्यत्वस्यात्र क उपकार इतिचेदवक्तव्यत्वेन परिणमनमित्येव गृहाण। वक्तव्यत्वेन परिणमनं तु नित्यत्वादिविशेषेणैव विश्राम्यतीति न तदतिरेकावकाशः। क्रमाक्रमाभ्यां विध्युभयकल्पनासहकारेण स्यान्नित्यः स्यादवक्तव्यः। ताभ्यां निषेधोभयकल्पनासहकारेण स्यादनित्यः स्यादवक्तव्यश्च। ताभ्यामुभयकल्पनासहकारेण च स्यान्नित्यः, स्यादनित्यः, स्यादवक्तव्यश्च। अत्रापि समुदायपक्षाऽऽशंका प्राग्वत् समाधातव्या। न च विशेषण-विशेष्यभावे विनिगमनाविरहः, तथाप्येतत्कृतपरिणत्यनतिरेकात्। नित्यानित्यत्वादयो जात्यन्तररूपा इत्यप्याहुः। अत एव अमूनवलम्ब्य सर्वत्र सप्तभंगी संगतिमंगति।

अथ केयं सप्तभंगीति चेत्? एकत्र वस्तुन्येकैकधर्मपर्यनुयोगवशादविरोधेन व्यस्तयोः समस्तयोश्च विधिनिषेधयोः कल्पनया स्यात्काराङ्कितसप्तधा वाक्प्रयोगः सप्तभंगी'ति सूत्रम्। [प्रमाणनयतत्त्वालोक-परिच्छेद-४ सूत्र १४] यः खलु प्रागुपदर्शितान् वस्तुनः सप्त धर्मानवलम्ब्य संशेते, जिज्ञासते, पर्यनुयुङ्क्ते च तं प्रतीयं फलवती, प्रश्नस्य तुल्योत्तरनिवर्त्त्यत्वात्। यथा च सामान्यतः शब्दः सर्ववाचकोऽपि संकेतविशेषं सहकृत्याऽन्वयं बोधयति तथेयमप्यर्पणाविशेषसहकृत्वरी सतीति। शाब्दे इच्छाऽनियामकत्ववचो मोघम्। सप्तभंगीविनिर्मुक्तशब्दमात्रस्याऽबोधकत्वं तु नाऽऽशंक्यं, विधिप्रतिषेधाभ्यां स्वार्थमभिदधान इत्यनेनाऽर्पणाविशेषस्थल एव तदनुवर्त्तनाऽभिधानात्।

अत्र च स्यान्नित्यत्वादिषु सप्तभंगेषु एवकारोऽवधारणार्थकोऽन्यथाऽनुक्तसमत्वापातात्। स्यात् पदं तु तत्र तदवच्छेदकरूपपरिचायकं, तदपरिचये सांकर्यापातात्। सेयं सकलादेशस्वभावा, विकलादेशस्वभावा च। तत्र प्रमाणप्रतिपन्नानंतधर्मात्मकवस्तुनः [१]कालादिभिरभेदवृत्तिप्राधान्यादभेदोपचाराद्वा यौगपद्येन प्रतिपादकं वचः सकलादेशः [प्रमाणनय० परि० ४ सू०५४]। तदन्यो विकलादेशः। नित्यत्वादीनां कालादिभिरभेदे हि एकेनाऽपि शब्देनैकधर्मप्रत्यायनमुखेनाऽनेकधर्मरूपस्य तदात्मकतापन्नस्य वस्तुनः प्रतिपादनसम्भवात् यौगपद्यम्। भेदविवक्षायां तु [२]सकृदुच्चरितेत्यादिन्यायादेकशब्दस्याऽनेकार्थानां युगपदबोधकत्वात् क्रमः।

अथ सकृदुच्चरितेत्यादिन्यायस्य प्रामाणिकत्वे एकशिष्टघटादिपदस्यानेकघटादिबोधकत्वं न स्यात्, न स्याच्च कस्मादपि घटपदात् प्रातीतिको घट-घटत्वयोरपि बोधः इति चेत्? न, अग्रिमप्रकृतपदस्यैकधर्मावच्छिन्नार्थकत्वात्। एकशेषस्थले तु पदान्तरस्मरणमेव कल्प्यमन्यथा घटपदात् समवायकालिकविशेषणताभ्यां घटत्वाऽवच्छिन्नयोर्युगपद्बोधप्रसक्तिभिया तद्धर्मावच्छिन्नस्य बोध्यतावच्छेदकतावच्छेदकैकसम्बन्धावच्छिन्नत्वगर्भत्वावश्यकतया विषयिता-समवायाभ्यां गुणत्ववद्बोधकैकशिष्टतदादिपदादुभयप्रतीतिर्न प्रादुर्भवेत्। एकपदस्यैकस्मिन् काले एकसम्बन्धावच्छिन्नैकधर्मप्रकारतानिरूपितविशेष्यताशालिबोधोपधायकत्वमिति निष्कर्षः। तेन नैकपदस्य वस्तुतो नानाधर्मावच्छिन्नार्थबोधकत्वेऽपि क्षतिरिति ध्येयम्। धर्मे एकत्वञ्च यावद्बोध्यवृत्तित्वादिकम्।

यत्तु—स्वाश्रयबोध्यतावच्छेदकत्वसम्बन्धेनैकवृत्तिमत्त्वं तद्बोध्यत्वं, तेन न पशुत्वादेर्नानात्वेऽपि दोष इति न्यायनयानुयायिनः, तन्न, सर्वस्य सर्वपदशक्यत्वात्। न चैवं लक्ष-

---

१—के पुन कालादयः? कालः, आत्मरूपम्, अर्थः, सम्बन्धः, उपकारः, गुणिदेशः, संसर्गः, शब्द इत्यष्टाविति रत्नाकरावतारिकायाम्। २—सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवाऽर्थं गमयतीति न्यायात्।

णाद्युच्छेदः, साक्षात्संकेताऽसंभवे तदवकाशात् । **न च** घटत्व-पटत्वादिना शक्तिकल्पने गौरवं प्रमेयत्वादिनैव तत्कल्पनात् , तत्तद्धर्मेण बोधस्य संकेतविशेषनियम्यत्वात् । **न चैवं** शक्तिरन्तर्गडुरिति **वाच्यं**, वाचकताप्रतिनियमस्य तया विनाऽनुपपत्तेरित्या**करे** स्पष्टत्वात् । **कालाद्यष्टकस्वरूपं च श्रीपूज्यलेखादवसेयमिति** दिग्मात्रमेतत् । तर्कास्त्वत्रत्याः अस्मत्कृत**सप्तभंगीतरंगणीतो**ऽवसेयाः ।

ननु भवतु कदाचिदन्यस्य वस्तुनो नित्याऽनित्यत्वं, प्रदीपादेस्तु सर्वथाऽनित्यत्वमेवोचितमिति **चेत्** ? **न**, प्रदीपादिपुद्गलानामेव तमस्त्वेन परिणमनात् , द्रव्यत्वेनाऽनाशात् । **अथैवं** तमसो द्रव्यत्वं **स्यादिति चेत्** ? स्यादेव ।

तेजसः किल निवृत्तिरूपता, यान्धकारनिकरे परोदिता ।
द्रव्यतां वयममी समीक्षिणस्तत्र पन्थमवलम्ब्य तन्महे ॥

तत्र तमसो द्रव्यत्वे रूपवत्त्वमेव मानम् । न च तदेवासिद्धं, तमो नीलमिति प्रतीतेः सार्वजनीनत्वात् । **न चा**द्भूतरूपवत्त्वमुद्भूतस्पर्शव्याप्यं, इन्द्रनीलप्रभासहचरितनीलभागस्तु स्मर्यमाणनीलारोपेणैव निर्वाहात् गौरवात् न कल्प्यते इति न तत्र व्यभिचारः, कुंकुमादिपूरितस्फटिकभांडे बहिरारोप्यमाणपीताश्रयेऽपि न व्यभिचारस्तत्रापि स्मर्यमाणारोपेणैव निर्वाहात् , बहिर्गन्धोपलब्धेस्तु वाय्वाकृष्टानुद्भूतरूपभागान्तरेणैवोपपत्तेरिति **वाच्यं**, तादृशव्याप्तौ मानाऽभावात् • प्रभायां व्यभिचारात् । **न च** नीलरूपवत्त्वमेवोद्भूतस्पर्शव्याप्यं, त्रसरेणौ व्यभिचारात् । न च पाटितपटसूक्ष्मावयववत्तत्राप्युद्भूतस्पर्शवत्त्वानुमानं, अनुद्भूतरूपस्योद्भूतरूपजनकताया इवाऽनुद्भूतस्पर्शस्याऽपि निमित्तभेदसंसर्गेणोद्भूतस्पर्शजनकतासम्भवाद्दृष्टान्ताऽसंप्रतिपत्तेः । **जन्यानुद्भूतरूपं** प्रत्यनुद्भूतेतररूपाऽभावस्य कारणत्वपक्षे तप्ततैलस्थादनुद्भूतरूपाद्वह्नेरुद्भूतरूपभागांतराकर्षणेनैवोद्भूतरूपोत्पत्तिस्वीकारादत्र दृष्टान्ताऽसम्प्रतिपत्तिरिति **चेत्** ? **न**, तथापि त्रसरेणोरुद्भूतस्पर्शवत्त्वे तत्स्पार्शनप्रसङ्गात् । द्रव्यान्यद्रव्यसमवेतस्पार्शनजनकतावच्छेदकीभूतप्रकर्षवन्महत्त्वाऽभावान्नायं दोष इति **चेत्** ? **न**, तादृशप्रकर्षस्यैकत्वेऽपि कल्पयितुं शक्यत्वेन विनिगमनाविरहात् । **अथैकत्वे** तादृशजातिकल्पने स्वतन्त्रमतसिद्धद्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदकीभूतैकत्वनिष्ठजात्या सांकर्यमेव विनिगमकमिति **चेत्** ? तथापि सा जातिर्महत्त्वे कल्प्यतामियं त्वेकत्व इत्यत्रैव विनिगमकमन्वेषणीयम् ।

अथ द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदकैकत्वनिष्ठजातिव्याप्यैव द्रव्यान्यद्रव्यसमवेतस्पार्शनजनकतावच्छेदकजातिरभ्युपेयतां, वायोरचाक्षुषत्वं तु विषयविधयाऽकारणत्वादिति **चेत्** ? **तर्हि** एवमेव त्रुटिस्पर्शाऽस्पार्शनस्याप्युपपत्तेर्द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदकैकत्वनिष्ठजातेर्द्रव्यान्यद्रव्यसमवेत-

स्पार्शनजनकतावच्छेदकजातिव्याप्यत्वे विनिगमकाऽभावः, विषयस्य तत्तद्व्यक्तित्वेन कारणतायां मानाऽभावश्च । यत्तु त्वक्संयुक्तत्वाचवत्समवायत्वेन प्रत्यासत्तित्वान्न त्रुटिस्पर्शस्पार्शनमिति, तन्न, आश्रयत्वाचस्य नियमतः पूर्वमभावेन त्वाचवत्त्वस्य विशेषणत्वाऽयोगादुपलक्षणत्वे घटाद्युत्पत्तिद्वितीयक्षणे स्पर्शादिस्पार्शनाऽपत्तेः कालभेदेनैकस्यामेव व्यक्तावनंतत्वाचानां सम्भवेन तावत्त्वाचप्रवेशाऽपेक्षया महत्त्वोद्भूतस्पर्शयोरेव प्रत्यासत्तिमध्ये प्रवेशस्य त्रुटिस्पर्शेऽनुद्भूतत्वकल्पनस्य चोचितत्वात् , वायोस्त्वाचेन तद्वृत्तिस्पर्शत्वाचानुपपत्तेश्चेत्यधिकमन्यत्र । तमस्युद्भूतस्पर्शवत्त्वमपि प्रतीतिसिद्धमेवेति तु प्राञ्चः ।

अथाऽऽलोकाभावेनैव तमोव्यवहारोपपत्तेर्न तस्य द्रव्यत्वकल्पनमिति चेत् ? विपरीतमेव किं न रोचयेः ? आलोकस्य चाक्षुषजनकसंयोगाश्रयत्वेन क्लृप्तत्वान्नैवमिति चेत् ? न, चक्षुरप्राप्यकारितावादीनामस्माकं तमःसंयुक्तचाक्षुषं प्रति योग्यताविशेषकारणत्वस्यैवेष्टत्वात् । न च तादृशयोग्यतां विनाऽपि किञ्चिदंशेन तमःसंयुक्तद्रव्यग्रहाद्व्यभिचार इति वाच्यम् , मन्दतमःसंयुक्तांशग्रहे तादृशयोग्यताया अवश्याऽपेक्षणात् । अंशांशिनोः कथंचिद्भेदस्य च प्रत्यक्षसिद्धत्वात् । न च तस्मिन्नेवांशे नयनपराङ्मुखतमःशालिन्यपि प्रत्यक्षोदयादालोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसंयोगस्यैव द्रव्यचाक्षुषे हेतुत्वमुचितमिति वाच्यम् , घूकादिचाक्षुषानुरोधेन चक्षुरुन्मुखतमःसंयोगवच्चाक्षुषं प्रति योग्यताविशेषहेतुत्वस्यैवाऽवश्यमाश्रयणीयत्वात् । आलोकाऽजन्यद्रव्यचाक्षुषं प्रत्येवैतस्य हेतुत्वमस्त्विति तु नाभिधानीयं, आलोकजन्यतावच्छेदकनियतरूपस्यैवापरिचयात् । आलोकासंयुक्तचाक्षुषं प्रति तस्य हेतुत्वमित्यपि न वक्तुं युक्तम् , महदुद्भूतरूपवत्तन्निवेशे गौरवादन्यथा स्फुटदोषात् । अधिकमन्यत्र प्रपञ्चितमस्माभिः इति श्रेयः ।

परेण हि चक्षुःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नमहदुद्भूताऽनभिभूतरूपवदालोकसंयोगत्वेन द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति कारणता वक्तव्या। सा च न सम्भवति आलोकसंयोगस्याप्यवच्छेदकत्वसम्भवे विनिगमनाविरहात् । एतेन स्वावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःप्रतियोगिकसंयोगसम्बन्धेन तस्य कारणताऽपि प्रत्याख्याता । अथ द्रव्यनिष्ठलौकिकविषयितासम्बन्धेन चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति पर्यवसन्त्यास्तस्याः कारणताया अपेक्षया लाघवात् समवायेन तमोभिन्नीयलौकिकविषयतावच्चाक्षुषं प्रत्यालोकसंयोगस्य स्वावच्छेदकावच्छिन्नसंयोगवच्चक्षुःसंयुक्तमनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोगसम्बन्धेन कारणता कल्प्यते । चक्षुःसंयोगस्य स्वावच्छेदकावच्छिन्नालोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नस्ववच्चक्षुःसंयुक्तेत्यादिसम्बन्धेन कारणतायां गौरवमेव विनिगमकमिति चेत् ? न, तथापि कारणतावच्छेदकांतर्गतकतिपयभागानां सम्बन्धविधया निवेशाऽनिवेशाभ्यां तद्दोषात् , स्वावच्छेदकावच्छिन्नेत्यादिसंबंधेन तत्र तमःसंयोगस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पनाया अप्यवकाशाच ।

[1]पेचकादिचाक्षुषे व्यभिचारश्च सर्वत्र साधारणदूषणम् । न च नरचाक्षुषं प्रत्येव तस्य कारणता, अञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषां तस्करादीनां चाक्षुषे तथापि व्यभिचारात् । न च स्वाभाविकनरचाक्षुषत्वस्य कार्यतावच्छेदकत्वान्नायं दोषः, स्वाभाविकत्वस्यालोकसंस्कृतचक्षुर्जन्यत्वरूपस्यालोककारणतापरिचयं विनाऽपरिचयात्, अन्यस्य दुर्वचत्वात् । अथाऽञ्जनाद्यसंस्कृतचक्षुर्जन्यत्वं तदिति चेत् ? न, आदिपदार्थाननुगमेन कार्यतावच्छेदकाऽननुगमात् । नाप्यालोकेतराऽसंस्कृतचक्षुर्जन्यत्वं तत्, आलोकेतरस्याञ्जनादेर्व्यभिचारेण चाक्षुषाऽजनकत्वेन चक्षुरसंस्कारकत्वात् । अंजनाद्यभावकालीनचाक्षुषं प्रत्यंजनादीनां जनकत्वे चालोकाभावाऽकालीनचाक्षुषत्वमात्रस्यालोकसंयोगकार्यतावच्छेदकौचित्यात् । एवमपि सिद्धं नः समीहितमिति चेत् ? न, तदपेक्षया लाघवेन तमःसंयुक्तान्यचाक्षुषत्वस्यैव तत्रौचित्येन तमसो द्रव्यत्वसिद्धेः, पूर्वोक्तमत्पथि लाघवतर्कस्य सर्वातिशायित्वाच्च ।

यत्तु फलबलात्तत्रालोकविशेषः कल्प्यते, व्यभिचारग्रहे सत्यालोकस्य कारणताग्रहस्यैवानुपपत्तेः । कथमेवमिति चेत् ? न, तदवच्छेदेन व्यभिचारग्रहस्यैव तत्सामानाधिकरण्येनापि कारणताग्रहप्रतिबन्धकत्वात्, अत्र चालोकत्वसामानाधिकरण्येनैव तद्ग्रहे तत्सामानाधिकरण्येन कारणताग्रहस्य निरपायत्वात्, अन्यथा क्वचित्प्रथममतिप्रसक्तेनापि धर्मेण कारणताग्रहोत्तरं पश्चादनुगतावच्छेदकधर्मकल्पनासिद्धांतव्याकोपाऽऽपत्तेरिति, तन्न, तदालोकेनान्येषामपि चाक्षुषापत्तेर्दुर्वारत्वात् । अनन्तप्रतिनियतसंस्कारकताकल्पने च महद्गौरवमिति दिग् । एतेन "द्रव्यचाक्षुषसामान्यं प्रत्यालोकसंयोगकारणतायाः क्लृप्तत्वादालोकं विना वीक्ष्यमाणस्य तमसः कथं द्रव्यत्वं" इत्यपि दूरमपास्तम् ।

तौतातिकैकदेशिनस्तु–द्रव्यचाक्षुषं प्रत्यालोकसंयोगस्य हेतुत्वेऽपि तामसेन्द्रियेणैव तमोग्रहसम्भवान्नानुपपत्तिः । न च मीलितचक्षुषोऽपि तद्ग्रहापत्तिः, चक्षुःश्रवःश्रोत्रवत्तस्य चक्षुर्गोलकाधिष्ठानत्वात् । न च तद्व्यवस्थापकगुणाभावात्ताद्दशेन्द्रियाऽसिद्धिः, गुणत्वस्य व्यवस्थापकतायामतन्त्रत्वात्, इन्द्रियान्तराऽग्राह्यग्राहकतामात्रस्य प्रकृतेऽपि सत्त्वात् । न च पेचकादीनां दिवापि घटादिग्रहापत्तिः, तामसेन्द्रिये तमःसंयोगस्यापि सहकारित्वात् । न च तमसि तमःसंयोगासंभवो, गगनतमःसंयोगस्यैव जागरुकत्वात् । नन्वेवमपि किञ्चिदवच्छेदेन तमःसंयोगवति भित्त्यादावालोकसंयुक्तेऽपि तामसेन्द्रियेण प्रतीतिः स्यादिति चेत् ? तर्हि तमःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नतामसेन्द्रियसंयोगस्यैव तद्ग्रहहेतुत्वमस्तु, विनिगमनाविरहस्तु तवापि

१–पेचको=घूकः, तदुक्तं श्रीहेमसूरिपूज्यैः,–"घूके निशाटः काकारिः कौशिकोलूकपेचकाः । श्लो०-११२४ अभि० चि० ।।

तुल्यः । चन्द्रिकायां पेचकादेस्तु चाक्षुषमेवाऽभ्युपेयम् । न च दिवाऽपि तद्ग्रहाऽऽपत्तिः, फलबलात्सौरालोकस्य तत्प्रतिबन्धकत्वकल्पनादित्याहुः ।

तत्तुच्छम् ,तमः पश्यामीति प्रतीतेर्निरालम्बनत्वापत्तेः । अथ पश्यामीति विषयता न्यायनये चक्षुःसंनिकर्षदोषविशेषयोरिव मन्मते तामसेन्द्रियसंनिकर्षस्यापि नियम्या, अव्यवहितोत्तरत्वस्य कार्यतावच्छेदककोटौ दानेन व्यभिचाराऽप्रचारादिति चेत् ? न, तथापि तामसेन्द्रियेण तमस इव घटादीनामपि, पेचकादीनामिव नराणामपि ज्ञानाऽऽपत्तेः । न च नरतामसेन्द्रियजन्यज्ञानं प्रति तादात्म्येन तमसस्तमस्त्वादेश्च कारणत्वं, अंजनादिसंस्कृतचक्षुषां तस्करादीनां तु बहलतमे तमसि घटादीनां न तामसेन्द्रियजन्यं ज्ञानं किन्तु चाक्षुषमेव । न चालोकं विना कथं तदानीं तेषां तच्चाक्षुषमिति वाच्यम् , आलोकस्येवाञ्जनादेरपि चाक्षुषे चक्षुषः पृथक् सहकारित्वात् ।

अञ्जनादिसंस्कृतचक्षुष एवालोकाजन्यचाक्षुषे हेतुत्वादंजनादेर्हेतुतावच्छेदकत्वमेवेत्यपि कश्चित् । तन्न,अञ्जनाद्यभावाकालीनचाक्षुषं प्रति स्वसंस्कृतचक्षुःसंयोगसम्बन्धेनाञ्जनादेरेव हेतुत्वौचित्यादित्यपरे । वस्तुतः सामान्यतः एका चाक्षुषजननी योग्यताऽपरा च तमःसंयुक्तचाक्षुषजननी । तत्र पेचकादीनां दिवा न चाक्षुषं मानवानां च नक्तं न घटादिचाक्षुषमित्यत्र स्वभाव एव शरणम् । न चैवं स्वभाववादिमतप्रवेशः, समवायाऽभ्युपगमे तदप्रवेशात् , बहिरिन्द्रियज्ञाने उपनीतस्य विशेषणत्वमेव, मानसे तु विशेष्यत्वमपि, इत्यादौ परस्यापि स्वभावस्याश्रयणीयत्वात् । सर्वज्ञानस्वभावावगमे तत्तत्पुरुषतत्तद्देशतत्तत्कालतत्तद्विषयाद्याश्रित्य विचित्रज्ञानावरणक्षयोपशमवशाद्विचित्रज्ञानदर्शने को वा विस्मयः स्याद्वादाऽऽस्वादसुंदरधियाम् !

किञ्च तमसोऽभावत्वे विधिमुखप्रत्ययो न प्रादुःस्यात् । न च ध्वंसादिवदुपपत्तिस्तथापि घटस्य ध्वंस इति वदालोकस्य तमः इति प्रत्ययापत्तेः । न चालोकाभाव एव संकेतितस्तमःशब्दः इति न तदापत्तिस्तथापि करिकलभेत्यादिवत्तत्प्रयोगस्य साधुत्वापत्तेः । किञ्च, अंधतमसावतमसाद्युत्कर्षाऽपकर्षदर्शनादपि तस्य द्रव्यत्वं, महदुद्भूताऽनभिभूतरूपवद्यावत्तेजोभावत्वकतिपयतदभावत्वयोरज्ञानेऽपि तद्व्यवहारात् । इत्थं च तमश्चलतीत्यादि प्रत्यक्षमपि तद्द्रव्यत्वसाक्षि । न च स्वाभाविकगतेरन्यगत्यनुविधानानुपपत्तिः, पद्मरागप्रभायामेवाश्रयचलनानुविधानदर्शनात् । पद्मरागचलनं विनापि कुड्यावरणविगमादिनापि तत्प्रभाचलनमुपलब्धमिति चेत् ? तर्हि स्थिरेऽपि स्थंभादौ प्राक् पश्चात् दीपसम्बन्धादिना तमश्चलनोपलंभः किं काकेन भक्षितः ? किञ्च, तमसः प्रागभावत्वे उत्पत्तिप्रत्यय इतराभावत्वे विनाशप्रत्ययश्च न स्याताम् ।

स्यादेतत्—तमसो जन्यद्रव्यत्वे स्पर्शवदवयवारभ्यत्वं स्यात् , स्पर्शवदनंत्याऽवयवित्वस्य द्रव्यारम्भकतावच्छेदकत्वादिति चेत् ? मैव, तत्र स्पर्शवत्त्वस्येष्टत्वात् । किञ्च,नव्यनैया-

यिकेन चक्षुरादीन्द्रियावयवेष्वनुद्भूतस्पर्शमनभ्युपगच्छता जातिविशेष एव द्रव्यारम्भकतावच्छेदकत्वेनाऽभ्युपेयः, स च तमस्यपि सम्भवतीति । न च द्रव्यारम्भकत्वाऽन्यथानुपपत्त्यैव तत्रानुद्भूतस्पर्शोऽभ्युपगम्यतामिति वाच्यम्, अनन्तानुद्भूतस्पर्शकल्पनामपेक्ष्य जातिविशेषकल्पनाया एवोचितत्वात् । तादृशजातेरन्त्यावयविन्यप्यभ्युपगमाच्च सुवर्णत्वादिना सांकर्यम् । न च घटादीनामप्यारम्भकत्वं स्यात्, तत्तदन्त्यावयवित्वेन प्रतिबन्धकत्वात् । मूर्त्तत्वेनैव द्रव्यारम्भकत्वं, न च मनसोऽपि मूर्त्तत्वात्तदारम्भकत्वाऽऽपत्तिः, मनोन्यमूर्त्तत्वेनैव तथात्वादित्येके । मूर्त्तत्वेनैव तथात्वं, मनसि द्रव्यानुत्पत्तिस्तु विजातीयसंयोगरूपहेत्वन्तराभावादित्यपरे ।

यत्तु–द्रव्यारम्भकतावच्छेदकतया पृथिव्यादिचतुर्ष्वेव भूतत्वाख्यो जातिविशेषः कल्प्यते, आकाशे भूतत्वव्यवहारस्तु भाक्त इति, तन्न, तमःसाधारणस्याऽपि तस्य कल्पयितुं शक्यत्वात् । मनसोऽनतिरिक्तत्वनये भूत-मूर्त्तपदयोः पर्यायत्वापत्तेश्च ।

स्वतन्त्रास्तु–एकत्वनिष्ठ एव द्रव्यारम्भकतावच्छेदकजातिविशेषः कल्प्यते । स चान्त्यावयव्येकत्वव्यतिरिक्त एवेति न तत्तदन्त्यावयवित्वेन प्रतिबन्धकत्वकल्पनागौरवमित्याहुः । इत्थञ्च तमःसद्भावे मानमप्याहुः–तमो भावरूपं, घनतर-निकरलहरीप्रमुखशब्दैर्व्यपदिश्यमानत्वात्, आलोकवत् । ननु तमसो नीलरूपवत्त्वे पृथिवीत्वमेव स्यान्नातिरेक इति चेत्? न, दाहप्रयोजकपृथिवीत्वाभावस्य जल इव तमस्यपि तवानपलपनीयत्वात् । नन्वेवं नीलसमवायिकारणतावच्छेदकपृथिवीत्वाभाववति तमसि नीलमाकस्मिकं स्यादिति चेत्? न, उभयसाधारणजातिविशेषस्यैव नीलसमवायिकारणतावच्छेदकत्वात् । विजातीयानुष्णाशीतस्पर्शस्येव विजातीयनीलस्यैव पृथिवीत्वं जनकतावच्छेदकमित्यप्याहुः । अवयवनीलादिनैवावयविनीलोपपत्तौ पृथिवीत्वस्य तत्समवायिकारणताऽनवच्छेदकत्वं, स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेनावयवनीलादिमति रूपादौ नीलानुत्पत्तिस्तु जन्यसन्मात्रसमवायिकारणतावच्छेदकीभूतद्रव्यत्वाभावादेवेति तवैकदेशिनाऽपि स्वीकाराच्च ।

एवं च 'नात्रालोकः किन्त्वंधकार' इति व्यवहारोऽपि समर्थितः । नह्ययं 'नात्र घटः किन्तु तदभावः' इतिवत्समर्थयितुं शक्यते, नात्रालोकः किन्त्वन्धकारतदभावाविति व्यवहारांतरस्यापि दर्शनात् । यत्त्वंधकारस्यालोकाभावत्वेऽधंकारे नालोकः इति प्रतीतिर्न स्यादिति केनचिदुक्तं, तत्तु मोघं, घटाभावे घटो नास्तीतिवत्तदुपपत्तेः । एवं सत्यंधकारेऽन्धकार इति प्रतीत्यापत्तिस्तु स्यादेव । नह्यन्धकारत्वमालोकाभावत्वादिदानीमतिरिच्यते । अथैतादृशसमभिव्याहारस्य शाब्दबोधजनकत्वान्नेयमापत्तिः, जायमानप्रतीतेः प्रमात्वं त्विष्टमेवेति चेत्? तथाप्यंधकारे नांधकार इति प्रतीतेर्भ्रमत्वं स्यात् । अभावचाक्षुषं प्रत्यालोकाधिकरणसंनिकर्षस्य हेतुत्वादालोकं विना दृश्यमानस्य तमसो नाऽभावत्वं इत्यपि कश्चिदिति दिग् ॥५॥

एतदवष्टम्भाय दृष्टान्तमाहुः—"गुडो हि"ति—

गुडो हि कफहेतुः स्यान्नागरं पित्तकारणम् ।
द्वयात्मनि न दोषोऽस्ति गुडनागरभेषजे ॥६॥

निगदसिद्धोऽयम् ॥६॥

अथ नित्यत्वाऽनित्यत्वभेदाभेदसत्त्वासत्त्वसामान्यविशेषात्मकत्वाऽभिलाप्य(त्वा)ऽनभिलाप्यत्वादिधर्माणां विरोधशंकामुद्दिधीर्षवोऽभिदधति "**द्वयमिति**"—

द्वयं विरुद्धं नैकत्राऽसत्प्रमाणप्रसिद्धितः ।
विरुद्धवर्णयोगो हि दृष्टो मेचकवस्तुषु ॥७॥

एकत्र=एकाश्रयवृत्तिमत् । **द्वयं**=नित्यत्वाऽनित्यत्वादिकं, **न विरुद्धं**=न परस्परानधिकरणाधिकरणकम् । तत्र हेतुमाहुः—**असदिति**—प्रमाणप्रसिद्धेरसत्त्वात् । नह्येकत्र सतोर्वस्तुनोर्विरोधग्राहकं किंचित्प्रमाणमस्ति । तथाहि, न हि जलानलयोरिव तयोर्विरोधोऽनुभूयते, रूपरसयोरिवैकवृत्तित्वस्यैवानुभविकत्वात् । न चैकज्ञानानन्तरमज्ञायमानत्वं तथा, नित्यत्वादिज्ञाने सत्यप्यनित्यत्वादेर्ज्ञानात् । स्वभावतो विरोधाभिधानं तु स्ववासनामात्रविजृंभितम् । ननु नित्यानित्यत्व-भेदाभेदयोर्भवतु प्रागुक्तदिशैकत्रवृत्तित्वं, सत्त्वाऽसत्त्वयोस्तु कुत इति चेत् ? शृणु । सर्वं हि वस्तु स्वद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया सत् , परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया च न सत् । व्यवहरंति हि घटोऽयं मार्त्तत्वेन काशीयत्वेनाऽद्यतनत्वेन रक्तत्वेन चास्ति, न तु ग्रावीयत्वेन प्रयागीयत्वेन श्वस्तनत्वेन श्यामत्वेन चेति ।

नन्वेतादृशमसत्त्वं व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावपर्यवसन्नमिति चेत् ? किं तावता ? नादृशाऽभावे मानमेव नास्तीति चेत् ? न, 'घटत्वेन पटो नास्ती'ति प्रतीतेरेव मानत्वात् । यत्किंचिद्धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वं यत्र तृतीयान्ताल्लभ्यते तत्र प्रकारीभूततद्धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्यैव व्युत्पत्तिबललभ्यत्वात् । कथमन्यथा घटत्वेन कम्बुग्रीवादिमान्नास्तीत्यादिप्रतीतेरपि प्रामाण्यम् ? प्रत्यक्षे हि येन रूपेण प्रतियोगिनोऽनुपलम्भस्तद्धर्मावच्छिन्ना प्रतियोगिता संसर्गमर्यादया भासते. तादृशधर्म एव च तृतीयान्तेनोल्लिख्यते इति । घटास्तित्वं च प्रदेशपुंजपरिणमनरूपं मार्त्तत्वेन न विरुद्धम् । न च समयकालस्याऽनवच्छेदकत्वाद् द्रव्यादिचतुष्टयबाधस्तत्र प्रतीतिबलात् स्वस्यैव स्वास्तित्वावच्छेदकत्वात् ।

अथ यदेव स्वरूपेणाऽस्तित्वं तदेव पररूपेण नास्तित्वमिति द्वयमेव तावत्प्रदर्शनीयमिति चेत् ? नयनमुन्मिलय, ग्रावत्वेन नास्तित्ववति पटादौ किं मार्त्तत्वेनास्तित्वमुपलब्धवानसि ? मार्त्तत्वमार्त्तभिन्नत्वाभ्यामस्तित्वनास्तित्वयोस्तथाप्यद्वैतमेवोपलभे इति चेत् ? तत्किं तत्तन्निमि-

त्तापेक्षाकृतविशेषं न ज्ञातवानसि ? साहजिकभेदयाञ्चा तु पृथग्द्रव्ययोरेवोचिता ।

सामान्यविशेषात्मकत्वमपि, वस्तुनः सदृश-विसदृशपरिणती अपेक्ष्य अनुवृत्ति व्यावृत्तिप्रत्ययजननात् । नह्येतदनुरोधेन तयोः पदार्थान्तरतास्वीकार उचितः । यतः सामान्यं नित्यमेकमनेकसमवेतं च परैरभ्युपेयते, तदयुक्तं–अत्र मृत्पिंडे घटत्वमासीदिति प्रतीत्या तस्याऽनित्यत्वसिद्धेः । एकत्वमप्यनित्यतया प्रतीयमानस्याऽस्य सदृशपरिणतिरूपस्यैव संग्रहनयार्पणया भ्राजते । तथा [हि]अनेकसमवेतत्वमपि जातेर्यावद्व्यक्तिवृत्तित्वरूपं न संगच्छते अतीताऽनागतव्यक्तिवृत्तित्वस्यैव दुरुपपादत्वादित्याहुः ।

अथ यथा भवन्मते एकस्य शब्दस्य सर्वार्थवाचकत्वं अतीतानागतव्यक्तिनिरूपितत्वस्य कादाचित्कत्वेऽपि तन्निरूपितवाचकताया एकत्वेन निर्वहति तथा ममापि तत्तद्व्यक्तिनिरूपितत्वस्य कादाचित्कत्वेऽपि तन्निरूपितसमवायस्यैकतयाऽनेकसमवेतत्वं जातेर्निर्वक्ष्यते इति **चेत्** ? **न**, समवायस्यैवाऽविष्वग्भावातिरिक्तस्याऽसिद्धेः । एतेनाऽनेकवृत्तित्वं च स्वाश्रयान्योन्याभावसामानाधिकरण्यमिति **वर्धमानवचनमप्यपास्तं**, विशेषेऽतिव्याप्तितादवस्थ्यवारणाय सामानाधिकरण्यस्य समवायगर्भत्वावश्यकत्वात् ।

किंच–अनुगतधीजनकत्वेन सिध्यत् सामान्यमभावादासधारण्येनैव स्वीकर्तुमुचितम् । अपि च क्वचिदखंडोपाधिस्वीकर्तुस्तव स्वाभिप्रेतजात्या पलायितमेव । **किंच**–लाघवाद्व्यञ्जकत्वेनाऽभिमतानामुपाधीनामेव संग्रहनयार्पणयैकीभवतां तत्त्वकल्पनमुचितं, अन्यथा प्रवृत्त्यादिजनकतावच्छेदकत्वेन कारणत्वादीनामप्यतिरेककल्पनाऽऽपत्तेः ।

अथैवमपि ऊर्ध्वतासामान्ये मानाभावोऽगदकुंडलादौ कांचनत्वरूपतिर्यक्सामान्येनैव कांचनं कांचनमित्यनुगतप्रतीतेर्निर्वाहादिति **चेत्** ? **न**, यदेव कांचनमंगदीभूतं तदेव कुंडलीभूतमित्यादिप्रतीतीनामेकाकारत्वस्योर्ध्वतासामान्यं विनाऽनुपपत्तेः । यद्यपीदृशमूर्ध्वतासामान्यं चिरस्थायिनां गुणपर्यायाणामपि सम्भवति तथापि पूर्वापरपरिणामसाधारणं द्रव्यमूर्ध्वतासामान्यमित्यत्र द्रव्यपदं धर्मिपरमिति न कोऽपि दोषः । विशेषपदार्थस्वीकारोऽपि तेषां भेदकधर्मान्तराऽभाववतां परमाण्वादीनां नित्यद्रव्याणां परस्परं योगिभेदप्रत्यक्षानुपपत्तेः । सोप्यनुपपन्नस्तद्गुणेष्वपि तत्स्वीकाराऽऽपत्तेः । **अथ** तत्र शुक्लतरत्वाद्यवांतरजातयः स्वीक्रियन्ते, परमाणौ त्वन्तकार्याऽवर्त्तिन्यस्ताः स्वीकर्तुं न शक्यन्ते इति **चेत्** ? तथाप्यवांतरजातीयेष्वपि रूपादौ परस्परव्यावृत्तिः किमधीना ? स्वाश्रयाश्रितत्वसम्बन्धेन विशेषाधीना **चेत्** ? तर्हि स विशेषो गुणनिष्ठ एव कल्प्यतां, परमाणौ परस्परव्यावृत्तिस्तु स्वाश्रयसमवायित्वसम्बन्धेन विशेषाधीनेत्यत्र किं विनिगमकं ? गुणानां बहुत्वात् तत्रानन्तविशेषकल्पनायां गौरवमेव विनिगमकमिति **चेत्** ? तथापि प्रत्येकं

विनिगमनाविरहः कुत्र लीनः ? रूप एव विशेषः कल्प्यते पृथिवीपरमाणुरूपाणां पाकादिनैव विशेषः, तत्र विशेषाकल्पनलाघवादित्यप्याहुः ।

किंच-तादृशविशेषाणामपि भेदः कुतः ? स्वत एवेति चेत् ? तर्हि तदाश्रयाणामपि स्वत एवायमास्थीयतामन्ततस्तत्तद्व्यक्तित्वादीनामपि भेदकत्वसम्भवात्, प्रतिद्रव्यमनंतागुरुलघुपर्यायाणां विलक्षणानां सिद्धांतसिद्धत्वाच्च ।

अभिलाप्यत्वाऽनभिलाप्यत्वे अपि न विरुद्धे । दृष्टं हि घटस्य यथा घटपदापेक्षयाऽभिलाप्यत्वं तथा पटपदापेक्षयाऽनभिलाप्यत्वमपीति । **नन्वभिलाप्यभावापेक्षयाऽनंतगुणिता** अनभिलाप्या भावा भवद्भिरुपेयन्ते-**यदुक्तं बृहत्कल्पवृत्तौ** "[1]**पन्नवणिज्ज**"त्ति । तेष्वेवेदमनुपपन्नमिति चेत् ? न, तस्याऽनभिलाप्यपदेनैवाऽभिलाप्यत्वात् । **ननु** किमिदमभिलाप्यत्वं ? न तावत्पदजन्यबोधविषयत्वं, तदविषयेऽपि क्वचिद् घटादावभावात् । नाऽपि तद्बोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्वं, घटस्याऽपि पटपदाभिलाप्यत्वापत्तेः, एकस्यापि पदस्य सर्वार्थवाचकत्वात् । नापि गृहीततत्तदर्थनिरूपितसंकेतकपदबोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्वं तत्, पटपदस्यापि घटे संकेतग्रहसंभवात्तद्दोषाऽनतिवृत्तेः । अत एव न तत्तदर्थस्वरूपपरिणामपरिणतपदबोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्वमिति चेत् ? मैवं, गृहीत-तत्तदर्थ-निरूपित नियंत्रित-संकेतकपदबोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्वस्यैव तत्त्वात् । घटे हि घटपदस्यैव कोशादिना संकेतो नियम्यते न तु पटपदस्येति नातिप्रसंगः । अत एव श्रुतज्ञानाविषयीभूतानामर्थानां प्रातिस्विकरूपेण संकेतग्रहासंभवात् अनभिलाप्यत्वम् ।

अथ घटादिपदस्यैव तत्तदर्थपुरस्कारेणाऽपि संकेतग्रहः कुतो न भवति इति चेत् ? तादृशश्रुतज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमलक्षणयोग्यताऽभावादिति गृहाण । यत्र च यत्पदस्य नियंत्रितसंकेतो गृह्यते तत्पदप्रयोक्ता पुरुषः तदर्थप्रतिपादकत्वेनैव व्यवह्रियते । अत एव भगवतां तत्तत्पदप्रयोक्तृणामपि श्रुतज्ञानाऽविषयीभूताऽर्थाऽप्रतिपादकत्वम् । इदमेवाऽभिप्रेत्याभ्यधायि "[2]**केवलविन्नेयत्थे**" त्ति ।

दिगंबरास्तु-परकीयघटादिज्ञानस्य स्वेष्टसाधनताज्ञानात् तत्र प्रयोक्तुरिच्छा, तत इष्टघटादिज्ञानसाधनतया घटादिपदे, तत्साधनतया च कंठताल्वाद्यभिघातादाविच्छा, ततः प्रवृत्त्यादिक्रमेण घटादिपदप्रयोग इत्येतादृशपरिपाट्याः केवलिनामभावात् न ते शब्दप्रयोक्तारः किन्तु विश्रसात एव मूर्ध्नो निरित्वरा ध्वनयस्तत्तच्छब्दत्वेन परिणम्यार्थविशेषं बोधयन्तीत्याहुः ।

१-"पन्नवणिज्जा भावा अणंतभागो उ अणभिलप्पाणं" । ="प्रज्ञापनीयाः भावा अनंतभागस्त्वनभिलाप्यानाम् ।

२—केवलविन्नेयत्थे सुअनाणेणं जिणो पयासेइ । सुअनाणकेवली वि हु तेणेवत्थे पयासेइ ।। केवलविज्ञेयार्थान् श्रुतज्ञानेन जिनः प्रकाशयति । श्रुतज्ञानकेवल्यपि खलु तेनैवार्थान् प्रकाशयति ।।

तत्प्रतिविहित मन्यत्राऽस्माभिः ।

एवं च नित्याऽनित्यत्वादिधर्माणां वस्तुतो विरोधाऽभावेऽपि यदि कथञ्चिद्विरोधः परेणाऽभ्युपेयते, अभ्युपेयतां तर्हि बाढं, तथापि तेषामेकत्र समावेशे न किञ्चिद्बाधकं पश्यामः । कथंचिद्विरुद्धत्वेनाऽभ्युपेतानामपि नीलपीतादीनामेकत्र समावेशस्य दृष्टत्वात् इत्याहुः "विरुद्धेति" । मेचकवस्तुषु=मिश्रवस्तुषु, विरुद्धवर्णानां नीलपीतादीनां,योग=एकत्र समावेशो, हि=यतो, दृष्टः=सकलजनानुभवसिद्धः । प्रतियन्ति हि सर्वेऽपि लोकाश्चित्रमपि घटं नीलत्वपीतत्वादिना । न च तत्राऽवयवनीलादिमत्त्वैव परम्परया प्रतीतेर्विषयः, एवं सति योग्यरूपादीनां त्रुटिमात्रगतत्वापत्तेश्चित्रत्वव्यवहारस्तु नीलविशिष्टपीतादिनैकवृत्तिनीलपीतोभयादिना वा । विशिष्टाऽविशिष्टभेदं तु स्याद्वादिनो वयं न प्रतिक्षिपामः, नीलादिविभाजकोपाधीनामेव पंचभ्योऽनतिरेके तात्पर्यात् ॥७॥ [सप्तमश्लोकव्याख्या संपूर्णा]

अथ–अनेकान्ते परेषामपि संमतिमुपदिदर्शयिषवः प्रथमतः तथागतसंमतिमाविष्कुर्वन्ते–

विज्ञानस्यैकमाकारं नानाकारकरम्बितम् ।
इच्छंस्तथागतः प्राज्ञो नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥८॥

"**विज्ञाने**" ति । विज्ञानस्य संविद एकमाकारं स्वरूपं नानाकार(करम्बितं=)चित्रपटाद्यनेकाकारमिश्रितमभ्युपगच्छन् बौद्धो नानेकान्तं निराकुर्यात्=तस्यानेकान्तवादनिराकरणं न बलवदनिष्टाननुबन्धीत्यर्थः । स हि परमाणौ मानाभावात्तत्सिद्ध्यधीनस्थूलाऽवयवित्वस्याप्यसिद्धेर्नीलादेः प्रतिभासतत्राऽन्यथानुपपत्त्या विषयं विनापि वासनामात्रेण धियां विशेषाच्च ज्ञानाऽद्वैतमेव स्वीकुरुते । तच्च ज्ञानं ग्राहकतयैकस्वभावमपि ग्राह्यतयाऽनेकीभवतः स्वांशान् गृह्णदनेकमपि, इति कथं न तस्यानेकान्तवादिकक्षापंजरे प्रवेशः ? ॥८॥

अथ अनेकान्ते यौगवैशेषिकावपि संमानयंति–"**चित्रमि**" ति ।

चित्रमेकमनेकं च रूपं प्रामाणिकं वदन् ।
योगो वैशेषिको वाऽपि नानेकान्त प्रतिक्षिपेत् ॥९॥

यद्यपि–चित्ररूपाभ्युपगन्तारौ सांप्रदायिकौ नैयायिकवैशेषिकौ चित्रे घटे न रूपान्तरमभ्युपगच्छतो, नीलादिप्रतीतेरवयवनीलादिनैवोपपत्तेः । नीलादिसामग्रीसत्त्वात् तत्र नीलादिकमपि कुतो नोत्पद्यत इति चेत् ? स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलेतरादेः प्रतिबन्धकत्वात् । नीलाद्यभावस्यैव स्वाश्रयसमवेतत्वसंबंधेन विरोधित्वमिति तु वायूपनीतसुरभिभागादेर्नीरूपत्वे न शोभते । चित्रसामान्यं प्रति च रूपत्वेनैव हेतुता । न च नीलमात्रारब्धे घटे पाकनाशितावय-

---

१–अन्यत्र=अध्यात्ममतपरीक्षादौ ।

वपीतस्वचित्रेऽवयवे व्याप्यवृत्तिनीलोत्पत्तिकाले तदापत्तिः, कार्यसहभावेन तद्धेतुत्वात् । नील-नीलजनकतेजःसंयोगाऽन्यतरत्वावच्छिन्नाभावस्य वा तथात्वात् । नीलेतर-पीतेतरत्वादिनैव तद्धेतुतेत्यप्यन्ये । अग्निसंयोगजचित्रं प्रति च विजातीयतेजःसंयोग एव हेतुः, रूपमात्रजाऽतिरिक्त एव वा स हेतुः फलबलेन वैजात्यकल्पनात्, तेन नोभयजे उभयोः कारणत्वकल्पनम् । पाकजचित्रे वा मानाऽभावः, पाकादवयवे नानारूपोत्पत्त्यनंतरमेवाऽवयविनि चित्रस्वीकारे लाघवात् । चित्ररूपे रूपत्वेनैव हेतुता, नीलमात्रारब्धे तु प्रागभावाभावादेव न चित्रोत्पत्तिरिति । अस्तु वा चित्रं प्रति चित्रेतररूपाभावस्य चित्रेतरत्प्रति च चित्राभावस्य कार्यसहभावेन हेतुताऽतो नाऽतिप्रसंगः इति **रामभद्रसार्वभौमाः** ।

केचित्तु नीलेतररूपाऽसमवायिकारणत्व—पीतेतररूपासमवायिकारणत्वादिनैव चित्रं प्रति हेतुतेति पाकरूपयोः न पार्थक्येन कारणतेत्याहुः । तच्चिन्त्यम्—असमवायिकारणत्वस्याऽननुगतत्वात्, गुरुत्वाच्च । नीलादिकं प्रति नीलेतररूपादेः प्रतिबन्धकतावच्छेदकसंबंधः स्वासमवायिकारणसमवायिसमवेतत्वमेव । नचेतरत्वस्यापि सम्बन्धमध्ये निवेशाऽनिवेशाभ्यां विनिगमनाविरहः, नीलेतररूपत्वादिना स्वाश्रयसमवेतत्वसंबंधेन प्रतिबन्धकतावादिनोऽपि तुल्यत्वात् । जन्यरूपत्वावच्छिन्नं प्रति च रूपत्वेनैवाऽसमवायिकारणत्वं न तु नीलादौ नीलादेः, प्रयोजनाभावात् । न च प्राक्पक्षोक्तदोषाऽनतिवृत्तिः, संबंधाननुगमस्यादोषत्वात् । अन्यथा चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति चक्षुष्ट्वेनाऽपि कारणता न स्यात्, संयोगादिप्रत्यासत्तीनामननुगमात् ।

इत्थं च नानारूपवदवयवारब्धे चित्ररूपसिद्धिर्निराबाधा । चित्रं प्रत्यपि प्रागुक्तदिशा नीलेतरपीतेतरत्वादिनैव हेतुताऽतो न कश्चिद्दोष इति तु **न्यायवादार्थे**ऽस्मदेककल्पनाविजृम्भितम् । विजातीयं चित्रं प्रति रूपविशिष्टरूपत्वेनैव हेतुत्वं, वैशिष्ट्यं च स्वविजातीयत्व-स्वसंवलितत्वोभयसम्बन्धेन । स्ववैजात्यं च चित्रत्वातिरिक्तं यत्स्ववृत्ति तद्भिन्नधर्मसमवायित्वम्, स्वसंवलितत्वं च स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवायिवृत्तित्वम् । विजातीयचित्रं प्रति च विजातीयतेजःसंयोगत्वेन हेतुतेत्यपि कश्चित् ।

यत्तु—नीलपीतोभयाभाव-पीतरक्तोभयाभावादीनां स्वसमवायिसमवेतत्वसंबंधावच्छिन्नप्रतियोगिताकानां समवायावच्छिन्नप्रतियोगिताकानां च विजातीयविजातीयपाकोभयाभावादीनां यावत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव एकश्चित्रत्वावच्छिन्नं प्रति हेतुरिति—तन्न, प्रतियोगिकोटावुदासीनप्रवेशाऽप्रवेशाभ्यां विनिगमनाविरहात् । चित्रत्वावच्छिन्ने रूपत्वेनैव हेतुता, नीलपीतोभयजन्यचित्रत्वाऽवांतरजात्यवच्छिन्ने नीलपीतोभयत्वेनैव, त्रितयारब्धे तत्त्रितयत्वेन हेतुता, नीलपीतोभयारब्धचित्रे च नीलपीतान्यतरादीतररूपं प्रतिबन्धकमिति न त्रितयारब्धचित्रवर्ति

द्वितयारब्धचित्रापत्तिः, गौरवं तु प्रामाणिकत्वादिष्टमित्यन्ये। अत्र नीलतरनीलतमोभयत्वादिना तदुभयजन्यचित्रं प्रत्यपि हेतुता वाच्या, तत्प्रति च नीलतरनीलतमान्यतरेतररूपत्वादिना प्रतिबन्धकता तेन न नीलपीतोभयारब्धचित्रवति तदापत्तिरिति बोध्यम्।

केचित्तु नानारूपवदवयवारब्धो घटो नीरूप एव। न चैवमप्रत्यक्षः स्यात्, द्रव्यतत्समवेतचाक्षुषसाधारण्येन चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रत्येव स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्धेन रूपस्य कारणत्वात्। अत एव त्रुटिचाक्षुषानुरोधेन परमाणुद्व्यणुकयोरपि सिद्धिरित्याहुः। तच्चिंत्यम्—चित्रकपालिकास्थले तदसम्भवात्। किंच घटाकाशसंयोगाद्यचाक्षुषत्वानुरोधाय चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसंबंधेन रूपाभावस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पनमेवोचितम्। स्वावच्छिन्नगुणाधिकरणतावत्प्रत्यक्षसंबंधेन पर्याप्तिमतः स्वावच्छिन्नाधेयतावद्गुणप्रत्यक्षत्वसंबंधेन पर्याप्तिमत्त्वावच्छिन्नं प्रति हेतुत्वकल्पनेऽप्यव्यासज्यवृत्त्याकाशादिगुणाचाक्षुषत्वोपपत्तये रूपवत्त्वस्य प्रत्यासत्तिघटकत्वे गौरवात् न च चाक्षुषाभावस्यैवास्तु चाक्षुषं प्रति प्रतिबन्धकत्वं, आश्रयाचाक्षुषत्वेनैव द्व्यणुकाद्यचाक्षुषत्वोपपत्तौ महत्त्वस्यापि प्रत्यासत्त्यघटकत्वे लाघवादिति वाच्यम्—त्रुटिचाक्षुषानुरोधेन द्रव्यान्यत्वस्य प्रतिबध्यतावच्छेदककोटौ दाने गौरवात्। लौकिकविषयतावच्छिन्नचाक्षुषाभावापेक्षया समवायसंबंधावच्छिन्नरूपाभावस्य लघुत्वाच्च।

अथैवं रूपाद्युत्पत्तिक्षणेऽपि रूपादेः प्रत्यक्षं कुतो नेति चेत्? विषयाऽभावादिति गृहाण। रूपनाशक्षणे संयोगादिचाक्षुषं तु न, शपथमात्रश्रद्धेयत्वात्। इत्थं च तादृशघटस्य नीरूपत्वे तादृशघटवृत्तिसंयोगादिचाक्षुषं न स्यात्। एतेन-उद्भूतत्वस्यायोग्यव्यावृत्तधर्मविशेषस्य वा द्रव्यचाक्षुषकारणत्वेन रूपं विनाऽपि घटादिचाक्षुषत्वोपपादनेन तादृशघटस्य नीरूपत्वसमर्थनं—प्रत्याख्यातम्। त्रुटावेव विश्रामे वायोः स्पार्शनत्वे च स्पार्शनं प्रतिस्पार्शनाभावस्य प्रतिबन्धकत्वं न तु स्पर्शाभावस्य, त्रुटिसमवेतास्पार्शनानुरोधेन संयुक्तसमवायप्रत्यासत्तिमध्ये प्रकृष्टमहत्त्वस्य घटकत्वे गौरवात्। एवं च तादृशघटस्य निःस्पर्शत्वे तु न क्षतिरिति ध्येयम्।

एकदेशिनस्तु-तत्र अव्याप्यवृत्तीनि नानारूपाण्येव। न चावच्छेदकतया नीलाद्यभावादिसामग्रीबलात्पीताद्यवयवावच्छेदेन नीलाद्यापत्तिरवच्छेदकतया रूपत्वाद्यवच्छिन्नाभावस्य तथात्वेऽपि नीलपीतावयवारब्धे पीतावयवावच्छेदेन पाके रक्तोत्पत्तिकाले सा, कार्यसहभावेन तदभावात्। अवच्छेदकतया नीलादिकं प्रति समवायेन नीलादेः कारणताभ्युपगमाद्वा। नन्वेवं घटादावप्यवच्छेदकतया नीलाद्युत्पत्तिः स्यात्, सामग्रीसत्त्वादिति चेत्, ? अत्र केचित् अवच्छेदकतया नीलादिकं प्रति समवायेनाऽवयवनीलत्वादिना द्रव्यविशिष्टनीलत्वादिना वा हेतुत्वमित्याहुः। अन्ये तु—अवच्छेदकतया तद्वारणाय स्वाश्रयवृत्तिद्रव्यसमवायसंबंधेनाऽवश्यकल्प्यहेतुताकस्य नीलाद्य-

भावस्यैव तादृशघटादावभावान्नावच्छेदकतया नीलाद्युत्पत्तिः। तद्द्रव्यत्वादिना हेतुत्वे तु मूर्त्त-त्वादिना विनिगमनाविरहाद्बहुहेतुहेतुमद्भावाऽऽपत्तेरिति ध्येयम्।

केचित्तु-केवलनीलकपालादिष्ववच्छेदकतया नीलादिवारणायावयवान्तरवृत्तिनीलेतर-रूपादेः स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवायसंबंधेन हेतुत्वमभ्युपगच्छन्ति। तन्नेत्यन्ये। कपालां-तरावच्छेदेन पाकाद्रक्तरूपोत्पत्तिकालेकपालांतरविद्यमानान्नीलादेरव्याप्यवृत्तिनीलाऽनापत्तेः। रक्तोत्पत्यनंतरमेव तत्राऽव्याप्यवृत्तिनीलोत्पत्तिं स्वीकुर्वन्त्यपरे। नन्वेवमपि नानारूपवत्कपालाद्या-रब्धे घटे तत्कपालावच्छेदेन नीलाद्यापत्तिरिति चेत्? नीलकपालिकावच्छिन्नतदवच्छेदेनेष्टत्वमेव तस्याः। यत्तु-अवच्छेदकतया नीलादिकं प्रति समवायेन नीलादीनां न कारणत्वं किन्तु नीले-तररूपादीनामेव प्रतिबन्धकत्वमिति न तत् नीलाद्यवच्छेदकं किन्तु नीलकपालिकैव तादृशीति-तत्तुच्छम्—कपालनीलाद्यवच्छेदिकायाः कपालिकाया घटनीलाद्यवच्छेदकत्वाऽयोगात् नीला-दीनामपि नीलेतररूपादिप्रतिबन्धकतायां विनिगमकाभावाच्च। नीलत्वादिना प्रतिबध्यतायां लाघवं तु न पक्षपाति, प्रतिबन्धकतायामपि तत्संभवात्।

'अवच्छेदकतया नीलादिकं प्रति समवायेन नीलादिकं हेतुः, अवच्छिन्ननीलादिकं प्रति च स्वाश्रयसमवेतत्वसंबंधेन नीलाद्यभावो हेतुः' इत्यप्याहुः। सामानाधिकरण्यसंबंधावच्छिन्न-प्रतियोगिताकनीलेतराद्यभावस्यावच्छेदकतया नीलादिकं प्रति कारणता इति कश्चित्। अव्याप्य-वृत्तिरूपस्वीकार एव च "[1]मुखे पुच्छे च पांडुर" इत्यादाववच्छेदकत्वार्थिका सप्तमी संगच्छते। न चैवं नीलकपालावच्छेदेन संनिकर्षे पीतादिग्रहापत्तिः। अव्याप्यवृत्तिचाक्षुषं प्रति चक्षुःसंयो-गावच्छेदकावच्छिन्नसमवायसंबंधावच्छिन्नाधारतायाः संनिकर्षत्वस्य संयोगादिस्थले क्लृप्तत्वा-दित्याहुः।

अत्र केचित्—चित्ररूपवादिना नीलादिकं प्रति नीलेतरादीनां प्रतिबन्धकत्वं, नीलाभावा-दीनां चित्रं प्रति हेतुता च कल्प्या, अव्याप्यवृत्तिरूपवादिनाऽपि अवच्छेदकतया नीलादिकं प्रति समवायेन नीलेतरादीनां प्रतिबन्धकत्वं, केवलनीलावच्छेदकतया नीलोत्पत्तिवारणाय प्रागु-क्तद्रव्यघटितसंबंधेन नीलाभावादीनामवच्छेदकतया नीलादिकं प्रति हेतुत्वं च कल्पनीयमिति यद्यपि तुल्यं, तथापि चित्ररूपवादिमतेऽनंताऽव्याप्यवृत्तिरूपतद्ध्वंसप्रागभावाद्यकल्पनलाघवमि-त्याहुः। तत्राऽव्याप्यवृत्तिरूपवादिमते विनिगमनाविरहेण नीलेतरादिकं प्रति नीलादीनामपि

१-अयमत्र संदर्भः-एष्टव्या बहवः पुत्राः, यद्येकोऽपि गयां व्रजेत्। यजेत वाऽश्वमेधेन नीलं वा वृष-मुत्सृजेत् ॥१॥ अत्र वृषविशेषणभूतनीलपदार्थस्येयं-परिभाषा-लोहितो यस्तु वर्णेन, मुखे पुच्छे च पांडुरः। श्वेतः खुर-विषाणाभ्यां स नीलो वृष उच्यते ॥२॥ अत्र सप्तम्या अवच्छिन्नत्वार्थे संगतिः।

हेतुत्वस्य कल्प्यत्वात् तुल्यत्वोक्तेरनौचित्यात् । अव्याप्यवृत्तिरूपस्वीकारे नीलपीतवत्यग्निसंयोगान्नीलनाशात्तदवच्छेदेन रक्तं न स्यात् , रूपं प्रति रूपस्य प्रतिबन्धकत्वात् इत्यप्याहुः ।

अपरे तु–तत्र व्याप्यवृत्तिन्येव नीलपीतादीन्युत्पद्यन्ते, नीलादिकं प्रति नीलेतरादिप्रतिबन्धकत्वनीलाभावादिकारणत्वाऽकल्पनया लाघवात् । न च नीलकपालावच्छेदेन चक्षुःसंनिकर्षे पीतादेरूपलंभापत्तिः, पीतावयवाद्यवच्छिन्नचक्षुःसंनिकर्षस्य पीतादिग्राहकत्वकल्पनात् । यत्त्वेतत्कपालावच्छिन्नसंयोगादिप्रत्यक्षानुरोधेनैतत्कपालानवच्छिन्नवृत्तिकत्वे सति यत्तत्पीतान्यं तद्भिन्नं यदेतद्घटसमवेतं तस्यैतत्कपालविषयकसाक्षात्कारं प्रत्येतत्कपालावच्छेदेनैतद्घटचक्षुःसंयोगस्य हेतुत्वात् न नीलाद्यवयवावच्छेदेन चक्षुःसंनिकर्षे पीतादिचाक्षुषमिति–तन्न, तथापि नीलावयवावच्छेदेन चक्षुःसंनिकर्षे एतत्कपालाविषयकतत्साक्षात्कारापत्तेर्दुर्वारत्वात् । "**मुखे पुच्छे च पांडुर**" इत्यादौ तु मुखवृत्तिपांडुरत्वमेव परंपरयावयविनि प्रतीयत इत्याहुः ।

[1]तथाऽपि ये नीलपीतरक्ताद्यारब्धघटादौ नीलपीतरक्तेभ्य एव नीलपीतोभयज-रक्तपीतोभयजतत्त्रितयजचित्राणां चोत्पत्तिः, सर्वेषां सामग्रीसत्त्वात् , अनुभवसिद्धत्वाच्च, तत्र त्रितयजचित्रं व्याप्यवृत्ति, अन्यत्त्वव्याप्यवृत्ति, एकमेव वा तद्रूपमस्तु जातेरव्याप्यवृत्तित्वोपगमेन तु किंचिदवच्छेदेन नीलत्वपीतत्वादिकं विलक्षणचित्रत्वादिकं च व्यवह्रियते–इति येऽनुमन्यंते तदभिप्रायेणेदम्[2] । स्वयं हि ये एकत्र घटे व्याप्यवृत्त्येकं चित्रमव्याप्यवृत्तिचित्रांतरं चाभ्युपगच्छन्ति तेषामनेकान्तवादाऽनादरो न ज्यायानिति भावः इति सर्वमवदातम् ॥९॥

अथाऽनेकान्तवादप्रामाणिकतां कापिलमतेनाऽपि संवादयति "**इच्छन्न**" ति—

इच्छन् प्रधानं सत्त्वाद्यैर्विरुद्धैर्गुम्फितं गुणैः ।
सांख्यः संख्यावतां मुख्यो नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥१०॥

सत्त्वाद्यैः=सत्त्व-रजस्तमोभिः, [3]सत्त्वं लघुप्रकाशकमित्यादिकारिकालक्षितैः, विरुद्धैः गुम्फितं तत्साम्यावस्थात्वमापन्नं प्रधानमङ्गीकुर्वन् सांख्यो यदि अनेकान्तवादं निराकुर्यात् तर्हि कथं न स्वाधिरूढशाखाच्छेदनकौशलमासादयेदिति भावः ॥१०॥

---

१ एतच्छ्लोकव्याख्यांरम्भे विद्यमानं 'यद्यपी' ति पदमत्रानुसंधेयम् ।

२–'चित्रमेकमि'त्यादिश्लोकेनाऽनेकान्तसमर्थनम् । ३–"सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टंभकं चलं च रजः । गुरुवरणकमेव तमः, प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥१३॥ [सांख्यकारिका] किञ्चिद्व्याख्या-कार्योद्गमने हेतुः धर्मो लाघवम्, गौरवं प्रतिद्वन्द्वि, यथाऽग्नेः ऊर्ध्वं ज्वलनम्, कस्यचित्तिर्यग्गमनेऽपि हेतुर्यथा वायोः । एवं करणानां वृत्तिपटुत्वहेतुर्लाघवम् । सत्त्वतमसी स्वयमक्रिये रजसोपष्टभ्येते=स्वकार्ये उत्साहं=प्रयत्नं कार्येते । वरणकं=आवरकम्, आच्छादकमिति यावत् । प्रदीपवच्चेति-यथावर्त्तितैले अनिलविरोधिनी, अथ मिलिते सहानलेन रूपप्रकाशलक्षणं कार्यं कुरुत एवं सत्त्वादिन्यपि मिथो विरुद्धान्यपि अनुवर्त्स्यन्ति-स्वकार्यं करिष्यन्ति च । अर्थतः=पुरुषार्थतः ॥ इति ।

अथ लोकायतिकानां व्यवहारदुर्नयावलम्बिनां सकलतान्त्रिकबाह्यानां किं सम्मत्याऽसम्मत्या वा इति तेषामवगणनामेवाऽऽविष्कुर्वते "**विमति**" रिति—

विमतिः सम्मतिर्वापि चार्वाकस्य न मृग्यते ।
परलोकात्ममोक्षेषु यस्य मुह्यति शेमुषी ॥११॥

येषां परलोकात्ममोक्षेष्वेव मोहः तैः सह विचारान्तरविमतिसंमती अपर्यालोचितमूलारोपणकप्रसादकल्पनसंकल्पकल्पे इति भावः ।

[चार्वाकमतपूर्वपक्षः]

ते हीत्थं ब्रुवते—न खलु निखिलेऽपि संसारे भूतचतुष्टयाऽतिरिक्तं किमप्यात्मादिवस्तु विद्यते, अनुपलब्धेः । किन्तु कायाकारपरिणतं भूतचतुष्टयमेव चैतन्यमाबिभर्त्ति । **न च** प्रत्येकमचेतनानां समुदायेऽपि कथं चैतन्यमिति **वाच्यं**, मदव्यक्तिवदुपपत्तेः । **नव्यचार्वाकास्तु**—अवच्छेदकतया ज्ञानादिकं प्रति तादात्म्येन कल्प्यकारणताकस्य शरीरस्यैव समवायेन ज्ञानादिकं प्रति हेतुत्वकल्पनमुचितम् । **न चैवं** आत्मत्वं जातिर्न स्यात् पृथिवीत्वादिना सांकर्यात् इति **वाच्यम्**, उपाधिसांकर्यस्येव जातिसांकर्यस्याप्यदोषत्वात् । **न चैवं** परात्मन इव तत्समवेतज्ञानादीनामपि चाक्षुषस्पार्शने स्यातामिति **वाच्यम्**, रूपादिषु जातिविशेषमभ्युपगम्य रूपान्यतद्व्रत्वेन चाक्षुषं प्रति स्पर्शान्यतद्व्रत्वेन च स्पार्शनं प्रति प्रतिबन्धकत्वकल्पनात् । इत्थमेव रसादीनामचाक्षुषास्पार्शनत्वनिर्वाहात् । अथैवं स्वज्ञानादेरपि प्रत्यक्षं कथमिति चेत् ? मनसैवेत्यवेहि । मनःसिद्धावेव किं मानमिति चेत् ? अनुमानमेव । न चानुमानोपगमेऽपसिद्धान्तः, अनुमितित्वस्य मानसत्वव्याप्यत्वाभ्युपगमात् । आत्मनः शरीरानतिरेके संयोगस्य पृथक् प्रत्यासत्तित्वाऽकल्पनेन लाघवमपि ।

अथ द्व्यणुक-परमाणुरूपाद्यप्रत्यक्षाय चक्षुःसंयुक्तमहदुद्भूतरूपवत्समवायत्वादिना प्रत्यासत्तित्वे त्रुटिग्रहार्थं संयोगस्य प्रत्यासत्तित्वमावश्यकमेवेति चेत् ? न, द्रव्यतत्समवेतप्रत्यक्षे महत्त्वस्य समवायसामानाधिकरण्याभ्यां पृथग् नियामकत्वात् । ननु मम शरीरमित्यादिप्रतीत्यात्मनोऽतिरेकः सेत्स्यतीति चेत् ? न; उक्तलाघवबलेनेदृशप्रतीतेर्भ्रमत्वकल्पनात्, श्यामोऽहं, गौरोऽहं, इत्यादिसामानाधिकरण्यानुभवाच्च । ननु तथापि भूतचतुष्कप्रकृतित्वेन शरीरस्य पृथिव्यादिभिन्नत्वात्पृथिव्यादिचतुष्टयमेव तत्त्वमिति प्रतिज्ञासंन्यास इति चेत् ? न स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन गंधाभावस्य गन्धं प्रति प्रतिबन्धकत्वेन तस्य भूतचतुष्कप्रकृतित्वाऽयोगात्, पार्थिवादिशरीरे जलादिधर्मस्यैवौपाधिकत्वादिति दिग् । इत्थं च शरीराद्यतिरिक्तस्यात्मन एवासिद्धौ कस्य नाम परलोकः कस्य वा मोक्ष इत्याहुः—

[चार्वाकमतनिरसन-उत्तरपक्षः]

तेऽतिपापीयांसःव सोपलापित्वात् । तत्र यत्तावदुक्तं–भूतचतुष्टयातिरिक्तमात्मादि वस्तु नास्त्येवानुपलब्धेरिति तत्र केयमनुपलब्धिः? स्वभावानुपलब्धिर्वा (१), व्यापकानुपलब्धिर्वा (२), कार्यानुपलब्धिर्वा (३), कारणानुपलब्धिर्वा (४), पूर्वचरानुपलब्धिर्वा (५), उत्तरचरानुपलब्धिर्वा (६), सहचरानुपलब्धिर्वा (७)? तत्र न तावदाद्या, यतः स्वभावानुपलब्धिर्हि उपलब्धिलक्षण-प्राप्तस्य तत्स्वभावस्यानुपलंभो, भवति चैतादृशो मुंडभूतले घटादेरनुपलम्भो न तु पिशाचादेः, तस्योपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वाऽभावात् । न च सिद्ध्यसिद्धिभ्यां व्याघात, आरोप्ये तद्रूपनिषेधात् । न चादृश्यस्यापि दृश्यतयाऽऽरोप्य प्रतिषेधो युक्तः, आरोपयोग्यस्यैवाऽऽरोपसंभवात् । उपलंभ-कारणसाकल्ये सति हि यदुपलभ्यते स एव दोषवशात् क्वचित्कदाचिदारोप्यते, तादृशस्तु घटा-दिरेव न तु पिशाचादिः । एकज्ञानसंसर्गिणि प्रदेशादौ घटादेः प्रागनुभूयमानत्वात् , पिशाचा-देरतथात्वादिति स्पष्टं **स्याद्वादरत्नाकरे** । अथैवं स्तंभे पिशाचानुपलब्धिः कथं ? तत्रैकज्ञान-संसर्गितया पिशाचस्य पूर्वमननुभूतत्वेनाऽनारोप्यत्वात् इति **चेत् ? न**, योग्यसहकारिसंपन्नत्व-पर्यन्तस्य विवक्षणादत्राऽधिकरणयोग्यताया एव नियामकत्वादिति दिग् । इत्थं चात्मनि चक्षुरा-दिना स्वभावाऽनुपलब्धिर्नास्त्येवाऽऽत्मनश्चक्षुराद्ययोग्यत्वात् । मनसा तूपलब्धिरेवास्ति बाढं; अहं सुखीत्याद्यनुभवस्य सार्वजनीनत्वात् (१) ।

न द्वितीयतृतीये, व्यापककार्यज्ञानाद्युपलंभादेव । कारणाद्यनुपलंभस्तु कार्यपूर्वोत्तरनिषे-धकत्वादात्मनश्चानीदृशत्वात् न बाधकः (२–३–४–५–६) । सहचरानुपलब्धिरपि नास्ति आत्म-सहचराणां चेष्टादीनां बाढमुपलंभादेव । किं च परस्परसांकर्यस्याऽन्योन्याभावाऽनभ्युपगमे दुःपरि-हरत्वाद्भूतचतुष्टयमपि लोकायतिकेन कथंकारमुपपादनीयम् ? यदपि मदव्यक्तिवच्छरीरे ज्ञानो-त्पादाभिधानं तदपि तुच्छं, प्रत्येकमपि क्रमुकादिष्वस्माभिर्मदशक्तेः स्वीकारात् , त्वया पुनरनु-मानापलापिना प्रत्येकं भूतेषु ज्ञानशक्तेः स्वीकर्त्तुमशक्यत्वात् ।

यदपि **नव्य-चार्वाकमतानुयायिभिरूचे** अवच्छेदकतयेत्यादिना, तत्तु-नैयायिकैरेव पराकृतम् । तथाहि-ज्ञानादेः प्रत्यक्षं तावत् सार्वजनीनं, तत्तु न चाक्षुषादिकं, चक्षुराद्यव्यापारे-ऽपि जायमानत्वात् । न च मानसमेव, मनसोऽनुमानापलापेऽभ्युपगन्तुमशक्यत्वात् । अथ परामर्शजन्यज्ञानाभ्युपगमेऽपि तत्रानुमितित्वे मानाऽभावात् सर्वप्रमायाः प्रत्यक्षरूपत्वान्न प्रमा-भेदाधीनः प्रमाणभेदः इति एतावदेवाभिमतमिति चेत्? न, 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः' एतादृश-निश्चयस्यैतदुत्तरदहनानुमितित्वस्य जन्यतावच्छेदकत्वेन धर्मविशेषसिद्धौ धर्मिविशेषसिद्धेः । नचै-तदुत्तरज्ञानत्वमेव तज्जन्यतावच्छेदकं, अप्रामाण्यज्ञानशून्यतादृशनिश्चयं विनापि तदवच्छिन्नसंदेह-संभवेन व्यभिचारात् । विशिष्टाऽव्यवहितोत्तरत्वदाने च गौरवात् । **यत्त्वप्रमाण्यज्ञानाभावस्य**

पृथक्कारणत्वान्नायं दोष इति, तन्न, तत्तद्व्यक्तित्वेनाप्रामाण्यग्रहाभावानां तत्तदप्रामाण्यग्रहाभाव-विशिष्टधूमादिलिङ्गकानुमितिं प्रति हेतुत्वकल्पनापेक्षया सामानाधिकरण्यविशिष्टविशेष्यतासंबंधावच्छिन्नप्रतियोगिताकाप्रामाण्यग्रहाभावानामवच्छेदकत्वकल्पनौचित्यात् । यत्तु वह्निमनुमिनोमीत्यनुव्यवसायेनानुमितित्वसिद्धिरिति, तन्न, तत्र विधेयताविशेषस्यैव विषयत्वात् । अन्यथा पर्वतमनुमिनोमीत्यपि स्यात् । परामर्शजन्यतावच्छेदकतायामपि स एव प्रवेश्यतामिति चेत् ? न, तदीयसंबंधापेक्षयाऽनुमितित्वीयसंबंधस्य समवायरूपस्य कार्यतावच्छेदकत्वे लाघवात् ।

ननु तथापि अनुमितित्वस्य मानसत्वव्याप्यत्वमेवेति प्रागंगीकृतम् । न चानुमितेः साक्षात्कारत्वे वह्निं न साक्षात्करोमिति प्रतीतिः कथमिति वाच्यं, तत्र लौकिकविषयतया साक्षात्कारभावादेव गुरुत्वादाविव तदुपपत्तेः । अत एव लौकिकविषयतावत्येव साक्षात्करोमीति प्रतीत्युत्पत्तेः पीतं शंखं साक्षात्करोमीत्यादिप्रतीतिबलाद्दोषविशेषजन्यतयापि लौकिकविषयतां कल्पयन्ति **ग्रान्थिकाः** । युक्तं चैतत्-चाक्षुषादिसामग्रीसत्त्वे मानसत्वरूपव्यापकधर्मावच्छिन्नसामग्र्याभावादेवानुमित्यनुदयोत्पत्तौ अनुमितित्वादेस्तत्प्रतिबध्यतावच्छेदकत्वाऽकल्पनेन लाघवात् ।

अथानुमित्साद्युत्तेजकभेदेन विभिन्नरूपेण प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव आवश्यक इति **चेत्** ? न, तत्तदिच्छानंतरोपजायमानभिन्नमानसे जातिविशेषं स्वीकृत्य तदवच्छिन्नं प्रति मानसान्यसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वकल्पनादनुमितित्वादेर्मानसवृत्तित्वकल्पनौचित्यात् । अथ तत्तदिच्छाविरहकाले तत्तदिच्छानंतरोपजायमानमानसापत्तिरिति चेत् ? न, तादृशमानसं प्रति तत्तदिच्छानां हेतुत्वात् । न चैवं गौरवं, फलमुखत्वात् ।

अथ सुस्मूर्षाद्यनंतरोपजायमानभिन्नज्ञाने जातिविशेषं स्वीकृत्य तदवच्छेदेन चाक्षुषादिसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वेऽनुमितित्वादेः परोक्षवृत्तित्वमेवाऽस्तु इति **चेत्** ? न, तदवच्छेदेन स्मृत्यन्यज्ञानसामग्र्या एव प्रतिबन्धकत्वात् तज्जातिविशेषस्य स्मृतित्वव्याप्यस्यैव युक्तत्वात् । तज्जातिवदन्यज्ञानसामग्रीत्वादीना प्रतिबन्धकत्वेऽपि विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानजन्यतावच्छेदकतया सिद्धस्य प्रत्यक्षस्यैवानुमितौ युक्तत्वात् इति **चेत्** ? अत्र वदन्ति-तदानीं वह्निमानसस्वीकारे लिङ्गादीनामपि मानसाऽऽपत्तिः । न चा[1]ऽऽचार्यमत इव तत्र तद्धानमात्रे इष्टापत्तिः एवमप्युच्छृंखलोपस्थितानां घटादीनां तत्र भानाऽऽपत्तेः । न च तद्धर्मिकतत्संसर्गक तत्तद्धर्मावच्छिन्नव्याप्यवत्ताज्ञानात्मकपरामर्शादिरूपविशेषसामग्रीविरहात् न तदापत्तिरिति वाच्यं, सामान्यसामग्रीवशात्तदापत्तेः । न च घटमानसत्वस्य परामर्शादिप्रतिबध्यतावच्छेदकतया न

१-उदयनाचार्यमत इव ।

तदापत्तिः, पटमानसत्वादेरप्युच्छृंखलोपस्थितपटादिभानवारणाय तत्प्रतिबध्यावच्छेदकत्वेऽनंतप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावकल्पनाऽऽपत्तेः ।

अथ भोगपरामर्शजन्यभिन्नज्ञाने जातिविशेषं स्वीकृत्य तदवच्छिन्नमानसं प्रति तज्जातीयान्यज्ञानसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वान्न तदानीं वह्नीतरज्ञानाऽऽपत्तिरिति चेत्? न, मानसत्वस्यैव तत्प्रतिबध्यतावच्छेदकत्वौचित्यात्। नचैवं अनुमितिसामग्रीसत्त्वां भोगोऽपि कथं भवेदिति वाच्यं, भोगान्यज्ञानप्रतिबंधकतावच्छेदकतया समानीतजातिविशेषवतां सुखदुःखानामुत्तेजकत्वात्। न च तादृशसुखदुःखकालेऽनुमितिसामग्रीभूतपरामर्शादौ समवायेन तदभावादनुमित्यापत्तिः, सामानाधिकरण्य-कालिकोभयसंबंधावच्छिन्नतदभावस्य निवेशात्।

अत्रेदं चिन्त्यम्—अनुमितिसामग्र्या मानसं प्रति प्रतिबंधकत्वस्य तत्तदिच्छारूपोत्तेजकभेदेन विशिष्यविश्रान्त्यानुमितेर्मानसत्व एव वह्न्यादिधर्मिकमानसं प्रत्यप्रतिबंधकत्वकल्पनया लाघवम्, तत्तदिच्छोपजायमानभिन्ने प्रतिबध्यतावच्छेदकजातिस्वीकारस्तु परामर्शजन्यभिन्नेऽपि स्वीकर्तुं शक्यते इति न वह्न्याद्यनुमितिसामग्रीकाले उच्छृंखलोपस्थितघटादिभानवारणाय मानसत्वस्य तत्तत्प्रतिबध्यतावच्छेदकत्वकल्पनौचित्येनानुमितेरप्रत्यक्षत्वाभिधानं युक्तमिति ।

प्राञ्चस्तु-उपनीतभानस्थले विशेषणज्ञानविशिष्टबुद्ध्योः कार्यकारणभावेनैवास्माकं चरितार्थता। अनुमितेर्मानसत्वव्याप्यतावादे तु पक्षादेर्मुख्यविशेष्यतयैव भानान्नानेन गतार्थता, इत्यतिरिक्तकार्यकारणभावकल्पने गौरवमित्याहुरिति दिग्।

सिध्यतु वा यथाकथंचित् मनः अनुमानेन, तथापि यत्संयोगव्यतिरेकात् सुषुप्तिकाले कार्यानुत्पादस्तस्यैव मनस्त्वात्तस्य च भौतिकाणुत्वे पृथिवीत्वजलत्वादौ विनिगमनाविरहात्, नव्यनये पृथिव्यादेरपि रूपवत्त्वाभावेन वायुत्वेऽपि विनिगमनाविरहादतिरेकसिद्ध्या भूतचतुष्टयमात्रस्य पदार्थत्वप्रतिज्ञासंन्यासात्। न चात्मनः शरीरानतिरेके संयोगादेः पृथक् प्रत्यासत्तित्वाकल्पनलाघवमपि, परमाणौ पृथिवीत्वादिग्रहवारणाय महत्त्वोद्भूतरूपयोः प्रत्यासत्तिमध्येऽवश्यं निवेश्यत्वेन त्रुटिग्रहार्थं तत्स्वीकारात्, इत्यन्यत्र विस्तरः ।

किंच शरीरस्यात्मत्वेऽहमात्मेतिवदहं शरीरमिति प्रत्ययोऽपि प्रमा स्यात्, न स्याच्चाहमात्मवानितिवदहं शरीरवानित्यपि। अपि च [१]-एगे आया इत्याद्यागमोऽप्यात्मानमुद्योतयतीति । स चायं "चैतन्यस्वरूपः परिणामी कर्ता साक्षाद्भोक्ता स्वदेहपरिमाणः प्रतिक्षेत्रं भिन्नः पौद्गलिकादृष्टवांश्चेति" [२]सूत्रम् इत्थश्चात्मनः सिद्धौ तत्सिद्ध्यधीनौ परलोकमोक्षावपि सिद्धावेव। ननु मोक्षश्चेदशेषविशेषगुणोच्छेदरूपस्तर्हि तत्र कस्यापि प्रवृत्तिर्न स्यात्, विशेषगुणोच्छेदत्वस्याऽनिष्ट-

---

१-स्थानांगसूत्रं प्रथमम्। २ प्रमाणनयतत्त्वालोक-परि० (७) सू० (५६)।

तावच्छेदकत्वात् । अथ दुःखध्वंसत्वमेव काम्यतावच्छेदकमिति चेत् ? न, समनियताभावानामैक्येन तदानींतनसुखदुःखध्वंसयोरैक्याद्दुःखध्वंसे सुखध्वंसत्वरूपाऽनिष्टतावच्छेदकज्ञानस्य प्रवृत्तिप्रतिबन्धकत्वात् । अथ नित्यनिरतिशयसुखाभिव्यक्तिरूपः स इति चेत् ? न, तादृशसुखे मानाभावादिति चेत् ? अत्राहुः—'कृत्स्नकर्मक्षय एव मोक्षः' । स च सूक्ष्मजुसूत्रनयाऽर्पणया नित्यसुखाभिव्यक्तिक्षणस्वरूपो, व्यवहारनयार्पणया नित्यसुखस्वरूपः, प्रमाणार्पणया तु द्रव्यपर्यायोभयस्वरूप इति दिग् । काम्यतावच्छेदकं तु विजातीयसुखत्वमेव । न च नित्यसुखे प्रमाणाभावः, आगमस्यैव मानत्वात् । न च सुखत्वावच्छेदेन शरीरादीनां कारणत्वात्तादृशं सुखं कथमिति वाच्यं, एवं सति परेषामीश्वरादौ नित्यज्ञानादिकमपि न सिध्येत्, ज्ञानत्वाद्यवच्छेदेनात्ममनोयोगादीनां कारणत्वावधारणात् । प्रमाणान्तरान्नित्यज्ञानादिसिद्धौ कार्यतावच्छेदकसंकोचश्चान्यत्रापि तुल्य इति दिग् ।

मीमांसकास्तु प्रायशोऽनेकान्तवादात्स्वयमेव न पराङ्मुखा इति न तेषां पृथक् संमत्यनुक्त्या न्यूनत्वमिति ध्येयम् ॥११॥

इत्थमनेकान्तवादं परेषामपि संमत्या प्रमाणयित्वा संप्रति वस्तुस्वरूपमाहुः **"तेनेति"**—

तेनोत्पादव्ययस्थेमसंभिन्नं गोरसादिवत् ।
त्वदुपज्ञं कृतधियः प्रपन्ना वस्तु वस्तुसत् ॥१२॥

तेन प्रागुक्तयुक्त्या परेषामपि संमत्या च कृतधियः सत्परीक्षादक्षाः त्वदुपज्ञं त्वदंगीकृतमेव वस्तुसत्=पारमार्थिकं वस्तु प्रपन्नाः अंगीकृतवन्तः । कीदृशं वस्तु ? उत्पादव्ययध्रौव्यसंभिन्नमेतत्त्रितयस्वभावमित्यर्थः । अयं भावः—द्रव्यस्योत्पादोच्छेदध्रौव्यैक्यपरिणामः स्वभावस्तथा च पारमर्षे—"**उपन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ व**" त्ति यथैव हि द्रव्यवास्तुनः सामस्त्येनैकस्यापि विष्कंभक्रमप्रवृत्तिवर्त्तिनः सूक्ष्मांशाः प्रदेशास्तथैव हि द्रव्यवृत्तेः सामस्त्येनैकस्या अपि प्रवाहक्रमप्रवृत्तिवर्त्तिनः सूक्ष्मांशाः परिणामाः । यथा च प्रदेशानां परस्परव्यतिरेकनिबन्धनो विष्कंभक्रमः तथा परिणामानां परस्परव्यतिरेकनिबंधनः प्रवाहक्रमोऽपि । यथैव च ते प्रदेशाः स्वस्थाने स्वरूपपूर्वरूपाभ्यामुत्पन्नोच्छन्नत्वात्सर्वत्र परस्परानुस्युतिसूत्रितैकवास्तुतयानुत्पन्नप्रलीनत्वाच्चोत्पत्तिव्ययध्रौव्यत्रितयात्मकमात्मानं बिभ्रति तथैव ते परिणामाः स्वावसरे स्वरूपपूर्वरूपाभ्यामुत्पन्नोच्छन्नत्वात्सर्वत्र परस्परानुस्युतिसूत्रितैकप्रवाहतयाऽनुत्पन्नप्रलीनत्वाच्चोत्पत्तिव्ययध्रौव्यत्रितयात्मकमात्मानं बिभ्रति । यथैव च य एव पूर्वप्रदेशोच्छेदनात्मको वास्तुसीमान्तः स एव हि तदुत्तरोत्पादात्मकः, स एव च परस्परानुस्युतिसूत्रितैकवास्तुतया तदुभयात्मक इति तथैवात्रापि य एव पूर्वपरिणामोच्छेदनात्मको वृत्तिसीमान्तः, स एव तदुत्तरोत्पादात्मकः, स

एव च परस्परानुस्युतिसूत्रितैकवृत्तितया तदुभयात्मक इति । दृष्टान्तोऽत्र मुक्तादाम । यथा दीर्घे लम्बे मुक्तादामनि सर्वेष्वपि स्वधामसूत्रकसत्सु मुक्ताफलेषु उत्तरोत्तरेषु धामसूत्तरोत्तरमुक्ताफलानामुदयनात् पूर्वेषां पूर्वेषां चानुदयनात् सर्वत्राऽपि परस्परानुस्युतिसूत्रकसूत्रस्यावस्थानाच्च त्रैलक्षण्यं प्रसिद्धं तथात्रापि ध्येयमिति ।

अत्र निश्चयतः प्रदेशादीनामुत्पत्तिनाशसंभवेऽपि व्यवहारतः परिणामानामेव तौ । यदवच्छेदेन च ध्रौव्यं तदवच्छेदेन तु नोत्पत्तिनाशौ, अन्यथा संकरापत्तेः । उत्पादव्यययोः द्रव्यत्वं तु स्वावलंबितपर्यायालंबनत्वाद्बोध्यम् । उत्पाद-स्थितिभंगाश्च न परस्परं सर्वथा भिन्नाः कुंभसर्गमृत्पिडंसंहारमृत्तिकास्थितीनामैक्येनैवानुभवनात् । द्रव्यस्य स्थितिकाल एव च पर्यायाणामुत्पत्तिनाशसंभवान्न क्षणभेदोपीति परमसमयामृतास्वादोद्गारः । इत्थं च सर्वेषां द्रव्याणामेकस्वभावत्वेऽप्ययं कश्चिद्विशेषो यदिह पुद्गलजीवद्रव्य एव परपरीणामाद्वैचित्र्यमनुभवतः । भवन्ति हि यथा परमाणवः स्निग्धरुक्षत्वादिविशेषेण परस्परमेकीभवंतो द्व्यणुकत्र्यणुकादिसमानजातीयद्रव्यपर्यायभाजो रागद्वेषादिप्रवृत्तिपारतंत्र्येणात्मानश्चासमानजातीयद्रव्यपर्यायभाज इति नह्येवमाकाशादय इति दिग् ।

नन्वेकस्मिन समये विरुद्धोत्पत्त्यादिधर्मसमावेशः कथमित्याशंकायां दृष्टान्तमाहुः गोरसादिवदिति । यथाहि गोरसे स्थायिनि पूर्वदुग्धपरिणामविनाशोत्तरदधिपरिणामोत्पादौ प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धत्वान्न विरुद्धौ, तदुक्तं "[1]पयोव्रती न दध्यत्ती" त्यादि, तथेहापि द्रव्ये सर्वदा स्थायिनि पूर्वपरिणामोच्छेदोत्तरपरिणामोत्पादौ प्रतीतिबलादेव न विरुद्धाविति भाव इति श्रेयः श्री ॥१२॥

[**अथ ग्रन्थकार प्रशस्त्यादि**]–स्याद्वादोपनिषन्निषण्णविलसद्युक्तिप्रचारेऽपि या, युत्पत्त्यै दधिरेऽत्र काश्चन महन्नैयायिकप्रक्रियाः । किं चित्रं भुवि चातुरीपरिचितप्रेमाभृतास्वादिनां, तत्रास्मद्गुरवो **नयादिविजयप्राज्ञाः** प्रसन्ना यदि ॥१॥ सोयं श्री**तपगच्छ**मंडनमभूत् श्री**हीरसूरीश्वरो**, रंभागीतजगद्गुरुत्वबिरुदप्रद्योतमानोदयः । यस्य श्रीमद**कब्बर**प्रतिहतप्रत्यर्थिसीमंतिनी नेत्रास्त्रैर्मलीनीकृतामपि महीं कीर्त्तिः सितामातनोत् ॥२॥ **सूरिश्रीविजयादिसेन**सुगुरुस्तेजस्विनामग्रणीस्तत्पट्टोदयपर्वते स्म नितमां पुष्णाति पूष्णः प्रभाम् । अंशायातदिगीशवृंदमहसो दिल्लीपतेः पर्षदि ध्वस्ता येन न के कुवादिनिवहा ध्वान्तप्रबन्धा इव ॥३॥ **सूरिः श्रीविजयादिदेव**सुगुरुः प्रद्योतते सांप्रतं, तत्पट्टैकविभूषणं मुनिजनस्तुत्यक्रमांभोरुहः । सायुज्यं भजतोऽनुमेयवसति भालेन शीतद्युता, यं सेवत्यलमष्टमी प्रतिदिनं तादृक् तपोदर्शनात् ॥४॥

---

[1]–पयोव्रती न दध्यत्ति, न पयोऽत्ति दधिव्रतः । अगोरसव्रतो नोभे, तस्मात्तत्वं त्रयात्मकम् ॥ शास्त्रवार्त्तासमुच्चये स्त० ७ श्लो० ३ ।

भाति श्रीविजयादिसिंहसुगुरुर्नाम्ना समानौजसा, तत्पट्टाभरणीभविष्णुरनिशं योगीन्द्रहृत्-पङ्करे । विंध्याद्रौ द्विषतां कुकीर्तिनिवहे तस्मात्सुखं शेरतां, चंचत्चंचलकर्णतालरचनादिक्कुंजराः कातराः ॥५॥ न्यायालंकृतिकाव्यनाटकमहच्छंदःककुच्चेलगीर्जैनग्रंथपिचंडिला किल मतिर्येषां जजृंभेतराम् । श्रीमद्वाचकपुंगवा समभवन् श्रीहीरसूरीशितु श्रीकल्याणविराजमानविजयाः शिष्याः जयश्रीभृतः ॥६॥ श्रीहेमसूरितुलनां दधतः शब्दानुशासनोग्रधिया । श्रीलाभविजय-विबुधास्तेषां शिष्योत्तमाः शुशुभुः॥७॥अभवन् तेषां शिष्या विबुधाः श्रीजीतविजयनामानः । राजंति तत्सतीर्थ्याः श्रीनयविजयाभिधाः विबुधाः ॥८॥ स्याद्वादरहस्यमिदं व्यधायि तत्पादपद्मभृंगेण । जसविजयाऽभिधगणिना शिष्येण नवीनतर्कधिया ॥९॥

श्रीस्याद्वादरहस्यग्रंथः संपूर्णः । संवत् १७०१ जसविजयेनांतरपल्ल्यां कृत इति श्रेयः ।

अंतरपल्यां प्रकरणमेनमनुस्मृत्य तर्कशास्त्राणि । अध्यात्ममतपरीक्षादीक्षादक्षो यतिर्व्य-तनोत् ॥१॥ श्री । स्वैरमिदमुपादातुं कृतत्वरा एव सज्जना जगति । परहितमात्रैकफला गुण-गृह्यानां यतो वृत्तिः ॥२॥ श्री ।

[संपूर्णः]

[सम्पादकीय निवेदन]

श्रीराजनगरे श्रीमद्विजयदानसूरिज्ञानमंदिरे पठित्वा संपूर्णोऽयं ग्रन्थः सद्गुरु-कृपया सम्पादितः, श्रीमद्यशोविजयहस्ताक्षरीयादर्शात् संवद् २०३० वर्षे पोषमासे कृष्णसप्तम्यां मकरसंक्रान्तिदिवसे श्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वरपट्टविभूषकाचार्यदेवपूज्य-श्रीमद्विजयभुवनभानुसूरीश्वराणां प्रशिष्येण ॥ शुभं भूयात् श्रीसंघस्य ॥

परिशिष्ट १–वीतरागस्तोत्राष्टमप्रकाशः ।

सत्त्वस्यैकान्तनित्यत्वे कृतनाशाऽकृतागमौ ।
स्यातामेकान्तनाशेऽपि कृतनाशाऽकृतागमौ ॥१॥
आत्मन्येकान्तनित्ये स्यात् न भोगः सुखदुःखयोः ।
एकान्ताऽनित्यरूपेऽपि न भोगः सुखदुःखयोः ॥२॥
पुण्यपापे बन्धमोक्षौ, न नित्यैकान्तदर्शने ।
पुण्यपापे बन्धमोक्षौ, नाऽनित्यैकान्तदर्शने ॥३॥
क्रमाऽक्रमाभ्यां नित्यानां, युज्यतेऽर्थक्रिया न हि ।
एकान्तक्षणिकत्वेऽपि युज्यतेऽर्थक्रिया न हि ॥४॥
यदा तु नित्यानित्यत्वरूपता वस्तुनो भवेत् ।
यथात्थ भगवन्नैव तदा दोषोऽस्ति कश्चन ॥५॥
गुडो हि कफहेतुः स्यान्नागरं पित्तकारणम् ।
द्वयात्मनि न दोषोऽस्ति गुडनागरभेषजे ॥६॥
द्वयं विरुद्धं नैकत्राऽसत्प्रमाणप्रसिद्धितः ।
विरुद्धवर्णयोगो हि दृष्टो मेचकवस्तुषु ॥७॥
विज्ञानस्यैकमाकारं नानाकारकरम्बितम् ।
इच्छंस्तथागतः प्राज्ञो नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥८॥
चित्रमेकमनेकं च रूपं प्रामाणिकं वदन् ।
योगो वैशेषिको वाऽपि नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥९॥
इच्छन् प्रधानं सत्वाद्यैर्विरुद्धैर्गुम्फितं गुणैः ।
सांख्यः संख्यावतां मुख्यो नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥१०॥
विमतिः सम्मतिर्वापि चार्वाकस्य न मृग्यते ।
परलोकात्ममोक्षेषु यस्य मुह्यति शेमुषी ॥११॥
तेनोत्पादव्ययस्थेमसंभिन्नं गोरसादिवत् ।
त्वदुपज्ञं कृतधियः प्रपन्ना वस्तु वस्तुसत् ॥१२॥

[सम्पूर्णः]

परिशिष्ट–२ विशेषनाम्नां सूचिः

नाम	पृष्ठांक
अकब्बर	३२
आकर	१४
आचार्यमत	३१
आन्तरपल्ली	३३
उदयन	५,
एकदेशी	२४
कल्याणविजय	३३
कापिलमत	२६
ग्रान्थिक	२१
चार्वाक	८, २७
जसविजय	८, ३३
जीतविजय	३३,
तपगच्छ	३२,
तौतातिक	१६,
दिगम्बर	४, २१
दीधितिकृत्	४,
न्यायवादार्थ	७,
न्यायनय	१३
नयविजय	३२, ३३,
नव्यचार्वाक	२७, २८,
नव्यनैयायिक	१८
नैयायिक	९,
पार्श्वनाथ	१,
बृहत्कल्पवृत्ति	२१,
बौद्ध	७, २२,
मणिकृत्	२,
मीमांसक	३१
यशोविजय	१०
रत्नाकरावतारिका	१०
रामभद्रसार्वभौम	२३
लाभविजय	३३
वर्धमान	२०
विजयादिदेव(सूरि)	३२
विजयादिसिंह सूरि)	३३
विजयादिसेन(सूरि)	३२
विन्ध्य	३३
वैशेषिक	२२
श्रीपूज्यलेख	४, १४,
स्याद्वादरत्नाकर	२८
स्याद्वादरहस्य	१, ३३,
स्वतन्त्र	१८,
सप्तभङ्गीतरंगिणी	१४,
सांख्य	५,
हीरसूरीश	३२, ३३,
हेमसूरि	१,८,१०,३३,

परिशिष्ट ३–उद्धरणानि

पृष्ठांक:

१ 'अण्णं घडाउ०' [श्रीपूज्यलेख] ४
२ 'असदकरणा०' [सांख्यकारिका-९] ५
३ 'आनन्दं ब्रह्मणो०' [ ] ८
४ 'उपन्नेइ वा०' [आवश्यक चूर्णि] ... — ३१
५ 'एकत्र०' [ ] ३
६ 'एकत्र वस्तुनि०' [प्र० न० ४-१४] १३
७ एगे आया' [स्थानांगसूत्र-१] ३०
८ 'केवलविन्नेयत्थे'० [ ] — — २१
९ 'चैतन्य स्वरूप:०' [प्र० न० ७-५६] ३०
१० 'नित्यं विज्ञान०' [तैत्ति० आर०] — ... ८
११ 'प्रमाणप्रतिपन्न०' [प्र० न० ४-४४] १३
१२ 'पन्नवणिज्जा०' [बृहत्कल्पवृत्ति] — ... २१
१३ 'पयोव्रतो०' [शा० वा० ७-३] — ३२
१४ 'मुले पुच्छे०' [ ] २५,२६,
१५ 'शक्यादन्येन०' [ ] १०
१६ 'सद्दव्वं सच्च०' [प्रव०सार-२-१५] ५
१७ 'सविवेव हि०' [ ] ५

卐

महामहोपाध्याय–न्यायविशारद–
न्यायाचार्य–स्वपरसमयरहस्यवेदि–वादसमरकेसरि
पंडितशिरोमणी–श्रीमद्यशोविजय–प्रकाशितम्

(मध्यम)

॥ स्याद्वादरहस्यम् ॥

सकलवाचककुलालंकारहारमहोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्यमुख्यपण्डितश्रीलाभविजयगणिशिष्यमुख्यपण्डितश्रीनयविजयगणिगुरुभ्यो नमः ।

(मङ्गलम्)

ऐँकारस्फारमंत्रस्मरणकरणतो याः स्फुरन्ति स्ववाचः,
स्वच्छा एताश्चिकीर्षुः सकलसुखकरं पार्श्वदेवं प्रणम्य ।
वाचाटानां परेषां प्रलपितरचनोन्मूलने बद्धकक्षो,
वाचां श्रीहेमसूरेर्विवृतिमतिरसोल्लासभाजां तनोमि ॥१॥

इह हि निखिलकुवादिकुतर्कसंतमसच्छन्नं जगतः शुद्धनयलोचनमुन्मिमीलयिषवः श्रीहेमसूरयो यथावस्थितार्थव्यवस्थापनद्वारा भगवन्तं स्तोतुमुपक्रमन्ते "सत्त्वस्ये"ति—

[कलिकालसर्वज्ञ–श्री हेमचन्द्रसूरि–विरचित-वीतरागस्तोत्राऽष्टमप्रकाशः]

सत्त्वस्यैकान्तनित्यत्वे कृतनाशाऽकृतागमौ ।
स्यातामेकान्तनाशेऽपि कृतनाशाऽकृतागमौ ॥१॥

[विप्रतिपत्तिप्रदर्शनम्]

अत्र 'सत्त्वमेकान्तनित्यं न वे'ति न विप्रतिपत्तिः, स्वमते एकान्तनित्यत्वकोट्यप्रसिद्धेः । किन्तु 'नित्यत्वमनित्यवृत्ति नवा, अनित्यत्वं नित्यवृत्ति न वे'त्यादिरूपा । न चैवमपि तद्भावाऽव्य-

यत्वरूपं नित्यत्वं परमतेऽ**प्रसिद्धं**, नित्यव्यवहारविषयत्वेनैव तस्योपन्यासात् । **सत्त्वस्य**=पदार्थत्वेनोभयमतसंप्रतिपन्नस्य, 'उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकस्ये'ति व्याख्यानं तु स्वमतावष्टम्भेन शोभते, परमते धर्मितावच्छेदकाऽनिश्चयात् । **"एकान्तनित्यत्वे"**ऽनित्यत्वाऽसंभिन्ननित्यत्वे, **'कृतनाशो'** घटादिपर्यायाणां कुंभकारादिकृतानां सर्वथा नाशः स्यात्, अनित्यस्य नित्यत्वविरोधात् । घटादीनामनित्यत्वे च बहुवादिनामविवादात् ।

परमाणूनामाकाशादीनां च सर्वथा नित्यत्वं, स्थूलपृथिव्यादिचतुष्टयस्य तु सर्वथाऽनित्यत्वमिति हि परमतनिगर्वः । एतच्च प्रत्यक्षविरुद्धम्, नहि कंबुग्रीवत्वादिनै(ने)व 'मृत्त्वेनापि घटो नष्ट' इति कश्चित्प्रत्येति, प्रत्युत 'पूर्वमयमेव मृत्पिंडस्तत्कंबुग्रीवत्वादिनासीदि'ति सर्वोऽपि प्रत्यभिजानीते । **न चेयं** विशेषणाऽभावमेव विषयीकुरुते, विशेष्ये लुङर्थान्वये बाधकाभावात्, प्रतीतिप्रामाण्याच्च । **यत्तु** 'यदि ह्यतीतविशेषणावच्छेदेन विद्यमानस्यैव विशेष्यस्य ध्वंसः स्यात्तदा क्षणरूपाऽतीतविशेषणावच्छिन्नत्वेन प्रतिक्षणं घटस्य विनाशः स्यादि'त्यभिदधे **मणिकृता; तत्तु** तादृशक्षणभंगस्य दोषाऽनावहत्वात्तदीयैरेव **दूषितम्** । **यत्तु**—'कपालादिसमवेतनाशं प्रति कपालादिनाशस्य कारणत्वात्कथं कपालादिनाशादर्वागतीतविशेषणावच्छेदेनापि घटध्वंससंभव इति' **तत्तुच्छं**, कपालकदम्बकोत्पत्तिरूपस्य घटनाशस्य तदानीमनभ्युपगमात् । तत्तत्क्षणावच्छिन्नघटादिनाशस्य तु तत्तदुत्तरक्षणादिरूपस्य पूर्वक्षणाधीनात्मलाभस्य कपालनाशात् पूर्वमपि संभवे बाधकाभावात् । **कश्चित्तु** 'संसर्गावच्छिन्न-किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्याभावस्यात्यंताभावत्वनियमान्न प्रागुक्तप्रतीतेर्विशेषणावछिन्नविशेष्यध्वंसविषयत्वमि'ति **तत्तुच्छं**, यदुत्पत्तौ कार्यस्यावश्यं विपत्तिस्तस्यैव प्रध्वंसत्वाऽभ्युपगमात् ।

ननु 'यदुत्पत्तावि'त्यत्र सप्तम्यर्थः पूर्वकालत्वं निमित्तत्वं वाऽनुपपन्नं, कपालपाकेरुत्पत्तेः प्रागुत्तरं वा घटविपत्तेरनभ्युपगमात्, तदुत्पत्तिसमय एव प्रत्युत तदभ्युपगमात् । **किञ्च**, विपत्तिपदार्थस्यैवात्राऽपरिचयस्तस्य प्रध्वंसातिरिक्तस्य वक्तुमशक्यत्वादिति **चेत्** ? **न**, अवश्यं यदुत्पत्तिप्रयोज्या यदनुपलब्धिः स तत्प्रध्वंस इत्यर्थात् ।

[नयप्रमाणाभ्यां ध्वंसस्वरूपविचारः]

तत्र **ऋजुसूत्रनये** उपादेयक्षण एवोपादानप्रध्वंसः । **न च** द्वितीयादिक्षणेष्वेवं ध्वंसस्याऽभावेन घटस्य पुनरुन्मज्जनापत्तिः, ध्वंससंतानाऽभावस्यैव तदापादकत्वात् । अत एव प्रागभावस्यापि पूर्वक्षततत्क्षणरूपत्वेऽपि नादिमक्षणरूपप्रागभावोपमर्दनात्मकत्वेन द्वितीयक्षणस्य ध्वंसत्वप्रसङ्गः, प्रागभावोपमर्देनैव ध्वंसात्मलाभात् । **व्यवहारनये** तु घटोत्तरकालवर्त्तिमृदादिस्वद्रव्यं घटप्रध्वंसः । घटपूर्ववर्त्तिनि मृदादिस्वद्रव्येऽतिव्याप्तिवारणाय 'घटोत्तरकालवर्ती'ति । घटोत्तरकालवर्तिन्यपि मृदादिसंतानांतरे तद्वारणाय 'स्वे'ति । समनियताभावस्त्वेक एवेति भावः ।

एतेन 'कपालस्यैव घटध्वंसरूपत्वे घटप्रागभावकालेऽपि 'घटो नष्ट' इति प्रतीतिः स्यादि'ति दूषणमनवकाशं **वेदितव्यं,** विशिष्टकपालस्य प्रागसत्त्वात् । विशिष्टाऽविशिष्टयोः कथंचिद्भेदस्तु सुप्रतीत एव, क्षणभंगाद्यापत्तेः सर्वथाभेदपक्ष एव दूषकत्वात् । न चैवं दुःखध्वंसस्याप्याऽऽत्मरूपत्वेनाऽजन्यत्वान्मोक्षस्याऽपुरुषार्थत्वापत्तिः, स्याद्वादिभिरात्मनोऽपि कथंचिज्जन्यत्वाभ्युपगमात् । **अथैवं** 'भूतले कपालकदंबकमि' तिवद् 'भूतले घटध्वंस' इत्येव प्रतीतिः स्यात्, न तु कपाले 'कपालमि'तिवत्कपाले घटध्वंस इति **चेत् ? न,** प्रतीतिबलेन घटध्वंसत्वविशिष्टाधारतावच्छेदकत्वस्य स्वीकारादिति **दिग्** ।

"**प्रमाणार्पणात्तु** द्रव्यपर्यायात्मासौ, 'कपालकदंबकरूपं मृद्द्रव्यं घटप्रध्वंस' इति प्रतीतेर्युगपदुभयनयोन्मिलनेनोभयावगाहित्वात्" इति **स्याद्वादरत्नाकर**मीमांसामांसलधियामास्वादसुन्दरो विचारः । **केचित्तु** कपालकदंबकोत्पत्तिरेव घटप्रध्वंसः । अत एव '[1]**न भवो भंगविहीणो, भंगो वा णत्थि संभवविहीणो । उप्पादो वि अ भंगो । ण विणा धोव्वेण अत्थेणे**' [प्र. सा. अ. २ गा. ८] त्यनेन सर्गस्थितिसंहाराणां नान्तरियकत्वं प्रतिपादितम् । कपालकदंबकसर्ग एव हि घटसंहारः, घटसंहार एव च कपालकदंबकसर्गः, तत्सर्गसंहारावेव च मृदः स्थितिः, सैव च तत्सर्गसंहारौ । भावस्य भावांतराऽभावस्वभावेनाऽभावस्य च भावांतरभावस्वभावेनाऽन्वयस्य व्यतिरेकमुखेन व्यतिरेकाणां चान्वयानतिक्रान्त्या प्रकाशनादित्या**हुः** ।

स्यादेतत्—घटत्वेन घटध्वंसस्येवात्मत्वादिनात्मादिध्वंसाभावादात्मादेरेकांतनित्यत्वं स्यादिति । **मैवं,** ध्वंसप्रतियोगित्वे सति ध्वंसाऽप्रतियोगित्वेनैवैकान्तत्वापायात् । इयांस्तु विशेषो, यदात्मत्वादिनाऽऽत्मादेर्नित्यत्वं तद्भावाऽव्ययत्वात्, घटत्वादिना घटस्य तु नेति । मनुष्यत्वादिना त्वात्मादेरपि ध्वंसोऽनिवारित—एवेति तत्त्वम् । **ननु** 'तद्भावेन व्ययश्चेत्प्रसिद्धस्तदा तदभावरूपं नित्यत्वमात्मत्वादिनात्मादौ संभवेत्, स एव गगनारविन्दसोदर एवे'ति **चेत् ? न,** ध्वंसप्रतियोगितानवच्छेदकरूपवत्त्वस्यैव तदर्थत्वात् । **न चैवं** कंबुग्रीवादिमत्त्वेन घटस्य नित्यत्व स्यादिति **वाच्यं,** गुरुधर्मस्यापि प्रतीतिबलादवच्छेदकत्वस्वीकारात् । ध्वंसप्रतियोगितावच्छेदकं यद्धर्मवन्निष्ठाऽत्यंताभावप्रतियोगितानवच्छेदकं तदन्यधर्मवत्त्वस्य तदर्थत्वे तु ध्वंसप्रतियोगितावच्छेदकतादृशमनुष्यत्वादेरात्मत्वादिमन्निष्ठात्यंताभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्वेनात्मत्वादिनाप्यात्मत्वादे(त्मादे)र्नित्यत्वमसंगृहीतं स्यात् । **अथ** 'कपालनाशादेः सामान्यतः कपालादिसमवेतनाशं प्रत्येव कारणत्वात् घटत्वेन घटध्वंस आकस्मिक' इति **चेत् ? न,** कारणत्वपर्यायाणां प्रतीतिबलेन विशिष्य विश्रांतानामेव कल्पनादिति दिक् ।

---

१. न भवो भंगविहीनः, भंगो वा नास्ति संभवविहीनः । उत्पादोऽपि च भंगः, न विना ध्रौव्येण अर्थेन ॥

[एकान्तनित्यत्वपक्षेऽकृतागमदोषसंघटना]

तथाऽ"**कृतागमः**", पर्यायाणामपि नित्यानामेव सतामागंतुकत्वादन्यथा पर्यायवतोऽप्य-नित्यत्वापत्तौ नित्यत्वपक्षहानेः। **अथ** 'घटत्वादेरेव कपालादिजन्यतावच्छेदकत्वाद्घटत्वस्य च कपालाद्यवृत्तित्वान्नायं दोष' **इति चेत्** ? **न,** 'कपालं घटीभूतमि'ति प्रतीत्या तयोः स्याद-भेदसिद्धेः।

[कथञ्चिद्भेदाभेदपक्षदूषणापाकरणम्]

अत्र किंचिद्विचार्यते। नन्वेवं कपालघटयोर्जन्यजनकभावो न स्यादभेदे तदसंभवात्। **अत एव** नीलघटपदयोः शब्दसामानाधिकरण्यनिर्वाहकतया गुणगुणिनोरभेदसिद्धिरित्य**पास्तं,** तादात्म्येन स्वार्थाऽन्वितार्थशाब्दबोधजनकत्वरूपस्य तस्य नीलपदस्य नीलवल्लक्षणादिनापि निर्वा-हात्। तल्लक्षणादिप्रतिसंधानं विना तादृशशाब्दबोधस्त्वनिष्ट एव। **यत्तु**—"एवं सति शुक्लपटशब्द-योरेकार्थत्वे 'शुक्लः पटः' इति सहप्रयोगो न स्यात्, घटादेरिव रूपादेश्च त्वाचं स्यात् 'पट-मानये'त्युक्ते यत्किञ्चित्शुक्लाऽऽनयनं च व्युत्पन्नस्य स्यात्, स्याच्चाऽपट पट इति वदशुक्लः पट इति वचो विरोधग्रस्तं, पाकेन श्यामरक्तविनाशोत्पादाभ्यां घटस्य तौ स्यातां, घटसत्त्वेऽपि च तयोः तौ न स्याताम्। **अथ** शुक्लत्वघटत्वादिजातिभेदान्नेमे दोषा **इति चेत् ? न,** शुक्ल-त्वादेर्द्रव्यवृत्तित्वेऽन्धस्य त्वचा द्रव्यत्वग्रहवत् रूपत्वग्रहस्यापि प्रसङ्गात्, जातित्वाचं प्रति आश्रयत्वाचस्यैव नियामकत्वादि"ति **गंगेशेनोक्तं, तन्न,** आश्रयत्वाचस्य नियमतः पूर्वमभा-वाद्योग्यताविशेषाभावादेव रूपत्वाद्यस्पार्शननिर्वाहात्। **अथ** भेदाभेदाभ्युपगमे न **सर्वथा**ऽभेदप-क्षसंभावितप्रसरः प्रागुक्तदोष इति **चेत् ? न,** अवच्छेदकभेदं विनैकत्र भेदाभेदयोर्विरोधात्। तदुक्तं **मणिकृता** "तस्यैव तत्राऽभावोऽवच्छेदकभेदेन वर्त्तते ज्ञायते च यथा संयोगाभावः, श्या-मावच्छिन्नस्यैवान्योन्याभावस्तत्रैव रक्तावच्छिन्ने तदन्योन्यभावाभावश्च श्यामावच्छेदेन"। तदिहापि नीलस्यान्योन्याभावो घटत्वावच्छेदेनेति नीलात् घटस्य भेदोऽस्तु अभेदस्तु नीलान्योन्याभावाभा-वरूपो घटे न, घटत्वावच्छेदेनैव विरोधादेकावच्छेदेन भावाभावयोरेकत्रावृत्तेरज्ञानाच्च, नाप्य-वच्छेदकान्तरेण, घटत्वावच्छिन्ने घटे तदभावात्तदज्ञानेऽपि 'नीलो घट' इत्यनुभवाच्चेति **चेत्** ?

अत्र वदंति—नहि भेदाभेदो भेदविशिष्टाऽभेदोऽभेदविशिष्ठभेदस्यापि संबंधत्वे विनिगम-काभावात्, किंतु जात्यंतररूप एव गुणगुण्यादिविशिष्टप्रतीतिनियामकत्वेनाऽनुभवबलेन च सिद्धः, इति क्वावच्छेदकभेदानुपलब्धिदोषः ! एकांतभेदेऽवयवेष्ववयवी किं देशेन समवेयात्कात्स्न्र्येन वा ? नाद्योऽवयवातिरिक्तस्य तद्देशस्याभावात्। न द्वितीयः, प्रत्यवयवसमवेतावयविबहुत्वप्रसङ्गात्।

अथाऽवयवेष्ववयवी समवेत्येव, देशेन कात्स्न्र्येन वेत्यत्र पुनरापादकाभावोऽन्यथा भवतामप्यवयवेष्ववयविनो भेदाभेदो देशेन, कात्स्न्र्येन वा ? आद्येऽवयवातिरिक्तदेशाऽनिरुक्तिः,

द्वितीये प्रत्ययवयवभिन्नाभिन्नावयविबहुत्वप्रसक्तिरिति तुल्यः पर्यनुयोग इति चेत् ? न, अभेद-नयाद्बहुत्वेऽपि भेदनयादैक्यात्तथैव प्रतीतेः। परेण तु तथाऽनभ्युपगमात्, समवायस्यैवासिद्धौ तात्पर्याच्च।

[समवायसिद्धिः तन्निराकरणञ्च]

तथाहि—"गुणजातिक्रियाविशिष्टबुद्धयो विशेषणसंबधविषयाः विशिष्टबुद्धित्वाद्दंडीतिबुद्धिवत्। संबंधांतरविशिष्टबुद्धीनामपि संबंधांतरविषयत्वान्न व्यभिचारः। न वा स्वरूपसंबंधेनार्थान्तरत्वं, पक्षधर्मताबलेन लाघवात्तस्यैकस्यैव सिद्धेरनंतानां स्वरूपाणां संबंधत्वस्य कल्पने गौरवात् धर्मकल्पनातो धर्मिकल्पनाया गुरुत्वञ्च कल्पनीयानेकत्वप्रयुक्तमिति नात्रावतरति। यद्वा 'विशेषणसंबंधनिमित्तका' इति साध्यम्, हेतौ च सत्यत्वं विशेषणं देयं तेन न विशिष्टभ्रमे व्यभिचारः। अनुगतकार्यस्यानुगतहेतुनियम्यत्वाच्च संबंध एक एव सिध्यति। जन्यतावच्छेदकं चाभावादिविशिष्टबुद्धिव्यावृत्तमनुभवसिद्धवैलक्षण्यविशेषवद्बुद्धित्वमिति **केचित्। तन्नेत्यन्ये**, वैलक्षण्यस्य जातिरूपस्य स्मृतित्वानुमितित्वादिना सांकर्यात्। विषयितारूपस्य च समवायाऽसिद्ध्या दुर्वचत्वात्, परन्तु सत्यलौकिकविशिष्टप्रत्यक्षत्वमेव जन्यतावच्छेदकम्। विशेषणसंबधत्वं च हेतुतावच्छेदेकमिति कार्यकारणभावबलादेव गुणादिविशिष्टप्रत्यक्षहेतुत्वेन लाघवादेक एव संबन्धः सिध्यति, स एव समवाय" **इति वदंति प्रांचो नैयायिकाः**।

तत्तुच्छं, प्राचि पक्षे प्रत्येकं विनिगमनाविरहादेकत्र गुणगुणिनोर्द्वयोः संबंधत्वकल्पनाया अतिरिक्तसमवायस्य तत्र संबंधत्वकल्पनायाश्च तुल्यत्वादुभयत्र चाऽप्रयोजकत्वम्। **अथ** विशिष्टसाक्षात्कारस्य संबंधाऽविषयत्वे तदजन्यत्वे वा गवाश्वादावपि विशिष्टबुद्धिः स्यादिति विपरीतबाधकतर्कसत्त्वान्नैवमिति **चेत् ? न,** प्राचि पक्षे लाघवादेकसंबंधविषयत्ववत्तदविषयत्वमेव प्रसज्येतेति कार्यभेदनिर्वाहाय सामग्रीभेदो मृग्य इत्यवश्याश्रयणीयस्य द्वितीयपक्षस्याप्यस्मन्नये योग्यतयैव प्रतिनियतविषयव्यवस्थोपपादिकया जर्जरीकृतत्वात्।

किञ्च, विशेषणसंबंधत्वमपि नैकमिति विशिष्यैव तत्कार्यकारणभावविश्रांतिः। गुणादिसाक्षात्कार इन्द्रियसंबंधजन्यो जन्यप्रत्यक्षत्वादित्यपि न समवायसाधनायाऽलं, चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वेनाऽस्मदादिप्रत्यक्षं प्रत्यपीन्द्रियसंबंधस्याऽहेतुत्वात्। 'चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वमेव न सहामहे' इति **चेत् ? श्रुणु**। प्रसंगसंगतमथ प्रथमानातिशुद्धधीः। चक्षुरप्राप्यकारित्वं ब्रूते न्यायविशारदः ॥१॥

[चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वसाधनम्]

तथाहि--चक्षुषः प्राप्यकारित्वं तावद् व्यवहितार्थप्रकाशकत्वान्यथाऽनुपपत्त्या परैः परिकल्प्यते। **तदयुक्तं,** चक्षुःसंयोगस्यापि परमाण्वाकाशादौ सत्त्वाद्व्यभिचारेण चाक्षुषं प्रति हेतुत्वाऽयोगात्।

'महत्त्वसमानाधिकरणोद्भूतरूपस्यापि तत्र सहकारित्वान्नायं दोष' इति **चेत्** ? **न,** उद्भूतरूपस्याप्यवच्छेदकत्वसंभवेन विनिगमनाविरहात् । **अथ** पाकेन रूपनाशक्षणेऽपि घटादिचाक्षुषोत्पत्तिरेव सामानाधिकरण्येनोद्भूतरूपविशिष्टमहत्त्वस्यैव हेतुत्वे विनिगमकमिति **चेत्** ? **न,** तत्र रूपनाशक्षण एव चाक्षुषं न तु तदुत्तरोपजायमानरूपोत्तरमित्यस्य कोशपानप्रत्यायनीयत्वात् । **अथ** महत्त्वोद्भूतरूपयोः पृथगेवास्तु कारणता, महत्त्वजन्यतावच्छेदकं च जन्यद्रव्यसाक्षात्कारत्वमेवात एवात्मसाक्षात्कार एवात्मनि महत्त्वे मानं, उद्भूतरूपजन्यतावच्छेदकं च द्रव्यचाक्षुषत्वमेवेति **चेत्** ? तथापि चक्षुर्गोलकपरिकलिताञ्जनाद्यनुपलब्धिः किमधीना ? योग्यताभावाधीनेति **चेत्** ? तर्हि पाटच्चरविलुंटिते वेश्मनि यामिकजागरणवृत्तान्तानुसरणं, भित्त्याद्यंतरितानुपलब्धेरपि योग्यत्वाभावेनैवोपपत्तौ चक्षुःप्राप्यकारित्वपथिकस्य दूरप्रोषितत्वात् ।

स्यादेतत्—भित्त्यादिव्यवहितार्थस्य न स्वरूपयोग्यत्वं, कालांतरे तस्यैवोपलंभदर्शनात्, किंतु भित्त्यादेश्चक्षुःप्राप्तिविघातकतया विरोधित्वादेव न तदंतरितार्थग्रहणमिति । **मैवं,** भित्त्यादिव्यवहितस्यापि योगिना चक्षुषा ग्रहात् । सूक्ष्मव्यवहितार्थज्ञाने ज्ञानावरणकर्मविपाकोदयविशेष एव हि प्रतिबंधको वाच्यः, तदभाव एव च योग्यतात्मनिष्ठा सूक्ष्मव्यवहितार्थज्ञानजननीति गीयते । **ननु** स्फटिकाद्यंतरितोपलब्धौ तादृशयोग्यताभावाद्व्यभिचार **इति चेत् ? न,** स्फटिकाद्यंतरितोपयोगस्योत्तेजकत्वात् ।

उपयोगश्चोपलिप्सोराभोगकरणमिति **विशेषावश्यकवृत्तौ,** व्यवहितत्वं च स्वाभिमुखपराङ्मुखाभिमुखत्वादिकम् । अस्तु वा विशिष्यैव प्रतिबध्यप्रतिबंधकभावस्तथापि परेषामनंतचक्षुःसंयोगेषु तत्तद्देशानां तत्तत्क्रियाणाञ्च कारणत्वकल्पनापेक्षया लाघवमेव । **यत्तु**—'संयोगेन चक्षुषः चाक्षुषं प्रति हेतुत्वे प्रागुक्तकारणत्वकल्पनागौरवं फलमुखत्वान्न दोषायेति' **तन्न,** संयोगादिप्रत्यासत्तीनामननुगमनेन ताभिस्तस्य चाक्षुषं प्रत्यकारणत्वात् । संबन्धाननुगमस्यापि स्वघटितव्याप्तिघटितकारणताभेदकतया दोषत्वात्, कालिकेनैव चक्षुषश्चाक्षुषं प्रति हेतुत्वस्य तवाप्यवश्यमभ्युपगन्तव्यत्वात् । 'स्वप्राचीस्थपुरुषसाक्षात्कारे स्वप्रतीचीवृत्त्यन्यूनपरिमाणकातिस्वच्छभिन्नस्वप्रतीचिवृत्तित्वसंबंधेन सत्त्वेनास्तु भित्त्यादीनां प्रतिबंधकता, प्रतिबंधकतावच्छेदकाननुगमस्तु न दोषाय, तावत्सम्बंधपर्याप्तप्रतियोगितावच्छेदकताकविलक्षणाभावस्य कारणत्वस्वीकारात् । तथा च न चक्षुरप्राप्यकारित्वेऽपि भित्त्यादिव्यवहितोपलब्धिप्रसङ्ग' इति **कश्चित् । तदसत्**--तेन संबंधेन द्रव्यमूर्त्तत्वादिना प्रतिबंधकत्वे विनिगमकाभावाद्व्यवहितेऽपि योगिचाक्षुषानुरोधेन योग्यताया अवश्याश्रयणीयत्वाच्च ।

"योग्या चेद्योग्यता वः सपदि जनयितुं ज्ञानमक्ष्णोऽनपेक्षः ।
कस्मादस्माकमाकस्मिक इव न तदा हन्त वस्तूपलम्भः ?

आयासं कः प्रकुर्यादनणुमणिविभाभूषिते भूमिभागे ।
प्रद्योतार्थी प्रदीपं प्रकटयितुमलं तैलसंपूरणादौ" ॥१॥
योग्यता वस्तुनो बोधे, स्मृता प्रतिनियामिका ।
उपधानं पुनस्तस्य, चक्षुरुन्मिलनादिना ॥२॥
कालिकेन नयनं यदि हेतुर्मिलिताक्ष्णि नहि पुंसि कुतो धीः ।
इत्थमालपति वेद न यौगस्त्वाभिमुख्यमिह चेत्थममुष्य ॥३॥
यदाभिमुख्यं किल नोपकारकं, प्रक्लृप्तसंयोगनियामकं धियः ।
इहाऽस्मि नास्मिन्नियमे स्पृहावहः, कृतांतकोपस्तु तवैव केवलं ॥४॥
यत्र यत्र परिसर्पति चक्षुस्तत्र तत्र कि[illegible]दनजन्म ।
गौतमीयसमये तदिदानीं प्राप्यकारिणि न चक्षुषि साक्षि ॥५॥

यत्तु–स्फटिकादिकं भित्त्वा नयनरश्मिप्रसरणं प्रत्यभिज्ञाभिज्ञानां दुरभ्युपगममिति–**तत्तु** विकटकपाटसंपुटसंघटितमपवरकमुपभिद्य प्रसृमरमृगमदपरिमलाभ्युपगमसमसमाधानमिति **केचित्** । **वस्तुतो** नयनस्य तैजसत्वाऽसिद्धया तद्रश्मय एव न संभवंति । **न च**–'चक्षुस्तैजसं द्रव्यत्वे सति रूपादिषु मध्ये रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वादि'त्यनुमानाच्चक्षुषस्तैजसत्वसिद्धिः, नचाञ्जनेन व्यभिचारस्तस्य चाक्षुषप्रयोजकत्वेऽपि तदजनकत्वादिति-**वाच्यं**, अप्रयोजकत्वात् । **नैयायिकैकदेशिनस्तु**–इंद्रियत्वं पृथिव्याद्यवृत्तिर्जन्यसाक्षात्कारत्वावच्छिन्नजनकतावच्छेदको जातिविशेष **इत्याहुः** । **तन्नेत्यन्ये**–इंद्रियत्वेन साक्षात्कारं प्रति हेतुत्वे चक्षुःसंयोगेनांधकारस्थघटादिसाक्षात्कारापत्तेः । एवं सति चक्षुषो रश्म्यप्रसिद्धया प्राप्यकारित्वमपि दुरुपपादम् । **ननु** किञ्चिदवच्छेदेन तमःप्रच्छन्नेऽपि भित्त्यादौ यदवच्छेदेन चक्षुःसंयोगस्तदवच्छेदेनालोकसंयोगादेव चाक्षुषदर्शनाच्चक्षुषः प्राप्यकारित्वं सेत्स्यतीति **चेत्** ? एतन्निपुणतर**मंधकारवादे** प्रतिविधास्यामः ।

एवं च "शाखाभिमुखेन चक्षुषा विटपिनो मूलावच्छिन्नसंयोगग्रहाभावादव्याप्यवृत्तिचाक्षुषं प्रति चक्षुःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नसमवायसंबंधावच्छिन्नाधारतायाः सन्निकर्षत्वस्यावश्यकल्पनीयतया चक्षुषः प्राप्यकारित्वमायास्यती"त्यपि **प्रतिविधातव्यप्रायं** वेदितव्यं, तदानीं चक्षुरभिमुखदेशाविष्वग्भावाभावादेव संयोगादिचाक्षुषानुदयात् । "रुवं पुण पासई अपुट्ठं तु" [आव. नि. गाथा ५] इत्याद्यागमोऽप्यत्रार्थे साक्षीति **दिक्** ।

[नानासमवायवादिनव्यनैयायिकमतसमालोचनम्]

नव्यनैयायिकास्तु रूपत्वरसत्वादिसंबंधितावच्छेदकभेदान्नानैव समवायः, अत एव 'द्रव्यं रूपवदि'त्युनमितेः पक्षतावच्छेदकावच्छिन्नसाध्यसंबंधस्य संसर्गत्वेन प्रामाण्यं, रूपसमवायस्य

१. "रूपं पुनः पश्यति अस्पृष्टं तु" । इति संस्कृतम् । 'पुट्ठं सुणेइ सद्दं' इत्यग्रिमपादः ।

द्रव्यत्वाव्यापकत्वात् इत्याहुः । तेषां भेदाभेद एवाभ्युपगतुं भजमानः प्रतीतेरतिप्रौढत्वात् । **एतेन** समवायसंबंधेन जन्यभावत्वावच्छिन्नं प्रति संयोगत्वावच्छिन्नं प्रति वा द्रव्यस्य कारणत्वेन समवायसिद्धिरित्य**पास्तम्**, लाघवाद् भेदाभेदसंबंधेन परिणामत्वावच्छिन्नं प्रति परिणामिनस्तत्त्वकल्पनाया एवोचितत्वाद्भेदाभेदस्य जात्यंतररूपत्वेऽपि संबंधत्वं प्रतीतिबलादेव निराबाधम् । **ननु** 'नीलोत्पलं, प्रमेयाभिधेयमि'त्यादौ कर्मधारयेऽभेदस्यैव संसर्गतया भानान्नाभेदातिरिक्तभेदाभेदसिद्धिरिति **चेत् ? न**, कथञ्चित्तस्य तदनतिरेकात् ।

वस्तुतः कर्मधारये भेद एवाभेदत्वेन संसर्गतया भासते ; नीलोत्पलमित्यत्र नीलपदस्य नीलवत्परत्वाद्भेदाभेदस्य संसर्गत्वे तु घटरूपमित्यत्रापि कर्मधारयप्रसङ्गः । **न चैवं** घटकलश इत्यत्रापि कर्मधारयो निराबाधः स्यात्, **न च** 'अत्र घटावि'त्यत्रैवैकशेषस्यावकाशान्नैवमिति **वाच्यं**, एकशेषेऽर्थसारुप्यस्येव पदसारुप्यस्याप्यपेक्षितत्वात्, 'सरूपाणामि'त्यत्र तथाव्याख्यानादिति **वाच्यं**, विग्रहवाक्ये पदयोस्तुल्यार्थत्वाभावात् । भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तकत्वे सत्येकार्थकत्वं हि तुल्यार्थत्वं, न चेदं घटकलशपदयोः संभवति, शक्याभेदेऽपि शक्यतावच्छेदकभेदात् । **इयांस्तु विशेषो** यद्धर्मधर्मिभावाद्यपेक्षया द्वयोर्भेदाभेदः, प्रतिस्वं प्रातिस्विकरूपेण केवलाभेदो, गोत्वाश्वत्वादिना तु केवलभेद इति । **न चैवं** एकांतानुप्रवेशोऽभेदसंभिन्नभेदवत्त्वेनैव तदपायात् । इत्थञ्चैतदवश्यमङ्गीकर्त्तव्यं, कथमन्यथा 'स्याद्भिन्नं चाभिन्नं चे'त्यत्र स्यात्पदं नानतिप्रयोजनमिति ध्येयम् ।

अथ भेदाभेदस्यापि कथञ्चिदभेदरूपत्वात् 'कपाले घट' इत्यादावाधाराधेयभावप्रतीतिर्न स्यादिति **चेत् ? न**, भेदाभेदत्वेन तस्य वृत्तिनियामकत्वात् । 'घटाभावे घटो नास्ती'त्यादावपि घटाभावत्वेन धर्मधर्मिभावविवक्षयैव निस्तार इति । वस्तुतस्तत्तत्प्रतीतिमनुसृत्य तत्तप्रतियोगिकत्वविशिष्टतत्तत्संबंधस्याधारतात्वं कल्प्यते । अस्तु वा धर्मान्तरमेवाधारता, तेन घटरूपयोर्भेदाभेदविशेषेऽपि घट एव रूपस्याधारता न तु रूपे घटस्येत्यत्र न नियामकानुसरणवैयग्र्यं, न वा तंतुपटयोरन्योन्याधारत्वप्रतीतिसमाधिर्दुःशका । **नन्वेवमपि** भवतु भेदाभेदो जात्यंतररूपस्तथाप्यसावेकत्रान्योन्याभावतदभावव्यंग्यस्तयोश्चैकत्रावच्छेदकभेदं विना प्रतीत्यनुपपत्तिरित्युक्तमेवेति **चेत् ? न**, घटत्वद्रव्यत्वयोरेव तदवच्छेदकत्वसंभवात् । यदवदामः स्तुतौ—

एकत्र वृत्तौ हि विरोधभाजोः येषामवच्छेदकभेदयाञ्चा ।
द्रव्यत्वपर्यायतयोर्विभेदं विजानतां सा कथमस्तु वस्तु ॥ इति [ ]

नीलभेदो घटत्वावच्छेदेन नीलाभेदस्तु नीलवद्भिन्नावच्छेदेन । **न च** तदज्ञानेऽपि 'नीलो घट' इत्यनुभवान्न तस्य तदवच्छेदकत्वं, घटत्ववत्तस्य योग्यत्वान्नियमतस्तत्पूर्वं तद्ग्रहात् । **अस्तु** वाऽवच्छेदकौदासीन्येनैव नीलाभेदधीः, न सा घटत्वावच्छेदेन नीलभेदग्रहप्रतिबध्या, तद्धर्मावच्छेदेन तद्वत्ताधियस्तद्धर्मावच्छेदेनैव तदभाववत्ताधीविरोधित्वात्, तद्धर्मातिरिक्तधर्मानवच्छेदे-

नेत्यस्य प्रवेशे गौरवात् इति तु **यौक्तिकाः । केचित्तु** भेदोऽन्योन्याभावोऽभेदस्तु धर्मान्तरमित्यभ्युपगच्छन्ति । अत्र तादृशाभेदस्य व्यवहारानौपयिकत्वं यदाविश्चक्रे **मणिकृता,** तदसत्, 'प्रमेयमभिधेयमि'त्यादौ तस्यैव शरणीकरणीयत्वात् ।

[भेदाभेदमते भेद-पृथक्त्वयोः स्वरूपम्]

दिगंबरमतानुयायिनस्तु भेदाभेदौ भेदविशिष्टाभेद एव, संबंधता तु तयोरुभयत्वेन रूपेण । न चोभयत्वमप्येकविशिष्टापरत्वमिति विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहः, अविशिष्टयोरपि गोत्वाश्वत्वयोरुभयत्वप्रत्ययात्तस्याऽतिरिक्तधर्मत्वात् । युक्तञ्चैतत्—अतिरिक्तभेदस्य भेदविशिष्टाभेदस्य च तद्व्यंजकत्वकल्पनायां **गौरवात्** । न च भेदाभेदयोरेकत्र विरोधो, यतो नहि वयं यत्र यस्य यो भेदस्तत्र तस्य तदभावमेव वदामः, किन्त्वन्यमेवेति । तथाहि भेदो द्विविधः पृथक्त्वरूपोऽन्यत्वरूपश्च । तत्र पृथक्त्वं प्रविभक्तप्रदेशत्वरूपमन्यत्वं पुनरतद्भाव इति । यदुक्तं—

"[1]पविभत्तपदेसत्तं पुढत्तमिति सासणं हि वीरस्स ।
अण्णत्तमतब्भावो ण तब्भवं भवदि कथमेगं" ॥ [प्र. सा. अ. २ गा. १४] ति

यत्तु पृथक्त्वमप्यन्योन्याभाव एवेत्यभिदधे **दीधितिकृता, तन्न,** एवं सति 'घटः पटात् पृथगि'तिवत् 'रूपात् पृथगि'त्यपि प्रमीयेत । न चैवं, यदवोचाम **श्रीपूज्यलेखे**—

"[2]अण्णं घडाउ रुवं, ण पुढो त्ति विसारदाण ववहारो ।
भेदा उणो पुढत्तं भिज्जइ ववहारबाधेणं" ॥१॥ ति

तथा च पृथक्त्वस्य भेदत्वेऽप्यन्योन्याभावाद्वैलक्षण्यमेवेति तत्त्वम् । तत्र घटपटादीनां नैतदन्यतराभाव इति केवलभेदस्तेषां तद्भेदत्वावच्छिन्नाभावाऽसंवलितत्वात् । प्रतिस्वं प्रातिस्विकरूपेणोभयाभावात्केवलाभेदोऽवयवावयव्यादीनां त्वतद्भावसत्त्वेऽपि पार्थक्याभावाद् भेदाभेद इति ।

यस्त्वतद्भावातिरिक्तमभावस्वभावं पदार्थान्तरमेवान्योन्याभावमभ्युपैति **योगः, स न सम्यग्वादी,** तादृशान्योन्याभावव्यावृत्तेरप्यसाधारणधर्माधीनत्वात्, तत्राप्यन्योन्याऽभावान्तराश्रयणेऽनिष्ठापातात्तस्यैव तत्त्वौचित्यात् । घटादेः कंबुग्रीवादिमत्त्वस्वरूपं हि पटादिस्वरूपव्यावृत्तिरूपत्वात् पटादिभेदरूपं गीयते इति । **न च** बहुषु धर्मेषु भेदत्वकल्पनाऽपेक्षयातिरिक्तस्यैव तस्य कल्पना लाघवादुचिता, **तथापि** प्रत्येकं विनिगमनाविरहात् क्लृप्तकल्पनातोऽक्लृप्तकल्पनाया गुरुत्वाच्चेत्यधिक**माकरे** ।

अत्रेदमस्माकमाभाति । प्रविभक्तप्रदेशत्वमित्यत्र बहुव्रीह्याश्रयणे परमाणवः कुतोऽपि न पृथग्भवेयुः । एवं कर्मधारयाश्रयणे देशस्कंधयोरपि स एव दोषः । स्कंधाश्रितपरमाणूनामेव च

१. "प्रविभक्तप्रदेशत्वं पृथक्त्वमिति शासनं हि वीरस्य । अन्यत्वमतद्भावो न तद्भवद्भवति कथमेकम्" ॥
२. अन्यद्घटाद्रूपं, न पृथगिति विशारदानां व्यवहारः । भेदात्पुनः पृथक्त्वं भिद्यते व्यवहारबाधेन ॥[सं.]

प्रदेशत्वसंज्ञया तदनाश्रितपरमाणूनाञ्च पृथक्त्वं कुतोऽपि न घटेत। किंच प्रदेशेषु किं प्रविभक्तत्वं ? न तावदन्यत्वं, एकद्रव्यस्यैव प्रदेशानां तादृशत्वात्। नापि पृथक्त्वं, तस्य प्रविभक्तस्कंधकत्वरूपतयाऽन्योन्याश्रयात्, तथाहि–प्रदेशानां प्रविभक्तत्वसिद्धौ प्रविभक्तप्रदेशत्वरूपं स्कंधानां पार्थक्यं सिध्यति, सिद्धे च स्कंधानां प्रविभक्तत्वे प्रविभक्तस्कंधकत्वरूपं प्रदेशानां पार्थक्यं सिध्यतीति। **अथ** पृथक्त्वं जात्यंतररूपमेवेति **चेत्** ? तर्हि भेदाभेद एव तादृशः किमिति नास्थीयते ? धर्मिधर्मोभयभासकसामग्र्या एव तद्भासकत्वेन व्यंजकगवेषणविश्रामात्। **एतेन** पृथक्त्वव्यवहाराऽसाधारणकारणं तदित्यप्युपेक्षितम्, कारणतावच्छेदकरूपपरिचयं विना तादृशनिर्वचनाऽसंभवाच्च। **यत्तु** विभिन्नाश्रयाश्रितत्वमेव पार्थक्यं, विभिन्नाश्चाश्रयाः स्कंधानां देशा इव देशानां स्कंधा अपि संभवंति, तन्तौ पट इतिवत्पटे तंतव इति प्रतीतेरप्यबाधितत्वात्। अन्यत्र रूपादिप्रतियोगिकत्वविशिष्टभेदाभेदस्याऽऽधारतात्वेऽप्यत्रान्यतरीयत्वविशिष्टस्यैव तस्य प्रतीतिबलेन तथात्वकल्पनात्। तदुक्तं–**उदयनेनापि** "संविदेव हि भगवती वस्तूपगमे नः शरणमिति"। परमाणूनामपि शुद्धस्य स्वस्यैव स्वाश्रयत्वं, भाविभूताश्रयसंभवेनैव वा तदाश्रितत्वमक्षतमन्यथा द्रव्यादिचतुष्टयस्य सार्वत्रिकत्ववचनव्याघातापातादिति। **तच्चिन्त्यम्**, अत्यंतविभिन्नानामप्याकाशरूपैकाश्रयसंभवेन भेदाभेदसंबंधावच्छिन्नाश्रयताविवक्षणे स्फुटदोषात्।

[ऋजुमते भेदाभेदाऽविरोधनिरूपणम्]

ऋजवस्तु—सार्वजनीनप्रतीतिस्वारस्यादेव भेदाभेदयोरवच्छेदकभेदं विनापि न विरोधः। यथाहि सामान्यतोऽभावस्य प्रतियोगिव्यधिकरणत्वे क्लृप्तेऽपि संयोगाद्यभावेऽतथात्वप्रतीतेः स नियमस्त्यज्यते, तथा भावाभावयोरेकत्र वृत्तावच्छेदकभेदनियमोप्येकत्र भेदाभेदयोरबाधितानुभवबलादत्र त्यज्यते। अत एव न [१]संकर–व्यतिकर-संशयाऽनवस्था-दृष्टहान्यदृष्टकल्पनाः। भेदश्च 'इदमस्माद्भिन्नमि'ति व्यपदेशनियामको व्यावृत्तिविशेषः। स चैकद्रव्यगुणपर्यायेष्वपि संभवति। अयं भावः–यथाहि सूत्रग्रथितमुक्ताफलानामपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वं हारत्वं सूत्रमुक्ताफलाधारतावच्छेदकं, तथा गुणपर्यायाणां तादृशद्रव्यत्वमपि [२]तथा। यथा च हारत्वसूत्रत्वमुक्ताफलत्वावच्छेदेन शुक्लत्वप्रतीतिस्तथा द्रव्यत्वगुणत्वपर्यायत्वावच्छेदेन सत्त्वप्रतीतिरपि। यथा च शुक्लत्वाद्यवच्छिन्ने हारत्वाद्यवच्छिन्नभेदस्तथा सत्त्वाद्यवच्छिन्ने द्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नभेद इति। तदुक्तं– "[३]सद्दव्वं सच्च गुणो, सच्चेव य पज्जओत्ति **वित्थारो**। जो खलु तस्स अभावो, सो तदभावो अतब्भावो'त्ति। **विस्तारः**=तत्तद्धर्मावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपिताः प्रकारताः। **नन्वेवं** वृक्षो वनमितिवत्सद्द्रव्यमिति प्रयोगो न स्यात्, 'यत्र हि यद्धर्मावच्छिन्नप्रकारकापेक्षाबुद्धिविषयत्वं व्यव-

१. संकरादिदोषस्वरूपं **स्याद्वादमञ्जर्यादि**तोऽवसेयम्।
२. तथेति गुणपर्यायाधारातावच्छेदकम्। ३. सद्द्रव्यं सच्च गुणः सदेव च पर्याय इति विस्तारः। यः खलु तस्याभावो स तदभाव अतद्भावः॥ इति संस्कृतम्॥ [प्रव०सार–अध्या० २–गा० १५]

हारोपयिकं तत् तद्धर्मावच्छेदेनैवाभेदनान्वेती'ति व्युत्पत्तेरिति **चेत् ? न,** एतन्नियमस्य विशिष्य विश्रामादिति **दिग्** ।

यद्वा **कृतस्य**=कुम्भकारादिप्रयत्नस्य, **नाशः**=उपधानाऽव्याप्यत्वं, **अकृतस्य**=कुंभकारादिप्रयत्नाऽभावस्य, **आगमो**=ऽनुपधानाऽव्याप्यत्वं च स्यातां, वस्तुनः सर्वथानित्यत्वात्, तथा च व्यवहारबाधः इति भावः ।

[सांख्यसत्कार्यवादस्थापन-निरसने]

अत्रेदं विभाव्यते-**सांख्यैर्हि** सदेव वस्त्वनुमन्यते । तदुक्तं-"असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाऽभावात् । शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम्" । [**सांख्यकारिका**-९] इति । असतः शशविषाणादेः कर्त्तुमशक्यत्वात्सत एव सत्करणस्वाभाव्यात् । उपादानेन ग्रहणात्संबंधात्, नह्यसतः संबंधोऽस्ति । **असंबद्धस्यैव** करणमस्त्विति **चेन्न,** सर्वसंभवाभावात्, असंबद्धत्वाऽविशेषे हि सर्वे सर्वस्माद्भवेयुः, नचैवमिष्टमिति । तथाऽशक्तस्य जनकत्वेऽतिप्रसङ्गात् शक्तस्य जनकत्वं वाच्यं, शक्तिश्च कार्यस्य प्रागसत्त्वे नियता न स्यादितोऽपि कारणात्प्राक्कार्यस्य सत्त्वमुपेयम् । तथा कारणभावात्तादात्म्यादपि सत्कार्यमवयविनोऽवयवभेदाऽप्रतीतेरिति ।

तदयुक्तं—यतो घटश्चेत्कारणव्यापारात्प्रागप्यस्ति तर्हि तदानीमुपलम्भप्रसङ्गः । **अथा**नाविर्भावान्नोपलभ्यत इति **चेत् ?** कोऽयमनाविर्भावः ? उपलब्ध्यभावो वा (१), अर्थक्रियाकारिरूपाभावो वा (२), व्यंजकाभावो वा (३), योग्यत्वाभावो वा (४), कालविशेषविशिष्टत्वाभावो वा (५), जिज्ञासाभावो वा (६), तिरोधानं वा (७), अन्यद्वा (८) ?

नाऽऽद्यो, यस्यैवाक्षेपस्तस्यैवोत्तरे घट्टकुटीप्रभातापातात् । **अथ** घटानुपलब्ध्याक्षेपे संस्थानाद्यनुपलंभस्योत्तरत्वमिति **चेत् ? न,** संस्थानज्ञानस्य संस्थानिज्ञानात्पूर्वं नियतमनपेक्षणात्तस्यापि प्राक्सत्त्वे उपलब्धेरापाद्यत्वादसत्त्वे वक्ष्यमाणदोषानुषङ्गाच्च ॥१॥ न **द्वितीयः,** अर्थक्रियाकारिरूपस्य प्रागसत्त्वेऽसत्कार्यवादापातात् ॥२॥ अत एव न **तृतीयो**ऽपि, प्राथमिकोपलब्धौ कुविन्दादिसमुदायस्योपलब्धिमात्रे वा विजातीयसंयोगस्य कारणत्वेऽपि तयोः प्राक्सत्त्वावश्यकत्वात् । आविर्भूतयोरेव तयोस्तथात्वमिति **चेत् ? न,** आविर्भावस्यापि सदसद्विकल्पग्रासात् । **विजातीय**संयोगाद्याविर्भावस्य प्राक्सत्त्वेऽपि विजातीयसंयोगेन समं तस्य संबधो नासीदित्यप्यसमीक्षिताभिधानं, तद्दोषानतिवृत्तेः । **एतेन** विषयिताविशेषसंबंध एव घटत्वादेर्विजातीयसंयोगजन्यतावच्छेदकतावच्छेदकोऽस्त्वनंतप्रागभावप्रध्वंसाद्यकल्पनलाघवादित्यपि **परास्तम्**, तदभावेऽपि घटत्वाविनिर्मुक्तविषयिताकघटसाक्षात्कारापत्तेश्च । किं च, घटादेः कुभकारादिव्यंग्यत्वे जन्यत्वव्यवहारो निरालंबनः स्यादन्यथा तरुणतरणिकिरणनिकराभिव्यज्यमाने घटे तज्जन्यत्ववहारापत्तेः (३) । नापि **तुरीयः,** महत्त्वसमानाधिकरणोद्भूतरूपवत्त्वादिरूपायाश्चाक्षुषादियोग्यतायाः प्रागुक्तदिशा प्रागपि सत्त्वात् (४) । नापि **पंचमः,** कालविशेषस्य कारणत्वेनानतिप्रसंगे एककारणपरिशेषापत्तेः, विशेष-

स्यागंतुकोपाधिरूपस्य सदसद्विकल्पग्रासाच्च (५) नापि **षष्ठः** सत्यामपि जिज्ञासायां कारण-व्यापारात्प्राक्कार्यानुपलम्भात्, जिज्ञासाया ज्ञानमात्रं प्रत्यहेतुत्वाच्च। जिज्ञासितबोधं प्रति जिज्ञासाया हेतुत्वे जिज्ञासां विनापि तत्राऽजिज्ञासितबोधापत्तेश्च (६)। नापि **सप्तमः**, अनाविर्भावस्यैव तिरोधानपदार्थत्वेऽप्यापि नियतनिर्वचनाऽपरिचयात्, अन्यस्याभ्युपगंतुं दुःशकत्वात् (७)। नाप्यष्टमः, अनिर्वचनात्। तस्मात् प्रागसदेव कार्यं सामग्रीसमवधानात्संपद्यत इति **योगाः** संगिरन्ते।

[सदसत्कार्यवादस्थापनोद्यमः]

सांख्यः सत्कार्यवादं सदसि निगदतु स्कंधमास्फाल्य तावत्।
स्वैरासत्कार्यवादी प्रभवतु स पुनस्तावदेवात्र **योगः**॥
यावद् दुर्वादिवृन्दद्विरदमदभिदकेसरिक्रीडनैक-
प्रागल्भ्याभ्यासभाजो जिनसमयविदो ध्यानमुद्रां भजन्ते॥१॥ वासनामथ मुञ्चन्तु। समये सांख्ययोगयोः। सदसत्कार्यवादाय प्रयते सावधानधीः॥२॥ तथाहि—युगपत्प्रवृत्ताभिरन्वयशक्तिभिर्यथा पर्यायनिष्पादिका व्यक्तीस्तास्ताः संक्रामतो द्रव्यस्य सद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भावस्तथा क्रमप्रवृत्ताभिः पर्यायनिष्पादिकाभिर्व्यतिरेकव्यक्तिभिस्ताभिस्ताभिर्युगपत्प्रवृत्ता अन्वयशक्तिः संक्रामतो द्रव्यस्यासद्भावनिबद्धोऽपि, द्रव्यार्थिकेन सर्वस्य सतोऽपि पर्यायार्थिकेनाऽसत्त्वात्। तदुक्तं—

ऐवंविधं सहावे दव्वं दव्वट्ठपज्जयट्ठेहिं। सदसब्भावणिबद्धं पाउब्भावं सदा लहदि॥ त्ति [प्रव०सार-२-१९]यथा च व्यतिरेकव्यक्तयो यौगपद्यप्रवृत्तिमासाद्याऽन्वयतिरेकव्यक्तित्वमापन्ना द्रव्यं पर्यायीकुर्युरिति सिद्धान्तः।

अथ घटस्य कारणव्यापारात्प्राक्सत्त्वे चाक्षुषं स्यादिति **चेत्?** भवत्येव मृत्त्वेन रूपेण। घटत्वेन स्यादिति **चेन्न,** तेन रूपेण प्रागसत्त्वात्। कपालस्य घटेऽविष्वग्भावेन हेतुत्वादपि प्राक्सत्त्वासिद्धिः। **अथ** घटप्रागभावसत्त्वे घटसत्त्वं **कथमिति चेत्? तयोर**विरोधादिति गृहाण। **कथमितिचेद**स्तित्वनास्तित्वयोरेकपरिणामात्।

स्यादेतत्—विजातीयसंयोगस्य जन्यसाक्षात्कारत्वं जन्यतावच्छेदकमस्तु न तु जन्यद्रव्यत्वमनंतद्रव्यप्रागभावप्रध्वंसाभावकल्पनागौरवात्। **न च** विजातीयसंयोगं विनापि गुणादौ द्रव्यसाक्षात्कारोदयाव्यभिचारो, द्रव्यनिष्ठलौकिकविषयतायाः कार्यतावच्छेदकसंबंधत्वेन तदुद्धारात्। **एतेन** 'द्रव्यसाक्षात्कारत्वस्य तत्कार्यतावच्छेदकत्वे मूर्त्तसाक्षात्कारत्वादिना विनिगमनाविरहः; स्वाश्रयविषयतासंबन्धं कार्यतावच्छेदकतावच्छेदकीकृत्य द्रव्यत्वादेस्तथात्वेऽपि मूर्त्तत्वादिना स एव दोष' **इत्यपास्तं**, परस्यापि चक्षुःसंयोगजन्यतावच्छेदकत्वेनैतस्यैव श्रेयस्त्वात्। इत्थं च द्रव्यमात्रं

१.-एवं विधं स्वभावे द्रव्यं द्रव्यार्थपर्यायार्थाभ्याम्। सदसद्भावनिबद्धं प्रादुर्भावं सदा लभते॥ इति सं.

सर्वथानित्यमस्तु । **नचैवं** तंतूनामेव पटत्वात्ततो पट इति प्रत्ययो न स्यादिति **वाच्यं**, फलबलेन विलक्षणसंयोगवत्त्वरूपपटत्वादिविशिष्टाधारतावच्छेदकत्वस्य विलक्षणसंयोगत्वरूपतंतुत्वे स्वीकारात् । अत एव न तन्तुपटपदयोः पर्यायताऽपि, विलक्षणसंयोगवत्त्वरूपशक्यतावच्छेदकभेदात् । 'तंतुसंयोगात्पट उत्पन्न' इति व्यवहारस्तु भ्रान्त एव । 'पट उत्पन्न' इत्यादि प्रतीतिस्तु पटत्वादिघटकसंयोगोत्पादमात्रमवगाहते । 'पट' इत्यत्रैकत्वं पुनरौपचारिकम् । 'तंतुः पट' इति प्रतीतिस्तु 'वृक्षो वनमि'तिवदेव नोदेति । 'पटस्तंतव' इति प्रतीतिस्त्वेकत्वधर्मितावच्छेदककबहुत्वप्रकारिका सतोच्छाविशेषमपेक्षते । 'एकत्र द्वयमि'ति न्यायेन तदन्वयबोधापादने शब्दाऽसाधुत्वमेव वा । अधिकः पूर्वपक्षो मत्कृतन्यायवादार्थेषु बोध्यः ।

अत्र ब्रूमः । पर्यायत्वावच्छेदेनैव द्रव्यस्य कारणता सामान्यतो गृहीतेत्यसमानजातीयद्रव्यपर्यायरूपस्य घटस्य कथं न जन्यत्वम् ? अन्यथा कपालस्यैव घटत्वात्कपालरूप—घटरूपयोर्भेदो न स्यात् । किंचैवं दंडादौ घटसाधनताज्ञानेन प्रवृत्तिर्न स्यात् । **अथ** विजातीयसंयोगत्वमेव घटत्वं, **युक्तञ्चैतत्**, कथमन्यथा घटत्वस्य जातित्वं मृत्त्वस्वर्णत्वादिना सांकर्यात्, **न च** कुलालादिजन्यतावच्छेदकतया मृत्त्वस्वर्णत्वादिव्याप्यं नानाघटत्वमेव स्वीकर्त्तव्यं, अनुगतधीस्तु कथंचित्सौसादृश्यात्, घटपदं त्वक्षादिपटवन्नानार्थकमिति **वाच्यम्** , कुम्भकारादेर्विजातीयकृतिमत्त्वेन तत्त्वे घटत्वस्यैवैकत्वोचित्या**दिति चेत् ? न**, एवं सति घटवत्यपि भूतले 'संयोगेन घटो नास्ती'ति प्रतीतेः प्रमात्वापातात्, 'घटः पटसंयुक्त' इति प्रतीतेरप्रमात्वापाताच्च । **वस्तुतो**ऽवयवावयविनोर्भेदाभेद एव सार्वजनीनप्रत्ययाध्वन्यध्वनीन इति **दिग्** ।

अथानित्यत्वैकांतपक्षेऽपि दोषमाहुः—**स्यातामिति** । **एकान्तनाशे**=नित्यत्वाऽसंभिन्ननाशे । कृतस्य नाशो=अकृततुल्यता । **बौद्ध**मते हि वस्तुनः सर्वस्य क्षणिकत्वादुत्पत्तिसमनन्तरमेव घटस्य नाश इति जलाहरणादिपर्यायाणामाधारेण केन भवितव्यम् । तथा**ऽकृतस्यागमः**=फलकालोपस्थितिः । यद्धि कुम्भकारादिना घटादिकं कृतं तेन तु दुर्जनमनःप्रणयपरंपरावत्तदानीमेव दध्वंसे, तथा च जलाहरणादिक्रियासु व्याप्रियमाणेन तेनाऽकृतेनैवोपस्थातव्यमिति दूषणद्वयमिदं बौद्धबुध्युपनीतकाकुव्याकुलीकरणप्रवणं प्रसज्येतेति भावः ।

[क्षणिकवादिबौद्धस्य पूर्वपक्षः]

इदमप्यत्र विचार्यते । किं क्षणभिदेलिममेव भुवनमन्यादृशं वा ? तत्र **बौद्धः**—"मुद्गरादिसमवधानदशायां घटादेर्यत्स्वरूपं वरिवर्त्ति तेन प्रागासीनं न वा ? आद्येऽनायासेनैव सिद्धा क्षणभंगुरता भगवती । अन्त्ये स्वभावहान्यापत्तिः । **किंच** तत्तत्क्षणावच्छेदेन तत्तद्घटादेः प्रध्वंसानाधारत्वकल्पनामपेक्ष्य वा तत्तत्क्षणावच्छेदेन तत्तद्घटादेः प्रध्वंसप्रतियोगित्वस्य, तत्तत्क्षणानां तत्तद्घटध्वंसाधारत्वस्य वा कल्पनैव लघीयसी । **न चैवं** उत्पत्तिक्षणेऽपि नाशप्रसंगः । असतो नाशाऽयोगात् । वस्तुतस्तत्तत्क्षणेष्वेवास्तु घटत्वपटत्वादिकम् । **न च** संकरो, वासनाकृतविशेषेण

तन्निरासात् । अत एव न स्थितिकाले 'घट उत्पन्नो, घटो ध्वस्त' इत्यादि प्रतीतिः । विशिष्टोत्पादध्वंसयोर्विशेषणसत्त्वविरुद्धत्वात् । न च 'स एवायं घट' इति प्रत्यभिज्ञा क्षणिकत्वे बाधिका 'स एवायं गकार' इत्यादि प्रत्यभिज्ञाया इव तस्यास्तज्जातीयाऽभेदविषयकत्वात् । किंच नित्यस्य सतो वस्तुनः सर्वदाऽर्थक्रियाकारित्वापत्तिः, स्वतः सामर्थ्याऽसामर्थ्याभ्यां परोपकारानवकाशात् ! स्वतः समर्थमपि तत्कारणान्तरसहकृतमेव कार्यमुपदधातीति चेत् ? न, कार्यानुपधानसमये सामर्थ्ये मानाऽभावात् । तस्मात्कुर्वद्रूपस्यैव कारणत्वाद्वस्तुनो मदुक्तदूषणभारभंगुरस्य सतः क्षणविश्राम एवोचित इति ।

[क्षणिकवादनिरसनम्]

तदतिजरत्तरं, विनाशस्वभावत्वेन 'क्षणिकत्वे स्थितिस्वभावत्वेन नित्यत्वस्याप्यापत्तेः । स्थितिप्रत्ययो भ्रांतो, विनाशप्रत्ययस्तु प्रमेति तु निजप्रणयिनीमनोविनोदमात्रम् । ध्वंसप्रतियोगित्वं तु यथा त्वया विधिपर्यायेन कल्प्यते तथा मया निषेधपर्यायेणाऽपीति न तत्र दोषावकाशः । वासनायाश्च ध्रुवत्वे तु नामांतरेण द्रव्यमेवाभ्युपेतवान् भवान्, कृतांतं च कोपितवान् । अध्रुवत्वे तु किमनयाऽजागलस्तनायमानया ? कुर्वद्रूपत्वेन तु न कारणता, तस्य प्रागपरिचयादिष्टसाधनताज्ञानबिलंबाद्घटाद्यर्थिनो दंडादौ प्रवृत्त्यनुदयापत्तेरिति **दिग्** ।

अथ जन्यस्य सतो नाश एव संभवी । तत्र सामान्यतः समवेतकार्यनाशं प्रति समवायिकारणनाशस्य प्रतियोगिसमवेतत्व–स्वाधिकरणत्वोभयसंबंधेन नाशवन्नाशत्वावच्छिन्नं प्रति स्वप्रतियोगिसमवेतत्वसंबंधेन नाशत्वेन हेतुता, द्व्यणुकादिनाशे तु तत्तत्परमाणुसंयोगादिनाशस्य **कारणत्वमित्येके** । लाघवाद्द्रव्यनाशत्वावच्छिन्नं प्रति विजातीयसंयोगनाशत्वेनैव हेतुत्वमुचितमिति द्रव्यनाशोऽसमवायिकारणनाशादेवेत्ये**कदेशिनः** । **तन्नेत्यन्ये**–रूपादिनाशं प्रति प्रागुक्तदिशा क्लृप्तायाः कारणताया एव द्रव्यनाशं प्रति साधारण्यात् । विजातीयसंयोगनाशस्य च स्वाधिकरणसमवेतत्व–स्वाधिकरणत्वोभयसंबंधेन स्वविशिष्टप्रतियोगिकनाशत्वस्यैव कार्यत्वावच्छेदकत्वात् । परमाणुषु पूर्वपूर्वसंयोगनाशाद्द्व्यणुकादेः क्षणिकत्वापत्तिपरिहाराय स्वप्रतियोगिजन्यत्वसंबंधेन स्वविशिष्टप्रतियोगिकनाशत्वावच्छिन्नं प्रत्येव तस्य हेतुत्वमित्य**प्याहुः** । घटादिनाशे च मुद्गरप्रहारादीनामपि विशिष्य हेतुत्वमिति । घटादेः सर्वथा ध्वंसप्रतियोगित्वमित्येकांतोऽपि न कांतः, घटादिपर्यायाणामपि द्रव्यार्थतया ध्रुवत्वात् । प्रतियंति हि लोका अपि 'घटत्वेन घटो नष्टो न तु मृत्वेने'ति । उपादानोपादेययोर्भेदाभेदस्तु निपुणतरमुपपादित एवेति किमित्याम्रेडितविस्मरणशीलताऽऽयुष्मत इति ॥१॥ [श्लोक १ संपूर्ण]

श्रीहेमसूरिवाचामाचामतिचातुरीपरविचारं ।
व्याख्यातायश्लोकस्तां परिचिनुते **यशोविजयः** ॥१॥

सत्केवलप्रकाशेन, भुवनाभोगभास्वते । भद्रंकराय भक्तानां, **श्रीपार्श्वाय** नमो नमः ॥२॥

[द्वितीयश्लोकावतरणिका]

ननु—भवतु कदाचिद्बाह्यवस्तुनो नित्यानित्यत्वं, प्रमातुस्तु नित्यत्वमेव युक्तं, तस्याऽनित्यत्वे मानाऽभावात्। **न च** ज्ञानाद्यभेदात्तथात्वं, **तथा** सति दुःखाऽभेदाद्दुःखध्वंसस्याप्यात्मध्वंसरूपत्वात्तदर्थिनो यमनियमादौ प्रवृत्तिर्न स्यात्। **न च** दुःखध्वंसत्वं—चरमदुःखध्वंसत्वमेव वा काम्यतावच्छेकं, **तत्रा**त्मध्वंसाऽभेदज्ञाने यमादौ बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्वस्य ज्ञातुमशक्यत्वात्। **नचा**त्मत्वावच्छिन्नध्वंसत्वमेव चार्वाकादिमतप्रसिद्धमनिष्टतावच्छेदकं, विजातीयसुखत्वमेव वा काम्यतावच्छेदकमिति **वाच्यं**, तथापि "**नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म**" [तै०आ०] तिश्रुत्या तस्य नित्यत्वस्यैवौचित्यात्। नित्यसुखादिनैव सममभेदबोधाज्जीवानामपि भावकार्यत्वावच्छिन्नं प्रत्युपादानप्रत्यक्षत्वेनैव कारणत्वाल्लाघवाज्जगद्धेतुतया सिध्यन्नित्योपादानप्रत्यक्षरूपादेवेश्वरादभेदाच्च।

एतेन आनंदशब्दस्याजहत्पुल्लिंगतया नपुंसकत्वे लिङ्गव्यत्ययकल्पनमप्रामाणिकमिति—**निरस्तम्**। **न च** "आनंदं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षे प्रतिष्ठितमि"तिभेदबोधकश्रुतिसद्भावादुपचरितार्थत्वमेव पूर्वश्रुतेरिति—**वाच्यम्**, 'राहोः शिर' इत्यादौ षष्ठ्या अभेदेपि दर्शनात्। **अत्रा**भेदप्रकारकबोधाल्लक्षणैव श्रुतौ तु सा न युक्तेति **चेत्**? **न**, सुब्विभक्तौ लक्षणाऽनभ्युपगमादन्यथा व्यत्ययानुशासनवैयर्थ्यात्। अथ विभक्त्यंतरार्थे विभक्त्यंतरस्य लक्षणाया निषिद्धत्वज्ञापकं व्यत्ययानुशासनं, अत एव 'घटं जानाती'त्यादौ द्वितीयाया विषयित्वे लक्षणा नाऽनुपपन्ना, कृद्योगे षष्ठ्यनुशासनं च द्वितीयाऽसाधुत्वज्ञापकम्। निष्ठादिवर्जनं निष्ठायां तत्साधुत्वज्ञापकम्। कृत्ययोगे विकल्पविधानं च निष्ठायां शेषषष्ठ्यसाधुत्वज्ञापकमिति **चेत्**? **न**, तथापि भेद एव षष्ठीत्यनियमात्तत्र संबंधत्वप्रकारकबोधेनाप्युपपत्तेरत आहुः—**आत्मनीति**—

आत्मन्येकान्तनित्ये स्यान्न भोगः सुखदुखयोः।
एकान्ताऽनित्यरूपेऽपि न भोगः सुखदुःखयोः॥२॥

[भोगपदार्थसमीक्षा]

आत्मन्येकान्तनित्ये'ऽभ्युपगम्यमाने' इति शेषः। सुखदुःखयोर्भोगः साक्षात्कारो न स्यात्। यद्यपि भोगपदं सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारे रूढमिति पुनः **सुखदुःखयो**रित्युपादाने पौनरुक्त्यम्, तथापि '[1]विशिष्टवाचकानामि'त्यादिन्यायाद्भोगपदमत्र साक्षात्कारमात्रपरं द्रष्टव्यम्। **न च** शक्यादनन्येऽर्थे कथं लक्षणा? शक्यसंबंधाभावादिति **वाच्यं**, तत्राप्यभेदसंबंधस्य जागरुकत्वात्। अत एव जिधातोः 'प्रजयती'त्यादौ प्रकृष्टजये लक्षणा। **ननु** "संबंधितावच्छेदकभेदं विनाऽभेदग्रहो दुःशकः, 'घटो घटः' 'नीलघटो घट' इत्यादौ तदग्रहात्। अत एव प्रजयतीत्यत्र जिधातोः शक्त्योपस्थिते जयत्वावच्छिन्ने लक्षणयोपस्थितेन प्रकृष्टत्वावच्छिन्नेनैव सममभेदबोधः, युगपद्वृत्तिद्वयापातस्य **मणिकृता**मिष्टत्वात्। अस्तु वा तत्र प्रोत्तरजित्वादिना शक्यत्वात्प्रकृष्टज-

१. 'विशिष्टवाचकानां पदानां सति विशेषणवाचकपदसमवधाने विशेष्यार्थमात्रपरत्वमि'तिन्यायात्

यस्य शक्त्यैव बोधः। न चैवमुपसर्गस्य द्योतकत्वं न स्यादिति वाच्यं, औपसंदानिकशक्तेरेव द्योतनत्वात्। न च जिपूर्वप्रत्वादिनापि शक्तत्वे विनिगमनाविरहः, धातुभिन्नार्थस्याख्यातार्थभावनायामन्वयाव्युत्पत्तेर्विनिगमकत्वात्, इति चेत्? न, 'नीलघटो घट' इत्यादौ शब्दादभेदाबोधेप्यन्यस्मात्तद्बोधसंभवादन्यथा सामान्यपदानां विशेषपरत्वं कुत्रापि न स्यात्। 'विशिष्टवाचकानामि'त्यादिन्यायेन विशेष्यविशिष्टवाचकपदयोर्विशेषणांशे संभूयैकान्वयबोधजनकत्वमेव व्युत्पाद्यत' इत्यप्याहुः।

नैयायिकैकदेशिनस्तु भोगत्वं चाक्षुषादिसामग्रीप्रतिबध्यतावच्छेदककुक्षिप्रविष्टतया सिद्धो जातिविशेषः। **न च** स्वसमवायिलौकिकविषयितया भोगान्यमानसप्रतिबन्धकतावच्छेदकीभूतसुखदुःखवृत्तिजातिविशेषवदन्यमानसत्वादिकमेव मानसान्यसामग्रीप्रतिबध्यतावच्छेदकं, सुखदुःखवृत्तिजादतिविशेषवत्प्रतिबध्यतावच्छेदकमपीदमेव तेन न तत्प्रविष्टतया भोगत्वसिद्धिरिति—**वाच्यम्**, अनया दिशा साक्षात् सुखादिवृत्तिजातिः प्रतिबध्यतावच्छेदककोटौ प्रवेश्या साक्षान्मानसवृत्तिर्भोगत्वजातिर्वा स्वसमवायिलौकिकविषयतासम्बन्धेन प्रतिबन्धकतावच्छेदककोटौ प्रवेश्येत्यत्र विनिगमकाभावात्, प्रागुक्तजातेर्ज्ञानत्वपर्यंतसंबंधेन प्रतिबध्यतावच्छेदकत्वप्रसंगाच्चेत्याहुः। तन्मते 'सुखदुःखयो'रित्यस्य न पौनरुक्त्यम्।

[आत्मन एकान्तध्रुवत्वपक्षदूषणम्]

अथ प्रकृतं प्रस्तुमः। एकांतनित्यः सन्नात्मा सुखदुःखे युगपद्भुञ्जीयात्क्रमेण वा? नाद्यो विरोधात्। न द्वितीयः, स्वभावभेदेन सर्वथानित्यत्वहानेः। अथ यथा प्रदीपो घटादीन् प्रकाशयन्नपि न घटादिस्वभावस्तथा सुखदुःखे भुञ्जानोऽपि जीवो न तत्स्वभाव इति क्रमिकतद्भोगपक्षेऽपि न स्वभावभेद इति चेत्? न, स्वभावो हि स्वद्रव्यगुणपर्यायानुगतं स्वरूपास्तित्वं, तच्च सादृश्यास्तित्वेनैकीभवतोप्यन्यस्माद्भेदप्रतीतिमाधत्ते। तथा चाऽऽत्मनः स्वभावभूतयोः सुखदुःखयोर्गुणयोः क्रमभोगे विभिन्नकालभोग्यत्वरूपविरुद्धधर्माध्यासात् स्वभावभेदः कस्य पाणिना पिधेयः? प्रदीपस्य घटादिस्तु स्वद्रव्याद्यन्यतरान्यत्वान्न स्वभावः। घटपटादीनां क्रमप्रकाशे पुनरेकांतनित्यत्वं तस्यापि निरस्यमेव, विभिन्नकालीनत्वरूपविरुद्धधर्माध्यासेन प्रकाशस्वभावभेदात्। अथैवमपि ध्वंसाऽप्रतियोगित्वरूपं सर्वथानित्यत्वमक्षतमेवेति चेत्? न, मनुष्यत्वादिनैव तद्ध्वंसादात्मत्वादिना स नेति तु प्रागेव प्रत्यपीपदाम।

आत्मत्वमनुष्यत्वयोरपि भेदे का प्रत्याशेति चेत्? न, तयोरत्यंतभेदाभावेऽपि साक्षाद्ध्वंसप्रतियोगितावच्छेदकत्वस्य मनुष्यत्वादावेव प्रतीतिबलेन कल्पनात्। इदमत्र ध्येयम्—यद्यपि यत्किंचिद्घटात्यंताभाववत्यजायमानया 'घटो नास्ती'ति प्रतीत्या तत्र घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिता सिध्यति। ध्वंसे तु नैवं, तथापि 'घटत्वेनायं ध्वस्तो—ध्वंसप्रतियोगी न तु मृत्त्वेनेत्यादिप्रतीत्या तत्र सा सिध्यति। अवच्छेदकता हि स्वरूपविशेषः, सा च क्वचिदतिप्रसक्तेऽपि धर्मे प्रतीतिबला-

त्कल्प्यते इति। ननु तथापि ध्वंसप्रतियोगितावच्छेदकरूपवत्त्वं पर्यायस्यैवानित्यत्वमस्तु, द्रव्यस्य तु कथमिति चेत्? न, तादृशरूपवदभिन्नत्वस्यानित्यत्वस्योभयसाधारणत्वात्, अन्यथा मेर्वादिपर्यायेष्वपि तदभावात्।

अथानित्यत्वपक्षेऽपि दोषमाहुः—'एकांतानित्यरूपेऽपी'ति–निगदसिद्धमिदम्। अयं भावः–एकांताऽनित्यस्य सत आत्मनः सुखदुःखयोर्युगपद्भोगो विरुद्धत्वादेव नेष्टः। क्रमभोगपक्षे तु क्षणिकत्वपक्षो बालतरलाक्षिकटाक्षतरलः, तत्क्षणध्वंसाधिकरणसमयस्यैव क्रमपदार्थत्वात्। क्षणिकस्य तु जातमात्रस्यैव विनाशादुत्तरक्षणाननुवृत्तेः। एवं च 'प्रवृत्तिविज्ञानोपादानमालयविज्ञानसंतान एवात्मा, स च पूर्वपूर्वविज्ञानोपादेयः प्रतिसमयोत्पादिष्णुरनित्य एवे'ति मतमपास्तम्, कर्तुर्भोगसमयपर्यन्तमनवस्थानात्, अन्यकृतस्याऽन्येन भोगेऽतिप्रसंगात्, कालरूपसंतानकृतैक्यस्याप्यन्यसाधारण्यात्, सर्वकालानुगतातिरिक्तसंतानाभ्युपगमे फलतो नित्यात्मन एवाभ्युपगमापाताच्चेति ॥२।

अथोभयोः पक्षयोर्दूषणांतरमुभाभ्यामनुष्टुब्भ्यामतिदेशयन्ति स्म–"पुण्यपाप" इति –

पुण्यपापे बन्धमोक्षौ न नित्यैकान्तदर्शने।
पुण्यपापे बन्धमोक्षौ नाऽनित्यैकान्तदर्शने ॥३॥

(व्याख्या)-एकांतनित्यात्मवादिमते पुण्यपापयोरसंभवः। ते हि–"यागब्रह्महत्यादीनां क्षिप्रभंगुराणां स्वर्गनरकादिकं प्रति श्रुतिबोधितकारणतायाः फलपर्यंतव्यापारव्याप्ततया, तत्र व्यापारस्यान्यस्यासंभवात्परिशेषाददृष्टसिद्धिः। न च यागादिध्वंसेनैव निर्वाहस्तस्य फलानाश्यत्वात् फलसंतानस्य कदाचिदप्यनुपरमप्रसंगात्। नचैवमपूर्वस्यापि प्रथमस्वर्गादिनैव नाशात् फलसंतानो न निर्वहेदिति वाच्यं, तस्य चरमफलनाश्यत्वात्। चरमत्वं च स्वसमानजातीयप्रागभावासमानकालीनत्वादिकं, जातिविशेषो वा। न च ज्योतिष्टोमादिजन्यतावच्छेदिकया सांकर्यं, तत्तद्व्याप्यचरमत्वस्य भिन्नस्यैव स्वीकारात्। नचाऽपूर्वोत्पत्त्यनंतरमेव फलं कुतो न भवतीति वाच्यं, वृत्तिलाभकालस्यापि-नियामकत्वात्। अथ निर्व्यापारस्यैव यागादेरव्यवहितत्वांशविनिर्मुक्तकारणताग्रहः संभवतीति नापूर्वसिद्धिरिति चेत्? न, अव्यवहितपूर्वसमयावच्छेदेन कार्यवति यदभावो ज्ञायते तत्रैव कारणताबुद्ध्यनुदयेन तद्घटिताया एव कारणताया युक्तत्वात्, कीर्त्तनादिनाश्यत्वेनाऽपूर्वसिद्धेश्च। तच्चाऽदृष्टमात्मनो गुणरूपं विहितनिषिद्धक्रियाजन्यमात्मनः सर्वथाभिन्नं"–इत्याहुः।

तदसत्–स्वतन्त्रप्राप्यत्वेनात्मपरिणामरूपस्यैवादृष्टस्य कल्पयितुं युक्तत्वात्। धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पनाया लघीयस्त्वात्। तदुपनीतप्रकृतिविशेषाऽबाधाकालपरिपाकादेव फलोदयात्। अत एव फलसंतानस्थितिः कर्मणः स्थितिबंधं नाऽतिवर्त्तते। परिणामादृष्टजनितेन च पौद्गलिकाऽदृष्टेनैवात्मनः अनुग्रहोपघातौ संभवतः, पुद्गलस्यैवाऽन्यत्रानुग्रहोपघातकारित्वदर्शनात्। किंचात्मनः शुभाशुभपरिणामौ परसंसर्गजन्यौ, शुद्धपरिणामं तिरस्कृत्याऽऽविर्भावात्, जपातापिच्छकुसुमसं-

क्रमजनितस्फटिकरागवत् इत्यनुमानादपि पौद्गलिकादृष्टसिद्धिः । न च परिणामादृष्टात्पौद्गलिकाऽदृष्टं पौद्गलिकाऽदृष्टाच्च परिणामाऽदृष्टमित्यन्योन्याश्रय इति वाच्यं, बीजांकुरस्थल इवानाद्यन्योन्याश्रयस्यात्राऽदोषत्वात् ।

अथ मूर्त्तयोः परस्परसंक्रमसंभवात् स्फटिकादौ जपातापिच्छसंसर्गवशात् श्यामरक्तादि रूपपरिणामो युक्तः, आत्मनस्त्वमूर्त्तत्वात्पुद्गलसंसर्गेणापि कथं विभावपरिणामः संभवीति चेत्? न, ज्ञेयनिमित्तकोपयोगाधिरूढज्ञेयाकारसंबंधस्येव कर्मनिमित्तकोपयोगाधिरूढरागद्वेषभावस्यात्मनि निरपायत्वात् । मोहक्षोभविहीनो ह्यात्मनः परिणामः शुद्धः, परानुपनीतत्वात्, स एव हि चारित्रशब्दवाच्यः, अत एव सिद्धानां चारित्रं निष्कलंकम् । यथाहि ज्ञानदर्शनावरणदर्शनमोहक्षयात्तेषां शुद्धज्ञान–दर्शन–सम्यग्दर्शनानि प्रादुर्बभूवुस्तथा चारित्रमोहक्षयाच्चारित्रमिति ध्येयम् ।

अत एव '[1]नाणस्स सव्वस्स पगासणाए, अन्नाणमोहस्स विवज्जणाए । रागस्स दोसस्स य संखएणं । एगंतसुक्खं समवेइ मुक्खं' ॥ [उत्तरा० ३२–श्लो० २] इत्यत्र सम्यग्दर्शन-ज्ञान–चारित्रैरेकांतसौख्यं दुःखलेशाकलंकितं सुखमिति व्याख्यातम् । गुणस्थानक्रमारोहेऽपि–'अनन्ते शुद्धसम्यक्त्वचारित्रे मोहनिग्रहादिति' प्रत्यपादि । '[2]सिद्धे णो चरित्ती णो अचरित्ती' इत्यत्र तु 'नो' शब्दो देशचरित्रनिषेधवाचकः व्यवहारचरित्रस्य तेषामभावादन्यथा व्याख्याता तु परस्परग्रन्थविरोधकांदिशीकः कां दिशमनुसरतु ! इदमपि व्यवहारनयाभिप्रायेण । निश्चय-तस्तु परमचारित्रवानेव सिद्धस्तत्रैव सर्वगुणपारम्यविश्रांतेः । अथ पंचस्वनंतर्भावात्सिद्धानां कतरच्चारित्रमस्त्विति चेत्? पारिशेष्याद्यथाख्यातमेव तदनुमीयतां, '[3]आया सामइए आया सामाइअस्स अट्ठे' इत्यादिनाऽऽत्मस्वरूपतापि चारित्रस्य बहुसमयसुप्रसिद्धेत्यधिकमस्मत्कृताध्यात्ममतपरीक्षायामध्यवसेयम् ।

तथा च स्वभावभेदेनैव तादृशधर्मयोर्जननादेकांतनित्यतापक्षो मूलक्षत एव । अत एव बन्ध-मोक्षयोरपि कर्मादान-सकलकर्मविप्रमोक्षलक्षणयोर्मिथ्याज्ञानवासनादुःखध्वंसरूपयोर्वा तत्पक्षेऽसंभवः । एवमेकांतानित्यरूपेपीत्यादिना दोषो विभावनीयः, क्षणिकस्य क्रमिकक्रियाकारित्वविरोधात् । [श्लो० ३ संपूर्ण] ॥

क्रमाक्रमाभ्यां नित्यानां युज्यतेऽर्थक्रिया न हि ।
एकान्तक्षणिकत्वेऽपि युज्यतेऽर्थक्रिया न हि ॥४॥

क्रमाऽक्रमाभ्यामिति–अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपाणां हि क्रमेण युगपदर्थक्रियाकारित्वं न घटामटाट्यते । तथा हि–अर्थस्य=घटादेः, क्रिया=ज्ञानादिरूपा, तत्कारित्वं=तज्जनकत्वं, सर्वथा

१–ज्ञानस्य सर्वस्य प्रकाशनया, अज्ञानमोहस्य विवर्जनया । रागस्य द्वेषस्य च संक्षयेन; एकान्तसुखं समुपैति मोक्षम् ॥ इति संस्कृतम् । २–सिद्धे नो चारित्रिणः नो अचारित्रिणः । ३–'आत्मा सामायिकं आत्मा सामायिकस्य अर्थः ।

नित्यानामात्मादीनां देशक्रमेण कालक्रमेण वा न संभवति, यत्किंचिद्देशकालावच्छेदेनैव सकलकार्यकरणसामर्थ्यात्, अन्यथा देशकालभेदेन स्वभावभेदादनित्यत्वापातात्। अथात्मादीनामर्थक्रियाकारित्वेऽपि यत्र कुत्रचिद्यदाकदाचित्सर्वाऽर्थक्रियाकारित्वमित्यत्रापादकाभावस्तत्स्वभाववतां देशकालादीनां विलंबाच्च कार्यविलंब इति चेत्? न, निश्चयतः क्रियान्तर्लीनाया एव कारणताशक्तेरभ्युपगमादचेतनकालादेर्ज्ञानजननस्वभावत्वाऽयोगात्। कथं तर्हि घटज्ञानकालेन पटज्ञानोदय इति चेत्? तत्तत्कालविशिष्टस्यैवात्मनस्तज्ज्ञानजननस्वभावत्वात्। न च विनिगमनाविरहः, कालादीनां नैश्चयिकज्ञानसम्बधाभावात्। न चैवं समवायपक्षक्षतिः, कार्यानुकूताऽन्वयव्यतिरेकप्रतियौगित्वरूपस्य कारणत्वस्य तत्रापि सत्त्वात्। ज्ञानजननशक्तिस्तु ज्ञानोत्पत्त्येवेति तत्त्वम्। तथा च तत्तत्कालभेदेनात्मनः स्वभावभेदादेकांतनित्यतापक्षो विह्नशीर्ण एव।

अथ स्वस्य भावः स्वभावः, स चात्मत्वादिरूपः कार्यभेदाय न भिद्यते, घटज्ञानादिरूपविशेषकार्यं तु घटेन्द्रियसन्निकर्षादिविशेषसामग्रीवशात्। अत एवोभयसामग्रीसमावेशाद् घटपटोभयसमूहालंबनमप्युदेतीति चेत्? न, स्वस्यात्मनो भावः कार्यजननपरिणतिः। सा च घटोपयोगादिरूपा घटज्ञानादिभेदाय भिद्यते एव। सुषुप्तिकाले ज्ञानानुपपत्तिदर्शनेनोपयोगरूपव्यापारसाचिव्येनैव जीवस्य ज्ञानजनकत्वात् कारकत्वस्य सव्यापारकत्वव्याप्तत्वाच्च। तथा च घटाद्युपयोगस्वभावेनैव घटादिज्ञानं जनयत्यात्मेति जीवस्वभावभेदेनैव ज्ञानभेद इत्याहुः। किंच कारणकलापमेलकस्य कार्योपधायकत्वेऽपि तस्याऽपि वैचित्र्यात् स्वभाववैचित्र्यै का प्रत्याशा? तस्मात् स्वभाववैचित्र्येऽप्यन्यादृशं नित्यत्वमेव तत्रास्तीति स्वाग्रहमेव गृहाण। तमेव गृह्णामीतिचेत्पथः स्मर मोचितोऽसि ततः प्राग्।

अथ पूर्वपूर्वपरिणामानामेवोत्तरोत्तरपरिणामजननस्वभावत्वादात्मनः कूटस्थनित्यत्वमेवोचितमिति चेत्? न, तस्य तदभेदेनैव कर्तृत्वादत एवैकस्यैव षट्कारकीभावोऽप्यन्यत्र प्रासाधि। अथ नित्यचेतनास्वभावत्वरूपार्थक्रियाकारित्वादात्मनः कूटस्थनित्यत्वमेवोचितमनित्यचेतनायास्तु प्रधानसाध्यत्वमिति चेत्? न, चेतनायाः स्वतोनित्यत्वात्पर्यायतोऽनित्यत्वस्यैतदपक्षपातित्वात् ज्ञानकर्मफलरूपायाः स्वतंत्रप्राप्यत्वेन कर्मीभूतायाश्चेतनायास्तत्तदुपयोगपरिणत्या स्वतंत्रतयात्मनैव कर्त्रा संभवात्, प्रधाने मानाभावात्। अथैवमपि द्रव्यकर्मरूपार्थक्रियाकारित्वमात्मनः कथमिति चेत्? अर्थस्यात्मनः क्रियैव कथं तत् निश्चयतः कर्त्रंतरेव क्रियाशक्तेर्लीनत्वात्। 'भावकर्मरूपात्मपरिणतिक्रियाजन्यत्वादुपचारात्तत्तथे'ति चेत्? तर्हि द्रव्यकर्मनिमित्तीभूतभावकर्मकर्तृत्वेनोपचारादेवात्मनो द्रव्यकर्मकर्तृत्वमिति गृहाण। प्राप्यत्वगर्भकर्मत्वस्य परिणामविशेष एव पर्यवसानात्, सर्वथा भिन्नस्य प्राप्तौ सम्बन्धाऽभावात्। नहि क्रियाजन्यफलशालित्वादिकं पराभिमतं कर्मत्वमपि सार्वत्रिकम्, 'घटं जानाती'त्यादावेव तदभावात्। एतेना-

र्थक्रियेत्यत्र प्रथमातत्पुरुषेऽपि क्रमपक्षः प्रत्याख्यातः। युगपत्पक्षे तु प्रत्यक्षबाधः। एकान्तनित्यपक्षेऽपि दोषमभिदधत्येकांतेति—क्रमाक्रमयोरसंभवप्रतीतिबाधाभ्यामिति भावः ॥४॥

अथैकांतवादोपकल्पितकर्कशतरतर्कतिमिरनिकरनिराकरणेन प्रकटीभूतप्रतापं भास्वतमनेकांतवादमभिनंदंति—"यदा त्वि"ति—

यदा तु नित्याऽनित्यत्वरूपता वस्तुनो भवेत्।
यथात्थ भगवन्नैव तदा दोषोऽस्ति कश्चन ॥५॥

ननु परेऽपि पृथिव्यादिन्यपि नित्यानि परमाणुरूपाणि, स्थूलानि पुनरनित्यानि संगिरंत इति को विवादः? इत्यत आहुः "**यथात्थे**"ति। **भगवान्** स्यान्नित्यं, स्यादनित्यं, स्यान्नित्याऽनित्यं, स्यादवक्तव्यं, स्यान्नित्यमवक्तव्यं, स्यादनित्यमवक्तव्यं, स्यान्नित्यं चानित्यं चावक्तव्यं चेति **प्रकाशयति**, न तथा परे स्वप्नेऽपि संविद्रते इति भावः।

इदमिदानीं निरूप्यते—सर्वत्र हि वस्तुनि स्यान्नित्यत्वादयः सप्त धर्माः प्रत्यक्षं प्रतीयन्ते। तथाहि (१) घटो द्रव्यत्वेन नित्यः (२) पर्यायत्वेन चानित्यः इति संवेद्यते। **न च** ध्वंसप्रतियोगितानवच्छेदकद्रव्यत्ववत्त्वतदवच्छेदकपर्यायत्ववत्त्वरूपे नित्याऽनित्यत्वे कथं द्रव्यत्वपर्यायत्वावच्छेद्ये! **स्वस्य** स्वाऽनवच्छेदकत्वादिति **वाच्यम्**, अत्र ध्वंसप्रतियोगित्वतदभावरूपयोरेव नित्याऽनित्यत्वयोरेकत्र समावेशाय द्रव्यत्वपर्यायत्वावच्छेद्यत्वाभ्युपगमात्। अस्तु वा विशिष्टस्य स्वस्यापि स्वावच्छेद्यत्वं, कथमन्यथाऽनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्त्तितावच्छेदकदण्डत्वादिरूपा कारणता दंडत्वाद्यवच्छिन्ना स्यात्।

(३) क्रमिकविधिनिषेधार्पणासहकारेण स्यान्नित्याऽनित्योऽपि प्रतीयते। **न च** समुदिताभ्यां नित्यत्वाऽनित्यत्वाभ्यामेवैतन्निर्वाहाद्धर्मान्तरकल्पनं किमर्थकमिति **वाच्यम्**?, समुदितयोस्तयोर्विलक्षणत्वेनैतत्स्थानाऽभिषेचनीयत्वात्। **न च** प्रत्यक्षे इच्छायाः कथं नियामकत्वमिति **वाच्यम्**, प्रतीतिबलादेतादृशेच्छाविशिष्टबोधं प्रत्येतादृशेच्छायाः कारणत्वकल्पनात्।

(४) युगपदुभयार्पणासहकारेण स्यादवक्तव्योऽपि, न तु सर्वथा, अवक्तव्यपदेनाऽपि अवक्तव्यत्वाऽऽपत्तेः। **नचाऽवक्तव्यत्वं** शब्दाऽबोध्यत्वरूपं कथं योग्यमिति **वाच्यम्**, उपदेशसहकारेण पद्मरागादिवत्तद्ग्रहात्। नित्यत्वस्यात्र क उपकार **इति चेद**वक्तव्यत्वेन परिणितिरित्येव गृहाण। वक्तव्यत्वेन परिणतिस्तु नित्यत्वादिविशेष एव विश्राम्यतीति न तदतिरेकावकाशः। वक्तव्यत्वेन बोधस्तु नित्यत्वविध्यादिकल्पनातो नित्यत्वादिनैव बोधान्नोदेति।

(५) क्रमाऽक्रमाभ्यां विध्युभयकल्पनासहकारेण स्यान्नित्यः स्यादवक्तव्यः। (६) ताभ्यां निषेधोभयकल्पनासहकारेण स्यादनित्यः स्यादवक्तव्यश्च। (७) ताभ्यामुभयकल्पनासहकारेण स्यान्नित्यः, स्यादनित्यः, स्यादवक्तव्यश्चेति। अत्रापि समुदायालम्बिनो शंका प्राग्वन्निरसनीया। **न च** विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहादाधिक्यमाशंकनीयं, तथाप्येतत्कृतपरिणत्य-

नतिरेकात् । नित्यानित्यत्वादयो जात्यंतररूपा अखंडा इत्यप्याहुः । अत एवामून् धर्मानवलंब्य तत्र तत्रोक्ता सप्तभंगी संगतिमंगति ।

अथ केयं सप्तभंगीति चेद् ?[1] 'एकत्र वस्तुन्येकैकधर्मपर्यनुयोगवशादविरोधेन व्यस्तयोः समस्तयोश्च विधिनिषेधयोः कल्पनया स्यात्कारांकितः सप्तधा वाक्प्रयोगः सप्तभंगी'तिसूत्रम् [प्र० न० परि० ४ सू० १४] यः खलु प्रागुपदर्शितान् वस्तुनः सप्त धर्मानवलम्ब्य संशते, जिज्ञासते, पर्यनुयुंक्ते च तं प्रतीयं फलवती, प्रश्नस्य तुल्योत्तरनिवर्त्यत्वात् । अत एवैकेनापि भंगेन न्यूना सतीयं न प्रमाणम् । सप्तप्रतिपाद्यावगाहिसंश(य)जजिज्ञासाजन्यानां सप्तानां प्रश्नानामनिवर्त्तनात् । यथा च सामान्यतः शब्दः सर्ववाचकोऽपि संकेतविशेषं सहकृत्यान्वयं बोधयति तथेयमप्यर्पणाविशेषसहकृत्वरी सतोति । शब्दे इच्छाया अनियामकत्वं तु दुर्बलयुक्तिकम् । सप्तभंगीविनिर्मुक्तशब्दमात्रस्याऽबोधकत्वं तु न वाच्यम्, 'विधिप्रतिषेधाभ्यां स्वार्थमभिदधानः' इत्यनेनार्पणाविशेषस्थल एव तदनुवर्त्तनाभिधानात् । अत्र च स्यान्नित्यवादिषु सप्तभंगेष्वेवकारोऽवधारणार्थोऽन्यथाऽनुक्तसमत्वाऽऽपातात् , स्यात्पदं तु तत्तदवच्छेदकरूपपरिचायकं, तदपरिचये सांकर्यादिशंकाऽनिवृत्तेः ।

ननु स्यादस्ति स्यान्नास्तीत्यादिसप्तभंग्यां घटत्वादिना घटाऽस्तित्वं कथं विधीयतां ? अस्तित्वत्वेनैव तद्विधानसंभवात् । पटत्वादीनां वा घटास्तित्वं कथं प्रतिषिध्यतां ? व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाऽभावस्याऽप्रामाणिकत्वात् । न च 'घटत्वेन नास्ती' त्यादिप्रतीतिरेव तत्र मानम्—नञान्वयितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वस्यैव व्युत्पत्तिलभ्यत्वात्कथमत्र घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वलाभ इति वाच्यं—तृतीयांतपदस्थले एव तदुल्लिखितधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वस्यैव संसर्गत्वादन्यथा 'घटत्वेन कंबुग्रीवादिमान्नास्ती'ति प्रतीतेरप्यप्रामाणिकत्वापत्तेरिति वाच्यं, तद्धर्मविशेषणतावच्छेदकतया भासकसामग्र्या एव प्रतियोगितावच्छेदकत्वभासकत्वात् पटादौ घटत्वादिभानस्यावश्यकत्वात्तस्य च प्रमारूपस्याऽसंभवात् भ्रमस्य च वस्त्वसाधकत्वाद्घटत्वादेः पटादिनिष्ठप्रतियोगितावच्छेदकत्वात्घटत्वादेः पटादिनिष्ठेप्रतियोगितावच्छेदकत्वासिद्धेरतिरिक्ताऽभावकल्पने गौरवाच्च । एतेन—'घटादौ पटत्वादिवैशिष्ट्यांशभाने भ्रमत्वेऽपि घटत्वादौ पटादिनिष्ठप्रतियोगितावच्छेदकत्वांशे बाधकाभावादभ्रमत्वमि'ति निरस्तम् । अथ व्यधिकरणसंबंधावच्छिन्नाभाव एव व्याधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव इति न तदतिरेककल्पनाप्रयुक्तगौरवावकाश इति चेत् ? न, तथापि पटादिनिष्ठघटत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगितांतरकल्पने गौरवात् । न च घटत्वादिपर्यवसितेन घटादितादात्म्येन पटाद्यभावस्य क्लृप्तत्वान्न दोष इति वाच्यं, उक्तनीत्या घटत्वादिसंबंधावच्छिन्नपटादिनिष्ठप्रतियोगिताकल्पनेऽपि घटत्वादिधर्मावच्छिन्नतदकल्पनात् । न च तादृशप्रति-

१—द्वाविंशतितमपृष्ठे 'इति चेदि'त्यनेन सहास्यान्वयो बोध्यः ।

योगितातदवच्छेदकत्वादेः स्वरूपानतिरिक्ततया न तत्कल्पनगौरवमिति वाच्यं, एवं सति गुरुधर्मे कारणतावच्छेदकत्वादेरप्यापत्तेः शास्त्रे गौरवपदार्थस्य दुःप्रचारापत्तेः। यत्तु—'घटत्वेन पटो नास्ती'ति प्रतीतेर्घटत्वसंबंधावच्छिन्नपटनिष्ठप्रतियोगिताकाभावावगाहित्वेनैवोपपत्तेर्न तया व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावसिद्धिरन्यथा घटत्वाद्यवच्छिन्नघटादिनिष्ठप्रतियोगिताकाभावत्वेन घटत्वाद्यवच्छिन्नं प्रति हेतुताकल्पने गौरवादिति भवदेवाऽभिमतं—तच्चिन्त्यं, घटत्वविशिष्टपटवत्ताभ्रमप्रतिबंधिकायास्तस्या घटत्वविशिष्टपटाभावाऽवगाहित्वस्य बाधकसहस्रेणापि पराकर्तुमशक्यत्वात्। न खलु सहस्रेणापि बाधकैरिदं रजतमिति प्रतीतेः रंगत्वावलम्बनत्वं व्यवस्थापयितुं शक्यते। तदिदमभिप्रेत्योक्तं दीधितिकृता 'यदि पुनरानुभविको लोकानां स्वरसवाही घटत्वेन पटो नास्तीत्यादिप्रत्ययो तदा तादृशो[ऽभावनिवारणं गीर्वाणगुरुणामप्यशक्यमि'ति] । न च घटत्वेनाऽनाहार्यपटवत्तानिश्चये कथमेतादृशधीरिति वाच्यं, अवच्छेदकोदासीनायास्तस्या अविरोधात्। तदौदासीन्यमेव कथमिति चेत्? तृतीयान्तपदोल्लिखितधर्मेऽवच्छेदकत्वस्य गौरवेण बाधातृतीयांतपदस्थलेऽन्वयितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वस्य च व्युत्पत्त्यलभ्यत्वात्। गौरवाऽप्रतिसंधानदशायां घटत्वांशेऽवच्छेदकत्वाऽनुदासीनामपि च 'घटत्वेन पटो नास्ती'ति धियं घटत्वेन घटवत्ताधीर्न विरुणद्धि, तस्या घटत्वावच्छिन्नाभावधिय एव विरोधित्वात्। अथ व्यधिकरणसंबंधावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव एव व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक इति न तदतिरेककल्पनागौरवम्। न च तथापि घटत्वादेः पटादिनिष्ठप्रतियोगितावच्छेदकत्वभासकसामग्र्या घटत्वपटत्वादिज्ञानस्य नानाविधतद्विरोधज्ञानस्य च सहकारित्वकल्पने महद्गौरवमिति वाच्यं, घटत्वादेः पटादिनिष्ठप्रतियोगितावच्छेदकत्वभ्रमोपपत्तये तत्कल्पनाया आवश्यकत्वादिति चेत्? न, तथापि घटत्वादौ पटादिनिष्ठप्रतियोगितावच्छेदकत्वकल्पने गौरवात्। न च तत्र स्वरूपसंबंधरूपतत्कल्पने गौरवधीर्न विरोधीनीं, एवं सति गुरुणि कारणतावच्छेदकत्वादेरप्यापत्तेः शास्त्रे गौरवपदार्थप्रचारशैथिल्यापातादिति चेत्?

मैवम्, यतो नह्यत्र घटत्वेन घटस्येव घटत्वेन घटास्तित्वस्य विधिः, न वा घटत्वेन घटस्येव पटत्वादिना घटास्तित्वस्य प्रतिषेधः। किन्तु स्वद्रव्यादिचतुष्टयपरद्रव्यादिचतुष्टयावच्छेदेन मूलाग्रावच्छेदेन 'वृक्षे संयोगतदभावावि'व घटेऽस्तित्वविधिनिषेधौ। 'अवच्छेद्याधिकरणसंबद्धमेवावच्छेदकत्वं कथमनुपप्लवमि'ति चेत्? तादृ(ग्)नियमे मानाभावादित्येव ब्रूमः। उत्पादव्ययध्रौव्यैक्यरूपं घटास्तित्वं, स्वद्रव्यादिचतुष्टयनिर्वृत्तं, तदभावस्तु परद्रव्यादिचतुष्टयनिर्वृत इति तदर्थं इत्यप्याहुः।

ननु 'पटत्वेन घटो नास्ती'त्यत्रास्तित्वाभाववान् घटः इति न धीर्येन पटत्वस्य तदवच्छेदकत्वं कल्प्येत, किंतु 'पटत्वेन घटाभावोऽस्तित्वाश्रय' इति, अन्यथा 'भूतले घटो नास्ती'त्यत्रापि

१—मूलादर्शे तादृशशब्दानन्तरमनन्वयात् शेषा पंक्तिः व्यधिकरणदीधितितो योजिता।

'भूतलास्तित्वाभाववान् घट' इत्येव बोधः स्यात्तथा च 'क्व ?' इत्यधिकरणाकांक्षा केन पूर्यतामिति चेत् ? न, 'भूतले घटो नास्ती'त्यत्र भूतलावच्छिन्नकालसंबंधाश्रयत्वाभाववान् घट इत्येव बोधात् । अन्यथा घटवत्यपि भूतले 'घटो नास्ती'तिधियः प्रामाण्यापत्तेः । अत एव सुप्तिङोर्वचनैक्यनियमोऽपि संगच्छते, अन्यथा 'घटौ नास्ती'त्यस्याप्यापत्तेः, भावनाविशेषस्य घटद्वयादिप्रतियोगिकाभावस्याप्यैक्यात् ।

इयांस्तु विशेषो यदस्तित्वनास्तित्वोभयसमावेशाय घटेऽवच्छेदकभेदापेक्षा, केवलभूतलास्तित्वाभाववति तु नापाततः सेति । घटवत्यपि भूतले क्वचिद्घटे भूतलास्तित्वाभावाद्'भूतले घटो नास्ती'तिवाक्यं योग्यं स्यादिति चेत् ? स्यादेव, घटत्वसामानाधिकरण्येन भूतलास्तित्वावच्छेदेन तु तदभावान्नैवमिति तात्पर्यभेदेन तस्य योग्यायोग्यत्वे । अनुयोगितावच्छेदकावच्छेदेनैव नञर्थाभावान्वयस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वात् योग्यमेव तदिति पुनरन्ये । एतन्मते कपिसंयोगवति वृक्षे 'वृक्षे कपिसंयोगो नास्ती'ति न प्रमाणं, कपिसंयोगत्वावच्छेदेन वृक्षास्तित्वभावाभावात् । 'मूले वृक्षे कपिसंयोगो नास्ती'ति तु प्रमाणमेव, कपिसंयोगत्वावच्छेदेनैव मूलावच्छिन्नवृक्षावच्छिन्नकालसंबंधाभावात् । 'घटः स्यादस्तित्ववान् स्यादस्तित्वाभाववानि'ति बोधांतरादप्यस्तित्वनास्तित्वयोः समावेशसिद्धिरिति दिक् ।

स्यादेतत्—जीवादिद्रव्याणां स्वद्रव्यांतराभावात्स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन कथमस्तित्वं संभवतु ? 'तेषामपि स्वाश्रयप्रदेशानां जागरुकत्वान्न स्वद्रव्यादिचतुष्टयहानिरि'ति चेत् ? तथापि परमाणुकालयोः का गतिः ? परमाणोः स्वद्रव्यान्तरभावात्कालस्य स्वकालान्तराभावादिति । मैवं, तत्र शुद्धस्य स्वस्यैव स्वास्तित्वावच्छेदकत्वात्सम्निवर्त्तकत्वाच्च । 'अन्यत्रापि स्वेनैव तथा भूयतामि'ति चेत् ? न, व्यवहारातिक्रमे निरंकुशत्वापातात् । 'स्वरूपास्तित्वेनैव पररूपेण नास्तित्वप्रतीतिनिर्वाहात्कथमनयोर्भेद' इति चेत् ? स्वेतरवृत्तित्वेन प्रमीयमाणत्वाप्रमीयमाणत्वरूपविरुद्धधर्माध्यासात् । 'अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणी'त्यादिना स्वास्तित्वस्य प्रतिषेध्याविनाभावित्वोक्तावपि प्रतिषेध्यस्य स्वास्तित्वविनाभावित्स्य यौक्तिकत्वात्, पटत्वादिना नास्तित्वस्य घटेतरकुटादिवृत्तित्वेन प्रमीयमाणत्वं तु निराबाधम् । 'स्वपररूपादिचतुष्टयभेदात्तद्भेद' इत्यष्टसहस्रीकारवचनं तु विचारणीयं, अवच्छेद्यभेदादवच्छेदकभेदोऽवच्छेदकभेदाच्चावच्छेद्यभेद इत्यन्योन्याश्रयात् । स्वास्तित्वेनैव पररूपेण नास्तित्वप्रतीतिर्निर्वाहान्नास्तित्वमलीकमिति तु पापीयांसः, ते पुनरस्तीतिप्रतीतेर्नास्तित्वेनैव निर्वाहे कथमस्तित्वे गच्छन्ति हस्तावलंबदायिनः ।

संगीता सप्तभंगी यदि निखिलजगन्न्यस्तवस्तुव्यवस्था
मूलं कूलंकषायाः कषतु तटमियं तत्प्रमाणव्यवस्था ॥
येन स्यादप्रमाणं भुवनगुरुवचः सर्वथा न प्रमाणं ।
तस्मादेकांतवादो हित इति गदति स्पष्टमेकांतवादो ॥१॥

अत्र ब्रूमः प्रमाणं भवति भववचः किं सदप्यप्रमाणं ।
येन प्रामाण्यमुद्रापरपरिचयतः संकरोत्कीर्णकुक्षिः ॥
एकांतः कांतः एवेत्यपि यदि मनुषे किं तवांबा तदेयं ।
ब्राह्मण्यं भोस्तपस्विन् प्रथयति नियतं शूद्रदारानुरूपम् ॥२॥

अथ–विशेषणसंगतैवकारस्य विशेष्यनिष्ठव्याप्यवृत्त्यत्यंताभावाप्रतियोगित्वं विशेष्यनिष्ठप्रतियोगितानवच्छेदकत्वं वार्थः, तेन 'वृक्षः संयोग्येवे'त्यत्र नाऽप्रसिद्धिः । अयोगव्यवच्छेदस्तु नार्थः, 'प्रमेयमभिधेयमेवे'त्यत्रैवाभावात् । तत्र च खंडशःशक्तिर्लक्षणा वेत्यन्यदेतत् । तथा च 'घटः सन्नेवे'त्यत्र स्ववृत्त्यत्यंताभावाऽप्रतियोगिसत्त्ववान् स्ववृत्तिभेदप्रतियोगितानवच्छेदकसत्त्वान् वा घट इति बोधो न तु सर्वसत्त्ववानिति, तथा च क्व सांकर्यं, एकान्तवादे परौदासीन्येन सत्त्वमात्रबोधनात् । नन्वेवं 'द्रव्यं सदेवे'तिधीः कथं ? सत्तानतिरिक्ताया गुणत्वविशिष्टसत्ताया द्रव्यनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वादिति चेत् ? न, विशेष्यनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वपर्याप्त्यनधिकरणत्वस्य विवक्षितस्य तत्र सत्त्वादिति–चेत् ? मैवं, 'घटः सन्नेवे'त्यत्र 'घटः सन्न त्वसन्नि'त्येव हि स्वारसिको बोधः, तथा च प्रत्यक्षतः प्रतीयमानमपि पररूपेणाऽसत्त्वं घटे प्रतिक्षिपतः फलतः पररूपेणापि सत्त्वाभ्युपगमापातात्सांकर्यशंकाशंकुसंकुलचेतष्कता दुर्निवारा चिरमायुष्मतः । अथैवं 'प्रमेयं वाच्यमेवे'त्यत्र का गतिरिति चेत् ? किं तत्राऽवाच्यता न प्रतिषिध्यते ? अप्रसिद्धा सा कथं प्रतिषेध्यतामिति चेत् ? तर्हि तत्र योग्यताभावादेवकारोऽबोधक एवास्तु । प्रमेयवृत्तिभेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्वबोधः स्वारसिकश्चेत् ? तदास्तु तत्र तस्य लक्षणैव, शक्तिस्तु लाघवादयोगे व्यवच्छेदे च खंडश एवेति युक्तमुत्पश्यामः ।

अस्तित्वं यत्पटादौ न तदिह कलशे, यद्घटे तत्तु बाढम् ।
रूपं तस्यैव कुंभे न भवति हि यथेत्यत्र नो नो विवादः ॥
भावाभावैकभावाभ्युपगमविमुचो नो वचो युज्यतेऽदो ।
यस्मादस्माकमेतद्द्वयमिह मिलितं सप्तधा धर्मशालि ॥१॥

ननु तथापि नास्तीत्यत्राऽस्तित्वाभावस्येव नास्तीति पदवाच्यत्वादिधर्मस्यापि घटादौ संभवाद्भंगानां सप्तसीमातिक्रम इति चेत् ? न, नास्तीत्यनेन प्रतिषेधकल्पनावतीर्णप्रश्नोन्मग्नस्यास्तित्वाभावस्यैवाकांक्षितत्वात् । अत एव वक्तव्यत्वसप्तभंग्यां द्वितीयचतुर्थभंगयोर्नाभेदः, प्रतिषेधकल्पनासाचिव्येन द्वितीयभंगेन वक्तव्यत्वाभावस्यैव बोधनात् । अत एव च प्रकृतसप्तभंग्यां वक्तव्यत्वमपि नाधिकं, सप्तकल्पनावतीर्णप्रश्नानुन्मज्जनादिति ध्येयम् ।

[सप्तभंगीद्वैविध्यम्]

सा चेयं सकलादेशस्वभावा विकलादेशस्वभावा च । तत्र "प्रमाणप्रतिपन्नानन्तधर्मात्मकवस्तुनः कालादिभिरभेदवृत्तिप्राधान्यादभेदोपचाराद्वा यौगपद्येन प्रतिपादकं वचः सकलादेशः"

१– के पुनः कालादयः ? [१]कालः, [२]आत्मरूपं, [३]अर्थः, [४]सम्बन्धः, [५]उपकारः, [६]गुणिदेशः, [७]संसर्गः, [८]शब्दः इत्यष्टाविति रत्नाकरावतारिकायां प्रपञ्चितमधिकम् ।

[अ० न०–४–सू ४४] तदन्यो विकलादेशः । नित्यत्वादीनां कालादिभिरभेदविवक्षायां हि एकेनापि शब्देनैकधर्मप्रत्यायनमुखेनानेकधर्मस्य तदात्मकतापन्नस्य वस्तुनः प्रतिपादनसंभवाद्यौगपद्यम् । भेदविवक्षायां तु 'सकृदुच्चरित०' इत्यादिन्यायादेकशब्दस्यानेकार्थानां युगपदबोधकत्वात्क्रमः ।

['सकृदुच्चरित'न्यायप्रामाणिकत्वपरीक्षा]

अथ सकृदुच्चरितेत्यादिन्यायस्य प्रामाणिकत्वे एकशिष्टघटादिपदस्यानेकघटादिबोधकत्वं न स्यात्, न स्याच्च कस्मादपि घटपदात् घटघटत्वयोरपि स्वारसिको बोधः इति चेत् ? न, अग्रिमसकृत्पदस्यैकधर्मावच्छिन्नार्थकत्वात् । एवं सति भेदविवक्षायामप्येकेन शब्देनैकधर्मप्रत्यायनमुखेन वस्तुतोऽनेकधर्मात्मकस्यैव धर्मिणो बोधाद्यौगपद्यं निराबाधमिति चेत् ? न, अभेदविवक्षायामेवैकपदेन नानाधर्मावच्छिन्नधर्मिबोधसंभवे यौगपद्यप्रवृत्तेः । एकशेषस्थले तु वस्तुतः पदांतरस्मरणमेव कल्प्यं, अन्यथा घटपदात्समवायकालिकविशेषणताभ्यां घटत्वावच्छिन्नबोधयौगपद्यबोधप्रसक्तिभिया एकधर्मावच्छिन्नत्वस्य बोध्यतावच्छेदकतावच्छेदकैकसंबन्धावच्छिन्नत्वगर्भतावश्यकतया विषयितासमवायाभ्यां गुणत्ववद्बोधकैकशिष्टतदादिपदादुभयप्रतीतिर्न प्रादुर्भवेत् । एकपदस्यैकस्मिन् काले एकसंबन्धावच्छिन्नैकधर्मप्रकारतानिरूपितविशेष्यताशालिबोधोपधायकत्वमिति तु निष्कर्षः, तेन नैकपदस्य वस्तुतो नानाधर्मावच्छिन्नार्थबोधकत्वेऽपि क्षतिः । एकोच्चारणान्तर्भावेन शक्तिमत्पदातिरिक्तस्थले चायं नियमस्तेन न पुष्पदंतपदादेककाले सूर्यचंद्रत्वाभ्यां सूर्याचन्द्रमसयोर्बोधेऽपि क्षतिरिति ध्येयम् । धर्मे एकत्वं चैकसंकेतविषयतावच्छेदकत्वादिकम् ।

अत्र नव्याः–ननु किमर्थमयं नियमो ? न तावन्नानार्थकपदान्नानार्थानां युगपदबोधनिर्वाहाय, नानार्थकपदस्य प्रकरणादिना शक्तिर्यत्र नियम्यते तस्यैव बोधनियमेन तन्निर्वाहात् । अन्यथा भोजनवेलायां सैन्धवपदाल्लवणमेव प्रतीयते नत्वश्व इति नियमो न स्यात् । नापि शक्तिलक्षणाभ्यां युगपदनेकार्थाबोधनिर्वाहाय, 'प्रजयती'त्यत्रैकस्मादेव जिधातोः शक्त्या जयस्य लक्षणया प्रकृष्टजयस्य च बोधाभ्युपगमात् । अत एव चित्रगुरित्यत्र शक्त्या गोर्लक्षणया स्वामिनश्च बोधो नानुपपन्नः । नामार्थयोर्भेदेनान्वयः कथमिति चेद् व्युत्पत्तिवैचित्र्यात् । अत एव 'गंगायां घोष' इत्यत्र गङ्गातीरत्वेनोपस्थितिर्निराबाधा । वस्तुतो 'यद्धर्मविशिष्टे लक्षणाप्रतिसन्धानं तद्धर्मविशिष्टस्यैवोपस्थितिः शाब्दबोधश्चे'ति नियमादेव गंगापदाद्गंगातीरत्वेनोपस्थितिः । न चैवं शक्यतावच्छेदकेऽपि शक्तिर्न स्याद्यद्धर्मविशिष्टशक्तिग्रहस्तेन रूपेणोपस्थितिः शाब्दबोधश्चेति

१– 'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयती'तिन्यायात् ।

नियमादेव शक्यतावच्छेदकबोधसंभवात्, इति चेत्? न, शक्यतावच्छेदकेऽपि शक्तेरबाधादित्याहुः ।

अत्र वदन्ति—प्रकरणादीनामननुगतानां नार्थविशेषबोधे शक्तेः सहकारित्वं, तात्पर्यग्राहकत्वेन तदनुगमे तु लाघवात्तात्पर्यग्रहत्वेनैव तत्सहकारित्वकल्पनमुचितमित्येकदोभयतात्पर्यग्रहे एकपदादेकदोभयबोधाऽस्वारस्यनिर्वाहाय 'सकृदुच्चरिते'त्यादिनियमो युक्त इति । एकपदमेकया वृत्त्या एकमेवार्थं बोधयतीति सकृदुच्चरितेत्याद्यर्थ इति तु न युक्तं 'सर्वे सर्वार्थवाचका' इत्यभ्युपगमेनैकया शक्त्याप्येकपदस्यानेकार्थबोधकत्वात् । नचैवं लक्षणाद्युच्छेदः नियंत्रितसंकेताऽसंभवे तदवकाशात् । न च घटत्वपटत्वादिना शक्तिकल्पने गौरवं, प्रमेयत्वेनैव तत्कल्पनात्, तत्तद्धर्मेण बोधस्य संकेतविशेषनियम्यत्वात् । न चैवं शक्तिरन्तर्गडुरिति वाच्यं, वाच्यवाचकभावप्रतिनियमाय तत्कल्पनमित्याद्याकरे स्पष्टत्वात् । न च शब्दत्वेनैवाऽस्तु वाचकता, प्रमेयत्वेन च वाच्यता, तथापि शब्दादेवार्थबोधोऽर्थात्तु न, (तत्)कुतः? इति पर्यनुयोगस्य वाच्यवाचकभावप्रतिनियामकशक्त्यनभ्युपगमे दुरुद्धरत्वात् । कालाद्यष्टकस्वरूपं च **श्रीपूज्यलेखाद्** वसेयम् । अधिकतर्कास्त्वत्रत्या मत्कृत**सप्तभंगीतरंगिणीतो**ऽवसेयाः ।

ननु भवतु कदाचिदन्यवस्तुनो नित्याऽनित्यत्वं, प्रदीपादेस्तु सर्वथाऽनित्यत्वमेवोचितमिति **चेत्? न**, प्रदीपादिपुद्गलानामेव तमस्त्वेन परिणमनाद्द्रव्यार्थतया ध्रुवत्वात् । अथैवं तमसो द्रव्यत्वं स्यादिति **चेत्**? स्यादेव 'स्यादेव तथापि परमतप्रवेशः, तमस उत्पत्तौ प्रदीपादेरवश्यं विपत्तेस्तस्य प्रदीपादिप्रध्वंसरूपस्याभ्युपगमादि'ति **चेत्? न**, भावाभावकरंबितैकवस्तुनः परैरनभ्युपगमात् ।

[तमोद्रव्यत्ववादः]

तेजसो विनिवृत्तिरूपता । स्वीकृता तमसि या कणाशिना ।
द्रव्यतां वयममी समीक्षिणस्तत्र पत्रमवलम्ब्य चक्ष्महे ॥१॥

तत्र तमसो द्रव्यत्वे रूपवत्त्वमेव मानम् । **न च** तदेवासिद्धम्, 'तमो नीलमि'तिप्रतीतेः सार्वजनीनत्वात् । **न च** सा भ्रमः, बाधकाभावात् । **न च** – उद्भूतरूपमुद्भूतस्पर्शव्याप्यं, इन्द्रनीलप्रभासहचरितनीलभागस्तु स्मर्यमाणारोपेणैव तत्प्रभायां नीलधीनिर्वाहाद्गौरवान्न कल्प्यते इति न तत्र व्यभिचारः, कुंकुमादिपूरितस्फटिकभांडे बहिरारोप्यमाणपीताश्रयेऽपि न व्यभिचारस्तत्रापि स्मर्यमाणारोपेणैव बहिःपीतधीनिर्वाहात्, बहिर्गन्धोपलब्धेस्तु वाय्वाकृष्टानुद्भूतरूपभागांतरेणैवोपपत्तेः, तथा च तमस उद्भूतरूपवत्त्वे उद्भूतस्पर्शाभाव एव बाधक इति–**वाच्यम्**, तादृशव्याप्तौ मानाभावात्प्रभायां व्यभिचाराच्च । **न च** उद्भूतनीलरूपवत्त्वमेवोद्भूतस्पर्शव्याप्यं, न च धूमे व्यभिचारः तत्राप्युद्भूतस्पर्शवत्त्वादत एव तत्संबंधाच्चक्षुषि जलनिपात

इति वाच्यम्, चक्षुर्धूमसंयोगत्वेनैव जलनिपातजनकत्वादुद्भूतस्पर्शस्य धूमेऽसिद्धेः, नीलत्रसरेणौ व्यभिचाराच्च । न च पाटितपटसूक्ष्मावयवत्तत्राप्युद्भूतस्पर्शवत्त्वानुमानम्, अनुद्भूतरूपस्योद्भूतरूपजनकताया इवानुद्भूतस्पर्शस्यापि निमित्तभेदसंसर्गेणोद्भूतस्पर्शजनकतासंभवाद्दृष्टान्ताऽसंप्रतिपत्तेः । जन्यानुद्भूतरूपं प्रत्यनुद्भूतेतररूपाभावस्य कारणत्वपक्षे तप्ततैलस्थादनुद्भूतरूपाद्वह्नेरुद्भूतरूपभागांतराकर्षणेनैवोद्भूतरूपोत्पत्तिस्वीकारादत्र दृष्टान्ताऽसंप्रतिपत्तिरिति चेत् ? तथापि त्रसरेणोरुद्भूतस्पर्शवत्त्वे तत्स्पर्शस्पार्शनप्रसङ्गात् । 'द्रव्यान्यद्रव्यसमवेतस्पार्शनजनकतवच्छेदकीभूतप्रकर्षवन्महत्त्वाभावान्नायं दोष'इति चेत् ? न, तादृशप्रकर्षस्यैकत्वेऽपि कल्पयितुं शक्यत्वेन विनिगमनाविरहात् । अथैकत्वे तादृशजातिकल्पने स्वतन्त्रमतसिद्धद्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदकीभूतैकत्वनिष्ठजात्या सांकर्यमेव विनिगमकमिति चेत् ? तथापि सा जातिर्महत्त्वे कल्प्यतामियं त्वेकत्वे इत्यत्रैव विनिगमकमन्वेषणीयम् ।

अथ— द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदकैकत्वनिष्ठजातिव्याप्यैव द्रव्यान्यद्रव्यसमवेतस्पार्शनजनकतावच्छेदकजातिरभ्युपेयतां, वायोश्चाक्षुषत्वं तु विषयविधया वायोश्चाक्षुषाऽहेतुत्वादिति—चेत् ? तर्ह्येवमेव त्रुटिस्पर्शास्पार्शनस्याप्युपपत्तेर्द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदकैकत्वनिष्ठजातेर्द्रव्यान्यद्रव्यसमवेतस्पार्शनजनकतावच्छेदकजातिव्याप्यत्वे विनिगमकाभावो, विषयस्य तत्तद्व्यक्तित्वेन कारणतायां मानाभावश्च । यत्तु—महत्त्वोद्भूतस्पर्शयोः कारणत्वाकल्पनलाघवात्त्वक्संयुक्तत्वाचवत्समवायत्वेन द्रव्यान्यद्रव्यसमवेतस्पार्शनं प्रति प्रत्यासत्तित्वान्न त्रुटिस्पर्शस्पार्शनमिति—तन्न, आश्रयत्वाचस्य नियमतः पूर्वमभावेन त्वाचवत्त्वस्य विशेषणत्वाऽयोगात्, उपलक्षणत्वे घटाद्युत्पत्तिद्वितीयक्षणे स्पर्शादिस्पार्शनापत्तेः । कालभेदेनैकस्यामेव व्यक्तावनंतत्वाचानां संभवेन तावत्त्वाचापेक्षया महत्त्वोद्भूतस्पर्शयोरेव प्रत्यासत्तिमध्ये प्रवेशस्य त्रुटिस्पर्शेऽनुद्भूतत्वकल्पनस्य चोचितत्वात् ।

केचित्तु—व्यासज्यवृत्तिगुणास्पर्शननिर्वाहाय प्रकृष्टमहत्त्वोद्भूतस्पर्शयोः प्रत्यासत्त्यघटकत्वेन लाघवाद्द्रव्यान्यसत्त्वाचत्वावच्छिन्नं प्रत्येव लौकिकविषयत्वावच्छिन्नत्वाचाभावस्य स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन प्रतिबंधकता कल्प्यते, वायोरस्पार्शनत्वं तु न यौक्तिकमिति न तद्वृत्तिस्पर्शस्पार्शनानुपपत्तिः, तथा च त्रसरेणोरस्पार्शनत्वान्न तद्वृत्तिस्पर्शादिस्पार्शनप्रसंग इति—तन्न, लाघवाद्वायोः स्पार्शनत्वस्य सांप्रदायिकत्वाच्च समवायसंबंधावच्छिन्नोद्भूतस्पर्शाभावस्यैव स्वाश्रयसमवेतत्वसंबन्धेन द्रव्यान्यसत्त्वाचत्वावच्छिन्नं प्रति प्रतिबन्धकत्वं कल्पयित्वा त्रुटिस्पर्शेऽनुद्भूतत्वकल्पनस्यैवौचित्यात् । नचावयव्युद्भूतस्पर्शं प्रति अवयवोद्भूतस्पर्शस्यैव हेतुत्वात्कथं चतुरणुकोद्भूतस्पर्शारम्भकस्य त्रुटिस्पर्शस्याऽनुद्भूतत्वमिति वाच्यं, उद्भूतस्पर्शत्वस्यार्थसमाजसिद्धत्वेन कार्यतानवच्छेदकत्वादित्यन्यत्र विस्तरः ।

'इदानीं मे शरीरं शीतलीभूतमि'तिप्रतीत्या तमसः उद्भूतस्पर्शवत्त्वमप्यानुभविकमिति तु वृद्धाः । तेषामयमाशयो—यथाहि उद्भूतशीतस्पर्शवत एव जलस्य संयोगाद्देहे शैत्यं प्रतीयते तथा

तमसोऽप्युद्भूतशीतस्पर्शवत्त्व एव तत्संयोगात्शरीरे शैत्यप्रतीतिरुपपत्तिमती, तादृशस्यैव तस्य परंपरासंबन्धेन शैत्यप्रतीतिजनकत्वात्तत्परिणामकत्वाद्वा । ननु तर्हि तमसि तत्प्रतीतिः कुतो न भवतीति चेत् ? योग्यतामेवेदं परिपृच्छ । नीलरूपवतस्तस्य शीतस्पर्शवत्त्वं कथं संगच्छत इति चेत् ? शक्तिवैचित्र्यवशादेवेति ब्रूमः ।

[आलोकाऽभावेन तमोव्यवहारनिर्वाहस्य खण्डनम्]

अथालोकाभावेनैव तमो व्यवहारोपपत्तेर्न तस्य द्रव्यत्वकल्पनमिति चेत् ? विपरीतमेव किं न रोचयेः ? आलोकस्य चाक्षुषजनकसंयोगाश्रयत्वेन नैवमिति चेत् ? न, चक्षुरप्राप्यकारित्ववादिनामस्माकं तमःसंयुक्तचाक्षुषं प्रति योग्यताविशेषकारणत्वस्यैवेष्टत्वात् । न च तादृशयोग्यतां विनापि किञ्चिदंशेन तमःसंयुक्तद्रव्यग्रहाद्व्यभिचार इति वाच्यं, तमःसंयुक्तांशग्रहे तादृशयोग्यताया अव्यभिचारापेक्षणात्, अंशांशिनोः कथंचिद्भेदस्य च प्रत्यक्षसिद्धत्वात् । 'मूले वृक्षः कपिसंयोगी'त्यत्र हि मूलांशवृक्षः कपिसंयोगीत्येव प्रमीयते, तदंश एव कपिसंयोगाविच्छिन्नभावात् । न च तस्मिन्नेवांशे नयनपरामृष्टतमःशालिन्यपि प्रत्यक्षोदयादालोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसंयोगस्यैव द्रव्यचाक्षुषे हेतुत्वमुचितमिति वाच्यम्, घूकादिचाक्षुषानुरोधेन चक्षुरुन्मुखतमःसंयोगवच्चाक्षुषं प्रति योग्यताविशेषहेतुत्वस्यैवावश्याश्रयणीयत्वात् । आलोकाऽजन्यद्रव्यचाक्षुषं प्रति तस्य हेतुत्वमस्त्विति नाभिधानीयम्, आलोकजन्यतावच्छेदकनियतरूपापरिचयादालोकजन्यत्वाऽज्ञाने तदजन्यत्वाऽज्ञानात् । आलोकासंयुक्तचाक्षुषं प्रति तस्य हेतुत्वमित्यपि न वक्तुं युक्तं, महदुद्भूतानभिभूतरूपवत्त्वनिवेशे गौरवात् ।

योग्यताविशेषश्च 'तदंशे ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशम' इति न विशेषपदार्थाऽनिरुक्तिः । परेण तु चक्षुःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नमहदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकसंयोगत्वेन द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति कारणता वक्तव्या, सा च न संभवति, आलोकसंयोगस्याप्यवच्छेदकत्वसंभवे विनिगमनाविरहात् । एतेन—स्वावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसंयोगसंबंधेनाप्यालोकसंयोगस्य कारणत्वं प्रत्युक्तं, चक्षुःसंयोगस्यापि स्वावच्छेदकावच्छिन्नालोकसंयोगसम्बन्धेन तथात्वे विनिगमकाभावात् ।

अथ चक्षुःसंयोगस्यैव निरुक्तसम्बन्धेन तथात्वमस्तु, महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकसंयोगत्वस्य चाक्षुषानभिभूतरूपवदालोकसंयोगत्वस्य वाऽपेक्षया चक्षुःसंयोगत्वस्य कारणतावच्छेदकत्वे लाघवादिति चेत् ? न, संबंधविधया तत्प्रवेशे तवापि साम्यात्, संबंधगौरवाऽदोषत्वप्रवादस्य निर्युक्तिकत्वाद्विजातीयालोकसंयोगत्वेनैव तद्धेतुत्वमित्यन्ये ।

अथ द्रव्यनिष्ठलौकिकविषयताद्रव्यसमवेतनिष्ठलौकिकविषयतादिसंबंधभेदेन चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रत्यालोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसंयोगतत्संयुक्तसमवायादेर्नानाहेतुताकल्पने गौरवात्, लाघवात्समवायेन तमस्तद्व्याप्यभिन्नीयलौकिकविषयितावच्चाक्षुषं प्रत्यालोकसंयोगस्य स्वावच्छेदकावच्छिन्नसंयोगवच्चक्षुःसंयुक्तमनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोगसंबंधेनैव कारणता कल्प्यते । चक्षुःसं-

योगस्य स्वावच्छेदकावच्छिन्नालोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नत्वकचक्षुःसंयुक्तमनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोगसंबंधेन तथात्वे तु स्फुटमेव गौरवं, संबन्धगौरवादोषत्ववादिनापि संभवति लघुसंबंधे गुरुसंबंधाकल्पनादिति चेत् ? न, तथापि संयोगस्य संबंधविधया निवेशानिवेशाभ्यां महत्त्वोद्भूतरूपवत्त्वादिविशेषणविशेष्यभावे च तद्दोषतादवस्थ्यात् । स्वावच्छेदकावच्छिन्नेत्यादिसंबन्धेन तत्र तमःसंयोगस्य प्रतिबन्धकत्वेनोपपत्तेश्च ।

[उलूकादिचाक्षुषेण व्यभिचारदूषणम्]

पेचकादिचाक्षुषे व्यभिचारश्च सर्वत्र साधारणं दूषणम् । न च नरचाक्षुषं प्रत्येव कारणता अंजनादिसंस्कृतचक्षुषां तस्करादीनां चाक्षुषे तथापि व्यभिचारात् । न च स्वाभाविकनरचाक्षुषत्वस्य कार्यतावच्छेदकत्वान्नायं दोष इति वाच्यं, स्वाभाविकत्वस्यालोकसहकृतचक्षुर्जन्यत्वरूपस्यालोककारणतापरिचयं विनाऽपरिचयात्, अन्यस्य दुर्वचत्वात् । अथांजनाद्यसंस्कृतचक्षुर्जन्यत्वं तदिति चेत् ? न, आदिपदार्थाऽननुगमेन कार्यतावच्छेदकाननुगमात् । आलोकेतराऽसंस्कृतचक्षुर्जन्यत्वं तदिति चेत् ? न, आलोकेतरस्यांजनादेर्व्यभिचारेण चाक्षुषाजनकत्वेन चक्षुःसंस्कारकत्वात् । अंजनाद्यभावाकालीनचाक्षुषं प्रत्यंजनादीनां जनकत्वे चालोकाभावकालीनचाक्षुषत्वमात्रस्य कार्यतावच्छेदकत्वौचित्येन तमसो द्रव्यत्वसिद्धेः ।

केचित्तु—फलबलात्तत्रालोकविशेषः कल्प्यते । व्यभिचारग्रहे सत्यालोकस्य कारणताग्रहस्यैवानुपपत्तेः । कथमेवमिति चेत् ? न, तदवच्छेदेन व्यभिचारग्रहस्यैव तत्सामानाधिकरण्येन कारणताग्रहप्रतिबंधकत्वात् । अत्र चालोकत्वसामानाधिकरण्येनैव तद्ग्रहात्तत्सामानाधिकरण्येन कारणताग्रहस्य निरपायत्वात् । अन्यथा क्वचित्प्रथममतिप्रसक्तेनाऽपि धर्मेण कारणताग्रहोत्तरं पश्चादनुगतावच्छेदकधर्मकल्पनासिद्धान्तव्याकोपापत्तेरिति । तन्न, तदालोकेनान्येषामपि चाक्षुषापत्तेर्दुर्वारत्वात् । पेचकादिनयनगोलकसंसृष्टालोकस्य पेचकादिमात्रचाक्षुषं प्रति नानाकारणताकल्पने च महद्गौरवादिति दिक् ।

उच्छृंखलास्तु—आलोककालीनचाक्षुषजनकविजातीयचक्षुर्मनोयोगाभावादेव तमसि न घटादिचाक्षुषोदय इति न तत्रालोकस्य कारणता । न च तथापि तमसि घटादीनामालोकाकालीनचाक्षुषापत्तिः, पेचकादीनामिष्टत्वात् । न चास्मदादिघटचक्षुःसंयोगादपि तदापत्तिः, आलोकाभावकालीनचाक्षुषं प्रत्यपि विजातीयचक्षुःमनोयोगस्य पृथक्कारणत्वादित्याहुः । यदि पुनरंधकारेऽपि घटादेः कालीकेनालोकविशिष्टत्वात्तद्देशावच्छेदेनालोकविशिष्टत्वस्य तथात्वे गौरवं, कार्यतावच्छेदकाननुगमो, विनिगमनाविरहश्चेति विभाव्यते, तदास्तु लाघवात्तमःसंयुक्तचाक्षुषं प्रत्येव विजातीयचक्षुर्मनोयोगस्य च हेतुत्वम् । न च तमःकालीनचक्षुःसंयोगादेवालोकसमवहिताद्घटादिचाक्षुषोदयदर्शनाच्चक्षुर्मनोयोगस्याप्येकस्यैव संभवात्कथमेवमिति वाच्यं, मनसस्त्वरितगतित्वेनालोकसमवधानदशायां चक्षुर्मनोयोगस्य भिन्नस्यैव कल्पनादिति तमसो द्रव्यत्वं निराबाधम् । एतेन—'द्रव्य-

चाक्षुषसामान्यं प्रत्यालोकसंयोगहेतुतायाः क्लृप्तत्वादालोकं विना वीक्ष्यमाणस्य तमसः कथं द्रव्यत्वमि'त्यपि **दूरापास्तम्** ।

[तमोग्राहकतामसेन्द्रियकल्पना तन्निराकरणं च]

तौतातिकैकदेशिनस्तु—द्रव्यचाक्षुषं प्रत्यालोकसंयोगस्य हेतुत्वेऽपि तामसेन्द्रियेणैव तमोग्रहसंभवान्नानुपपत्तिः । न च निमिलितनयनस्यापि तद्ग्रहापत्तिः, चक्षुःश्रवःश्रोत्रवत्तस्य चक्षुर्गोलकाधिष्ठानत्वात् । न चेंद्रियांतराऽग्राह्यस्वग्राह्यगुणाभावात्तादृशेंद्रियाऽसिद्धिः, लाघवादिन्द्रियान्तराग्राह्यग्राहकत्वमात्रस्यैव भिन्नेंद्रियत्वव्यवस्थापकत्वात्, तादृशस्य च प्रकृते तमस एव सत्त्वात् । न च पेचकादीनां दिवापि घटादिग्रहापत्तिः, तामसेंद्रिये तमःसंयोगस्यापि सहकारित्वात् । न च तमसि तमःसंयोगाऽसंभवो, गगनतमःसंयोगस्य तत्रापि सत्त्वात् । **नन्वेवमपि** किञ्चिदवच्छेदेन तमःसंयोगवति भित्त्यादावालोकसंयुक्ते तामसेन्द्रियेण प्रतीतिः स्यादिति **चेत्?** तर्हि तमःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नतामसेंद्रियसंयोगस्यैव तमःसंयुक्तद्रव्यग्राहकत्वमस्तु । विनिगमनाविरहस्तु परस्यापि तुल्यः । चंद्रिकायां पेचकादेस्तु चाक्षुषमेवाभ्युपेयम्, न च दिवापि तद्ग्रहापत्तिः, फलबलात्सौरालोकस्य तत्प्रतिबन्धकत्वकल्पनादित्**याहुः** ।

तत्तुच्छं—'तमः पश्यामी'तिप्रतीतेर्निरालम्बनत्वापत्तेः । **अथ** पश्यामीति विषयता न्यायनये चक्षुःसंनिकर्षदोषाविशेषयोरिव तामसेन्द्रियसंनिकर्षस्यापि नियम्या, अव्यवहितोत्तरत्वस्य कार्यतावच्छेदककोटौ दानेन व्यभिचाराऽप्रचारा**दिति चेत्? न,** स्फुटगौरवात्; तथापि तामसेंद्रियेण तमस इव घटादीनामपि, पेचकादीनामिव मानवानामपि प्रतीत्यापत्तेश्च । **न च** विषयतया **नरतामसेन्द्रियजन्यज्ञानं** प्रति तादात्म्येन तमसस्तमस्त्वादेश्च हेतुत्वमिति घटादेस्तादात्म्येन तत्राहेतुत्वा**न्नायं दोषः,** अंजनादिसंस्कृतचक्षुषां तस्करादीनां तु बहलतमे तमसि घटादीनां न तामसेंद्रियजन्यं ज्ञानं किंतु चाक्षुषमेव । **नचालोकं** विना कथं तदानीं तेषां तच्चाक्षुषमिति **वाच्यं,** आलोकस्येवांजनादेरपि चाक्षुषजनने चक्षुषः पृथक्सहकारित्वात् ।

अञ्जनादिसंस्कृतचक्षुष एवालोकाजन्यचाक्षुषे हेतुत्वादंजनादेर्हेतुतावच्छेदकत्वमेवेति **केचित्** । **तन्न,** अंजनाद्यभावाकालीनचाक्षुषं प्रति स्वसंस्कृतचक्षुःसंयोगसंबंधेनांजनादेर्हेतुत्वस्यैवौचित्या**दित्यपरे** । तथा च न तत्र व्यभिचार इति **चेत्? नैवं** सति नानाकार्यकारणभावकल्पने महागौरवात् । **वस्तुतः** सामान्यतः एका चाक्षुषजननी योग्यताऽपरा च तमःसंयुक्तचाक्षुषजननी । तत्र पेचकादीनां दिवा न चाक्षुषं, मानवानां च नक्तं न घटादिचाक्षुषमित्यत्र स्वभाव एव शरणम् । न चैवं स्वभाववादिमतप्रवेशः, समवायाभ्युपगमे तदप्रवेशात् सर्वज्ञानस्वभावस्य चात्मनः तत्तद्देशतत्तत्कालतत्तद्विषयाद्याश्रित्य विचित्रज्ञानावरणक्षयोपशमवशाद्विचित्रज्ञानोत्पत्तौ को वा विस्मयः **स्याद्वादास्वादसुंदरधियाम्** ।

ज्ञानस्वभावत्मेवात्मनः कथमिति चेत्? द्रव्यत्वेन गुणस्वभावत्वसिद्धौ पारिशेष्यादिति

ब्रूमः। ज्ञानोत्पत्तिव्यवहारः पुनरावरणविगमादाविर्भावनिबंधनः, भानुप्रकाशोत्पत्तिव्यवहारवत्। नचाविर्भावस्य सदसद्विकल्पौ स्याद्वादिनां दोषाय, रूपभेदेनैव सदसत्त्वाभ्युपगमादित्यन्यत्र विस्तरः। यत्तु—तमसो द्रव्यत्वसिद्धौ तद्ग्रहार्थं तामसेन्द्रियसिद्धिः, तत्सिद्धौ चालोकनिरपेक्ष-चक्षुर्ग्राह्यत्वस्य बाधकस्याऽभावात् तमसो द्रव्यत्वसिद्धिरित्यन्योन्याश्रय इति कस्यचिदभि-धानं; तद्दूरवधानं, पेचकादीनां घटादिग्रहार्थमेव साध्यमानस्य तस्य तद्ग्राहकत्वेन सिद्धेः।

प्राभाकरास्तु—'आलोकज्ञानाभाव एव तमः, अत एव आलोकवद्गर्भगृहं प्रविशतस्तमोधीः, तत्तुच्छं, एवं सति अन्धकारवानहमिति प्रतीत्यापत्तेः। न च संबंधविशेषेणालोकज्ञानाभाव-वत्येव तमःप्रतीतिनियमान्नायं दोषः, तथासत्यालोकज्ञानाभाववानहमितिप्रतीतेरपि विलयापत्तेः। न ह्यालोकज्ञानाभाववत्वं तमस्त्वादिदानीमतिरिच्यते। एतेन—विषयतासंबंधावच्छिन्नप्रतियोगि-ताकस्यापि तस्य तमस्त्वं प्रत्याख्यातम्। किं चैवं तमसश्चाक्षुषत्वं न स्यात्, ज्ञानाभावस्य मानस-त्वात्। तथा च 'तमः पश्यामी'तिप्रतीतिः कथमुपपादनीया? एतेन—तदंशेऽलौकिकचाक्षुषमपि प्रत्युक्तम्, बाह्येन्द्रियज्ञाने उपनीतस्य विशेषणत्वेनैव भाननियमा'न्नीलं तमः' इति प्रतीत्य-नापत्तेश्चेति किमधिकविवादक्षोदेन!

[प्रकाशकरूपाभावतमोवादिप्रगल्भमतखंडनम्]

प्रगल्भस्तु—प्रकाशकरूपाभाव एव तमः, प्रौढप्रकाशकयावत्तेजःसंसर्गाभावस्य तथात्वे तमसोऽतीन्द्रियत्वापत्तेः। अतीन्द्रियचन्द्रादिप्रभाप्रतियोगिकत्वात् विनिगमनाविरहेणोद्भूतरूपवत्त्व-स्येवोद्भूतस्पर्शवत्त्वस्यापि प्रत्यक्षतायां तन्त्रत्वात्तस्यातीन्द्रियत्वादिति। स पुनरप्रगल्भः, योग्य-ताविशेषस्यैव प्रत्यक्षताप्रयोजकत्वात्। किं च—परेणापि द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति उद्भूत-रूपस्य हेतुत्वं वाच्यम्। तत्र च नोद्भूतस्पर्शवत्त्वस्यापि तथात्वेऽपि विनिगमकाभावः, वायोश्चाक्षु-षत्वापत्तेरेव विनिगमकत्वात्। न च बहिर्द्रव्यप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रत्येवोद्भूतरूपस्पर्शोभयत्वेन हेतुताऽस्तु, द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रत्युद्भूतरूपस्य द्रव्यस्पार्शनत्वावच्छिन्नं प्रत्युद्भूतस्पर्शस्य च हेतुताद्वयकल्पने गौरवादिति वाच्यम्, उद्भूतत्वस्यैकविशिष्टापरतया विशेषणविशेष्यभावे विनिगमना-विरहात्। किं च प्रकाशकरूपाभावस्य तमस्त्वे पृथिव्यादौ सदा तमोव्यवहारापत्तिः, समवायेन तदभावस्य तत्र सार्वदिकत्वात्। 'स्वाश्रयसंयोगसंबंधेन तदभावस्यैव तमस्त्वमिति नायं दोष' इति चेत्? न, तस्य वृत्त्यनियामकत्वेन तत्संबंधावच्छिन्नाभावस्यैवासिद्धेः। तत्संबंधावच्छिन्नप्रति-योगितावच्छेदकताकतद्भेदस्य तथात्वे तु निशीथिन्यामपि भूतलादौ तमोव्यवहारानुपपत्तिरन्योन्या-भावस्याव्याप्यवृत्तित्वादिति दिक्।

किंच—तमसोऽभावत्वे विधिमुखेन प्रत्ययः कथमुपपनीपद्यताम्? ध्वंसादादिव क्वाचित्क-नञ्प्रयोगं विनाऽत्रापि तदुपपत्तौ किं विस्मयोत्कंधरतयेति चेत्? तथापि घटस्य ध्वंस इति

वदालोकस्य नाम इति भयापत्त्या किं न बिभेषि? आलोकाभाव एव संकेतितस्तमःशब्द इति न तदापत्त्या बिभेमीति चेत्? तथापि करिकलभेत्यादिवत्किं न तथा प्रयुंक्षे? अप्रयोगादेव न प्रयुंजे इति चेत्? तथाप्यालोके नालोक इतिवत् 'आलोकेऽन्धकार' इत्यपि किं न व्यवहरसि? अपि च अन्धतमसावतमसत्वाद्युत्कर्षापकर्षदर्शनादपि तस्य द्रव्यत्वम्। महदुद्भूतानभिभूतरूपवद्यावत्तेजोऽभावत्वकालिकप्रमयतदभावत्वयोरज्ञानेऽपि तद्व्यवहारात्॥ वस्तुतः कतिपयतदभावो नावतमसं, दिवा प्रकृष्टालोकेऽपि तत्सत्त्वात्। न च—छायायामतिव्याप्तिवारणाय स्वन्यूनसंख्यबाह्यालोकसंवलने सतीति विशेषणावश्यकत्वात्तदानीं च बाह्यालोकस्य स्वाधिकसंख्यत्वान्नातिव्याप्तिरिति—वाच्यं, तद्दिनातिरिक्तानंतदिनवृत्तिबाह्यालोकाभावानामेवाधिकत्वात्। अथ यदा यत्र प्रागुक्तयावत्तेजःसंसर्गाभावो निरवच्छिन्नस्तदा तत्रावतमसमिति चेत्? न; घटादेरिवांधतमसावतमसयोरवच्छेदकानुपरागेणैव प्रतीतेरिति दिक्।

[तमसो द्रव्यत्वे बाधकनिराकरणम्]

एतेन—तमसो द्रव्यत्वे अनन्तसंयोगादिकल्पनमपि **पराकृतं**, तस्य फलमुखत्वात्। इत्थं च तमश्चलतीत्यादिप्रत्यक्षमपि निराबाधम्। न च स्वाभाविकगतेरन्यगत्यनुविधानानुपपत्तिः, पद्मरागप्रभायामेवाश्रयचलनानुविधानदर्शनात्। पद्मरागचलनं विनापि कुड्यावरणविगमादिनापि तत्प्रभाचलनमुपलब्धमिति **चेत्**? तर्हि स्थिरेऽपि स्तंभादौ प्राक्पश्चाद्दीपसंबंधादिना तमश्चलनोपलम्भः किं काकेन भक्षितः? तमसः प्रागभावत्व उत्पत्तिप्रत्ययः, इतराभावत्वे विनाशप्रत्ययश्च न स्यातामित्यप्याहुः। **न च**—राशिष्विव किंचित्समुदायिसंभवव्यतिरेकप्रयुक्तावेव तमःसंभवव्यतिरेकौ प्रतीयेते इति—**वाच्यं**, तथा सति राशिर्नष्ट इतिवत्तमो न नष्टमिति प्रतीतेरपि प्रमात्वापत्तेः।

स्यादेतत्—तमसो जन्यद्रव्यत्वे स्पर्शवदवयवारभ्यत्वं स्यात्, स्पर्शवदनंत्यावयवित्वस्य द्रव्यारंभतावच्छेदकत्वादिति **चेत्? नैवं**, तत्र स्पर्शवत्त्वस्येष्टत्वात्। **वस्तुतस्तेन** रूपेण नारंभकत्वं स्पर्शवत्त्वादेर्विशेष्यविशेषणभावविनिगमनाविरहात्, अनंत्यावयवित्वस्य द्रव्यसमवायिकारणत्वपर्यवसितस्य कारणतानवच्छेदकत्वाच्च। **अथ** द्रव्यासमवायिकारणं द्रव्यमंत्यावयवि, तद्भेदश्चाऽभावत्वेन प्रतीयमानत्वादतिरिक्त एव, न तु द्रव्यसमवायिकारणत्वमेव, स एव चात्र कारणतावच्छेदक इति **चेत्? न**, द्रव्यसमवायिकारणतापरिचयं विनाऽनेनापि रूपेण कारणताया दुर्ग्रहत्वात्। **किं च नव्यनैयायिकेन** चक्षुरादीन्द्रियावयवेष्वनुद्भूतस्पर्शमनभ्युपगच्छता जातिविशेष एव द्रव्यारंभकतावच्छेदकत्वेनाभ्युपेयः, स तु तमस्यपि संभवतीति नानुपपत्तिः। **न च**—द्रव्यारंभकत्वाऽन्यथानुपपत्त्यैव तत्रानुद्भूतस्पर्शोऽभ्युपगम्यतामिति **वाच्यम्**, अनंतानुद्भूतस्पर्शकल्पनामपेक्ष्य लघुभूतैकजातिविशेषकल्पनाया एवौचित्यत्वात्। तादृशजातेरंत्यावयविन्यनभ्युपगमान्न जलत्वादिना सांकर्यम्। नन्वेवं घटादीनामप्यारंभकत्वं स्यात्, घटत्वादिना घटादेर्द्रव्यं प्रति प्रतिबन्धकत्वात्।

एतेन—'द्रव्यत्वं कार्याऽकार्यवृत्ति न कार्यतावच्छेदकं, जन्यद्रव्यत्वस्य जन्यमात्रवृत्तित्वेऽपि तदवच्छिन्नजनकतावच्छेदकजातेरनंगीकारो जलत्वादिना सांकर्यादि'ति **वर्धमानोक्तिः—अपास्ता।** मूर्त्तत्वेनैव द्रव्यारंभकत्वम्, न च मनसोपि मूर्त्तत्वात्तदारंभकत्वापत्तिर्मनोन्यमूर्त्तत्वेनैव तथात्वादित्**येके**। मूर्त्तत्वेनैव तथात्वं, मनसि द्रव्यानुत्पत्तिस्तु विजातीयसंयोगरूपहेत्वंतराभावादित्**यपरे**। **यत्तु**—'द्रव्यारंभकतावच्छेदकतया पृथिव्यादिचतुर्ष्वेव भूतत्वाख्यो जातिविशेषः कल्प्यते स एव च भूतपदशक्यतावच्छेदकः, आकाशे भूतत्वव्यवहारस्तु भाक्त इति तमोवयवानां न द्रव्यारंभकत्वमिति मतं'—**तदपमतम्**, तमःसाधारणस्यापि तस्य कल्पयितुं शक्यत्वात्। मनसोऽनतिरिक्तत्वनये भूत—मूर्त्तपदयोः पर्यायत्वापत्तेश्च। आकाशे वेदादिप्रयुक्तभूतपदस्य मुख्यत्वाय बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणजातीयगुणवत्त्वस्य गुरोरपि भूतपदशक्यतावच्छेदकत्वादन्यथा पशुपदादेरपि गोत्वादिविशिष्ट एव शक्त्यापत्तेः।

स्वतन्त्रास्तु—एकत्वनिष्ट एव द्रव्यारंभकतावच्छेदकजातिविशेषः कल्प्यते, स चान्त्यावयव्येकत्वव्यतिरिक्त एवेति न तत्तदंत्यावयवित्वेनानंतप्रतिबध्यप्रतिबंधकभावकल्पनागौरवमि**त्याहुः**, **तन्न**, तादृशजातेर्जन्यैकत्वत्वेन समं सांकर्यादि**त्यपरे**। **यदि तु**—'जन्यैकत्वत्वं तादृशजातिव्याप्यं भिन्नमेवाभ्युपेयते, न च तादृशजातेरेव नानात्वेन तद्व्याप्यत्वे विनिगमकाभावो, यतस्तज्जातेर्नानात्वे व्यभिचारभिया तदवच्छिन्नजन्यतावच्छेदिकापि नाना जातिः कल्प्या, सापि च जलत्वादिना संकीर्यमाणा जलत्वादिव्याप्या नाना स्वकार्येति बहुतरजातिकल्पनागौरवम्, एकत्वनिष्टजातेस्तद्व्याप्यत्वे त्वेकत्वजन्यतावच्छेदकजातिद्वयमेव स्वीक्रियते इति लाघवम् इति—' **विभाव्यते** तदा स्वतंत्रमतमपि सम्यगिति तु **नव्याः**। एतन्मते विजातीयसंयोगस्यापि जन्यद्रव्यं प्रति पृथक्कारणताऽकल्पनाल्लाघवम्। जन्यभावमात्रस्य समवायिकारणकत्वनियमस्त्वसिद्धः, सिद्धौ वा तत्र द्रव्यत्वेनैव तथात्वमस्त्विति न तदनुरोधेन द्रव्यनिष्टजातिविशेषकल्पनमिति विभाव्यम्।

[तमसः पृथिवीत्वापत्तिनिरासः]

इत्थं च तमसो भावत्वेऽनुमानमप्याहुः—'तमो भावरूपं, निकरलहरीप्रमुखशब्दैर्व्यपदिश्यमानत्वादालोकवदि'त्यादि। **ननु**—तमसो नीलरूपवत्त्वे पृथिवीत्वमेव स्यान्नातिरेक **इति चेत्? न,** रूपपरावृत्तिप्रयोजकपृथिवीत्वाभावस्य तेजसीव तमस्यपि तवापि दुरपह्नवत्वात्। **नन्वेवं** नीलसमवायिकारणतावच्छेदकपृथिवीत्वाभाववति तमसि नीलमाकस्मिकं स्यादिति **चेत्? न,** उभयसाधारणजातिविशेषस्यैव नीलसमवायिकारणतावच्छेदकत्वात्। विजातीयानुष्णाशीतस्पर्शस्येव विजातीयनीलस्यैव पृथिवीत्वं जनकतावच्छेदकमि**त्यप्याहुः**। अवयवनीलादिनैवावयविनीलोपपत्तौ पृथि-

वीत्वेन न तत्समवायिकारणत्वं, स्वसमवायिसमवेतत्वसंबंधेनावयवनीलादिमति रूपादौ नीलानुत्प-त्तिस्तु जन्यसन्मात्रसमवायिकारणतावच्छेदकीभूतद्रव्यत्वाभावादेवेति तदेकदेशिनापि स्वीकाराच्च ।

एवं च 'नात्रालोकः किंत्वंधकार' इति व्यवहारोपि समर्थितः । नह्ययं 'नात्र घटः किंतु तदभावः' इतिवत्समर्थयितुं शक्यते, 'नात्रालोकः किंत्वंधकारतदभावावि'तिव्यवहारान्तरस्यापि दर्शनात् । यत्त्वंधकारस्यालोकाभावत्वेऽन्धकारे नाऽऽलोक इति प्रयोगो न स्यादिति केनचि-दुक्तं—तत्तु मोघम्, घटाभावे घटो नास्तीतिवत्तदुपपत्तेः । एवं सत्यंधकारेऽन्धकार इति प्रयोगा-पत्तिस्तु स्यादेव । नह्यधंकारत्वमालोकाभावत्वादिदानीमतिरिक्तमायुष्मतः संगिरन्ते । अथैतादृश-समभिव्याहारस्य शाब्दबोधाऽजनकत्वान्नेयमापत्तिर्जायमानप्रतीतेः प्रमात्वं त्वभिमतमेवेति चेत् ? तथा'प्यंधकारे नान्धकार' इति प्रतीतेर्भ्रमत्वं स्यात् । अभावचाक्षुषमात्रं प्रत्यालोकाधिकरणस-न्निकर्षस्य हेतुत्वादालोकं विना वीक्ष्यमाणस्य तमसो नाऽभावत्वमिति वचनीयं तु न वचनीयं, आलोकसत्त्वे प्रतियोगिसत्त्वविरोधिन्या आलोकाभावग्राहकानुपलब्धेरेवाभावात् । आलोकाधिकर-णसन्निकर्षस्य प्रत्युत तद्ग्रहपरिपन्थित्वात् ।

ननु तमसो द्रव्यत्वे प्रौढालोकमध्ये सर्वतो घनतरावरणे सति तमो न स्यात्तेजोऽवयवेन तत्र तमोवयवानां प्रागनवस्थानात्, सर्वतस्तेजःसंकुले चान्यतोप्यागमनसंभवादिति चेत् ? मैवं वादीः, घनतरावरणसाचिव्येन तेजःपुद्गलानामेव तत्र तमस्त्वेन परिणमनात् । नहि निय-तारम्भवादिनो वयं येन तेजोवयवैस्तिमिरारंभो न शक्यते वक्तुम् । 'नीलरूपं तमः' इति कंदलीकारवचनं तु नादरणीयं, निराश्रयस्य रूपस्याऽसंभवात् । तादृशनियताश्रयस्य चानु-पलभ्यमानत्वात् । तस्मात्तमसो द्रव्यत्वमेव सकलप्रमाणसिद्धं न्याय्यमित्यधिकमनया दिशा स्वधियाऽभ्यूहनीयम् । [तमोद्रव्यत्ववादः समाप्तः] ॥

'यथात्थ भगवन्नि'त्युक्त्या च भगवद्वचनेऽप्रामाण्यशंकाकलङ्कलेशाऽसंपर्कसूचना स्वस्या-ऽसाधारणी भक्तिराविष्कृता तत्रभवद्भिः । रागद्वेषाद्यविद्याबन्धकीसंपर्ककलङ्कितानां परेषां वचसि प्रामाण्याभ्युपगमो हि महामोहविजृंभितम् । रागद्वेषाभावं विनाऽवितथवचनस्य कार्यस्याऽसंभवात् ।

[भवानीपतौ मानाभावप्रदर्शनम्]

ननु वेदकर्त्तुरेव पुरुषधौरेयस्य वचः प्रमाणं, तस्यैव सर्वज्ञत्वात् । मैवं—तत्प्रणेतरि भवदभि-मते भवानीपतावेव मानाऽभावात् । न च "कार्यं सकर्तृकं कार्यत्वादि" त्यनुमानमेव तत्र मानं, शरीरजन्यत्वरूपसंदिग्धोपाधिग्रस्तत्वाद् । अथ नायमत्र दोषः, कार्यत्वावच्छिन्नं प्रति कर्तृ-त्वेन कारणत्वनिश्चयाल्लाघवकावतारदशायां तत्प्रयुक्तव्यभिचारसंशयाऽप्रतिबन्धकत्वादिति चेत् ? कार्यत्वं हि [१]प्रध्वंसप्रतियोगित्वं, [२]प्रागभावप्रतियोगित्वं, [३]अनवच्छिन्नविशेषणतासंसर्गेण कालवृत्त्यत्यं-ताभावप्रतियोगित्वं, [४]स्वानधिकरणीभूतकालवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं, [५]कालवृत्त्यन्योन्याभाव-

प्रतियोगितावच्छेदकस्वावच्छिन्नाधिकरणताकत्वं, यावत्कालवृत्तिभिन्नत्वं वा न तदवच्छिन्न-जनकतावच्छेदकं कर्तृत्वमेकं, घटादौ कुम्भकारादीनां ताद्रूप्येण हेतुतावश्यकत्वे सामान्यतः कर्तृत्वेन तथात्वे मानाभावात् । *'यद्विशेषयोरि'त्यादिन्यायस्याप्रामाणिकत्वात् । अथ समवायेन जन्यसत्त्वावच्छिन्नं प्रति विशेष्यतयोपादानप्रत्यक्षस्य हेतुत्वादस्तु द्व्यणुकादिजनकप्रत्यक्षाश्रयतयेश्वरसिद्धिरिति चेत् ? नान्यस्योपादानप्रत्यक्षे सत्यप्यन्यस्य कार्यानुत्पत्तेश्चैत्रीयोपादानप्रत्यक्षत्वादिना हेतुत्वे द्व्यणुकादावुपादानप्रत्यक्षस्याऽहेतुत्वात् ।

अस्तु वा लाघवादुपादानप्रत्यक्षस्य स्वजन्यकृतिविशेष्यत्वसंबंधेनैव हेतुत्वम् । न च चैत्रकृतेरप्यंततः कालोपाधितयापि मैत्रोपादानप्रत्यक्षजन्यतयाऽतिप्रसंगः, सामानाधिकरण्यप्रत्यासत्त्या जन्यताया विवक्षणात् । तथा चेश्वरप्रत्यक्षस्यानेन संबंधेन न हेतुत्वमिति नोक्तयुक्त्येश्वरसिद्धिः । अपि चोपादानप्रत्यक्षत्वेन न हेतुत्वं, तदनुमित्यादिनापि योगिनां मनोवहनाड्यादौ प्रवृत्तिश्रवणात् । तथा चेश्वरप्रत्यक्षमप्यसिद्धमेव बोध्यम् । न च तस्यानुमित्यादिरूपत्वे परामर्शादिजन्यतावच्छेदककोटौ जन्यत्वनिवेशे गौरवमिति तद्भेदे सिद्धे पारिशेष्यात्प्रत्यक्षत्वसिद्धिः, एवमपींद्रियादिजन्यतावच्छेदककोटौ जन्यत्वप्रवेशे गौरवस्य तुल्यत्वात् ।

किंच सकलकार्यजनकनित्यैकप्रत्यक्षसिद्धावपि नेश्वरसिद्धिः, गुणस्य साश्रयकत्वव्याप्तौ मानाभावात्, भावे वा जीवात्मन एव तदाश्रया भवन्तु किं शिल्पिविशिष्टकल्पनाकष्टेन ! अथ जीवात्मनां तदाश्रयत्वे शुक्त्यादौ रजतादिभ्रमः कदापि न स्यात्, तत्र रजताभाववत्ताधियः सदा सत्त्वादिति चेत् ? न, प्रतिबन्धकतावच्छेदककोटावश्यनिवेशनीयस्य चैत्रीयत्वादेरेव तत्राऽभावादवच्छेदकतया चैत्रादिविशिष्टत्वं हि तत्, न च तन्नित्यज्ञाने संभवतीति । न च जीवात्मवृत्तित्वेऽनेकात्मसंबंधकल्पनागौरवादेकेश्वरसंबंधकल्पनैव लघीयसीति वाच्यं, त्वया तत्र जीवात्मनां स्वसंयुक्तसंयुक्तसमवायसंबन्धः कल्पनीयो, मया तु समवायमात्रमिति प्रत्युत लाघवात् । अथैवमेतस्य 'नित्यमेकमनेकसमवेतं सामान्यमि'ति सामान्यलक्षणप्राप्तौ गुणत्वव्याघात इति चेत् ? किमिदं लक्षणं तव वेदो—येन तदुच्छेदे खेदः ? यत्तु—'चैत्रस्य मैत्रस्य वा तदाश्रयत्वमित्यादिविनिगमनाविरहादेकस्येश्वरस्यैव तदाश्रयत्वं युक्तमिति'—तन्न, सकलजीवात्मवृत्तित्वेऽपि बाधकाभावात् । अथैवमस्मदादीनां तत्प्रत्यक्षं कुतो न भवतीति चेत् ? लौकिकविषयताभावात् । 'निर्विकल्पवत् द्वित्वजनकतावच्छेदिका लौकिकविषयिता तत्र बाढमस्त्येवे' ति चेत् ? किं तावता ? इन्द्रियसंनिकर्षादिजन्यतावच्छेदिकाया एव तस्याः प्रत्यक्षतायां तन्त्रत्वादित्येके । 'ताद्रूप्येण तद्विषयस्याऽहेतुत्वान्न तत्प्रत्यक्षमित्यन्ये । विषयतया प्रत्यक्षमात्रकारणभूतगुरुत्वाद्यन्यतमभेदा-

* 'यद्विशेषयोः कार्यकारणभावः स तत्सामान्ययोरपि' इति न्यायस्य ।

भावादि'त्यपरे। संयोगत्वावच्छेदेन द्रव्यस्य हेतुताग्रहादजसंयोग इव ज्ञानत्वाद्यवच्छेदेनात्मादिहेतुताग्रहान्नित्यज्ञानादिकमपि न सिध्यतीत्यपि **कश्चित्**।

वस्तुतः कृतेरपि चेष्टादिद्वारा विलक्षणसंयोगं प्रत्येव हेतुता न तु घटमात्रं प्रत्यपि, मानाभावात्। **न चैवं** कुंभकारादेः स्वकृतिसाध्यताज्ञानं विना घटादौ प्रवृत्तिः कथमिति **वाच्यं**, स्वकृतिप्रयोज्यताज्ञानस्यैव तत्र प्रवर्त्तकत्वात्। **'स्वप्रयोज्यविजातीयसंयोगसंबंधेन घटादौ** कुम्भकारादिकृतेर्हेतुत्वेऽपि बाधकाभावा**दि'ति चेत्? न,** दंडावयस्याप्येवं घटं प्रति हेतुतापत्तेः। तत्रावश्यक्लृप्तेत्याद्यन्यथासिद्धेर्न हेतुत्वमिति यदि, तदात्रापि तुल्यम्। **अथैवं** दंडस्यापि घटं प्रति हेतुता न स्यात्, खंडघटादौ व्यभिचारा**दिति चेत्? न,** तज्जन्यतावच्छेदकस्य घटत्वस्य **स्वर्णघटादेरिव** खंडघटादेरपि व्यावृत्तत्वात्। **कपाल**जन्यतावच्छेदकस्यैव दंडजन्यतावच्छेदकत्वमुचितमिति **चेत्?** बाधकसत्त्वे किमौचित्यचिन्तासंतापेन?

वस्तुतो दंडादेः प्रयोजकत्वेऽपि न क्षतिरनात्यंतिकत्वात्। **घटादौ** निश्चयतः स्वद्रव्यस्यैव हेतुत्वात्। अत एव द्विकपालघटादेरपि कपालान्तरसंयोगेन त्रिकपालघटोत्पत्तिः, न हि तत्र तदानीं कुम्भकारादयो व्याप्रियमाणा दृश्यंते। **अथ** नेदं युक्तं, घटं प्रति घटजनकविजातीयसंयोगं प्रति च कपालत्वेनैव हेतुत्वा**दिति चेत्? न,** कथंचित्कपालत्वस्यापि तत्र स्वीकारात्। अत एव 'कपालमयो घट' इति प्रतीतिः। न हीयमयस्पिंडस्तेजोमय इतिवदुपपत्स्यते, साक्षात्संबन्धे बाधकाभावात्। चरमतन्तुप्रवेशपर्यन्तमेव पटानुत्पत्तौ पूर्वपूर्वक्रियाया वैयर्थ्यप्रसंगेनारम्यारंभवादस्यैव युक्तत्वात्। 'एवं सति 'पटे पट' इति प्रतीतिः स्यादि'ति **चेत्?** तर्हि पटत्वावच्छिन्नाधेयतानिरूपकतावच्छेदकत्वं तंतुत्व एव कल्पयतस्तव का हानिः? अत्र चार्थे **'कयमाणे कडे'** इति सिद्धांतसारोऽपि प्रमाणमिति ध्येयम्। **एतेन**–खंडघटादावेव कुम्भकारादिकृतेरभावात् खंडघटाद्युत्पादकत्वेनैवेश्वरसिद्धिरिति–**दीधितीकृन्मतमपास्तम्**। एवं सति घटत्वावच्छिन्नं प्रति कुम्भकारत्वादिनापि हेतुत्वविलयापत्तेः। विजातीयकृतिमत्त्वेन तथात्वे पुनरीश्वरासिद्धेः। **अथ** कृतिमत्त्वेनैव घटत्वाद्यवच्छिन्नं प्रति हेतुत्वं, स्वकृतिविशेष्यत्वं च कारणतावच्छेदकसंबंधः, तत्र दंडादेरपि स्वप्रयोज्यविजातीयसंयोगसंबंधेन हेतुत्वाच्च नातिप्रसंग **इति चेत्? न,** आत्मत्वादिनापि तथात्वे स्वप्रत्यक्षविशेष्यत्वादेश्च संबंधत्वे विनिगमनाविरहात्। विजातीयकृतिमत्त्वेनैव व्यापकधर्मेण कार्यमात्रे सकर्तृकत्वनियमस्याऽप्रामाणिकत्वेन लाघवात्कृतित्वेनैव वा हेतुत्वौचित्याच्च। जन्यसत्त्वावच्छिन्नं प्रति कृतित्वेन हेतुत्वेप्यभावकर्तृत्वासिद्धेरीश्वरे जगत्कर्तृत्वं निर्युक्तिकम्। कार्यत्वं तु न कार्यतावच्छेदकं, कार्यतावच्छेदकसंबंधस्यैकस्याऽसत्त्वात्, कालिकादिसंबन्धेन तथात्वे तु मानाभाव इत्यप्याहुः। **अथ**–द्यावापृथिव्योर्गुरुत्वादिपतनसामग्र्यां सत्यामपि यदीयधारणानुकूलप्रयत्नेन पतनप्रतिबन्धः स एव भगवान् भवानीपतिः सिध्यति, तथा च श्रुतिरपि **'एतस्य**

चाक्षरस्य प्रशासने गार्गी द्यावापृथिवी विधृते विष्ठत' इति चेत् ? न, तत्प्रतिबन्धकतावच्छेदकीभूतधारणानुकूलत्वस्य तत्कृताविव तज्ज्ञानादावपि संभवेन विनिगमनाविरहात् । तादृशकृतेर्घटादावपि सत्त्वेन घटादिपतनस्याप्यनापत्तेश्च । घटादिभेदविशिष्टविशेष्यतासंबन्धेन प्रतिबन्धकतयाऽनतिप्रसंगे तु लाघवाद्घटादिभेदस्यैव तत्त्वौचित्यात् , वस्तुतः स्वभावाश्रयणस्यैव योग्यत्वात् च ।

एतेन—'द्यावापृथिव्योर्धृतिः कस्यचित् प्रयत्नजन्या धृतित्वादस्मदादिजन्यघटादिधृतिवत्' इत्यनुमानादीश्वरसिद्धिरित्यपि **निरस्तम्** , पतनप्रतिबंधकविलक्षणसंयोगाख्यधृतेर्द्यावापृथिव्योरिवेश्वरप्रयत्नवशाद् घटादावप्युत्पत्त्यापत्तेः । अदृष्टविशेषवशात्तत्रैव धृतिर्नान्यत्रेति चेत् ? तर्ह्यदृष्टविशेष एव तत्प्रतिबन्धकत्वेनाऽऽद्रियतां किमतिरिक्तकृतिकल्पनया, किंवा धृतेः पतनप्रतिबंधकत्वकल्पनया ? अथ धृतेः पतनप्रतिबन्धकत्वमन्यत्रक्लृप्तं नादृष्टस्य, धृतित्वावच्छिन्नं प्रति च कृतित्वेन हेतुत्वमवधृतमिति जगत्पतनप्रतिबन्धकधृतिजनकैककृतिसिद्धिरिति चेत् ? न, एवं सति शरीरस्यापि धृतित्वावच्छिन्नं प्रति हेतुतावधारणात्तादृशशरीरस्यापि सिद्ध्यापत्तेः । अथ—अस्तु परमाणुनामेवेश्वरप्रयत्नाधीनचेष्टावतां सर्वेषामेव वेश्वरशरीरत्वमिति—चेत् ? न, अनेकेषु तेषु शरीरत्वकल्पनया महागौरवात्, क्लृप्तपरमाण्वादिषु एव शरीरत्वकल्पनयोपपत्तावतिरिक्तशरीरकल्पने जीवात्मस्वेव नित्यकृत्यादि कल्पनया निर्वाहेऽतिरिक्तेश्वरासिद्धेर्वज्रलेपायमानत्वाच्च ।

'सर्गादौ व्यवहारप्रयोजकतयेश्वरसिद्धिः, प्रतिसर्गमनंतानां मन्वादीनां कल्पने गौरवादि'त्यपि **मन्दम्**, सर्गादेरेवासिद्धेः । 'एतान्युपादानान्येतद्घटस्येति प्रत्यक्षं घटजनकमन्वेषणीयं तच्चेश्वरं विना नेतीश्वरसिद्धिरप्रत्यूहे'ति पुनरतिमन्दं, एवं सत्यनीदृशस्य कुम्भकारोपादानप्रत्यक्षस्य घटहेतुताऽनापत्तेः । किञ्चेश्वरस्य सर्वज्ञत्वेऽपि मानाभावः, उपादानप्रत्यक्षस्य कार्यमात्रं प्रति हेतुतया तज्ज्ञाने द्रव्यविषयकत्वमात्रस्यैव सिद्धेः । न च 'यः सर्वज्ञः स सर्वविदि'त्यादिश्रुतिरेव तस्य सर्वज्ञत्वे मानं, युक्तिविरहे श्रुतिसहस्रस्याऽकिंचित्करत्वात् । न च इन्द्रियादिजन्यताऽभावेन तज्ज्ञाने नियतविषयताभावे सिद्धे तस्य सर्वज्ञत्वं सेत्स्यतीति **वाच्यं**, इन्द्रियादिजन्यताभावेऽपि लाघवादिना तत्र नियतविषयताया एव सिद्धेः । यादृच्छिकनियमकल्पनाया अप्रयोजकत्वात् । तज्ज्ञानस्य गुणाद्यविषयकत्वे लाघवं द्रव्यत्वेन जन्यसत्त्वेन पृथक्कारणताऽकल्पनात् । 'गुणादावुपादानप्रत्यक्षविरहेणैव जन्यसदनुत्पत्ते'रित्यप्येके । तच्चिन्त्यं, तथापि कुलालाद्युपादानप्रत्यक्षस्य गुणादौ सत्त्वेन द्रव्यत्वेन जन्यसत्त्वेन कार्यकारणभावस्यावश्यकत्वात् । द्रव्यनिष्ठलौकिकविषयताया प्रत्यक्षत्वेन हेतुतयैवानतिप्रसंगे तु तज्ज्ञानस्य गुणादिविषयकतायामप्य(त?)लाघवाप्रच्यवात् । अधिकमन्यत्र बोध्यम् ।

'यथे'त्यस्योत्तरवाक्योपात्तत्वेन तथेत्यस्य शा(?श)ब्दस्य नापेक्षा, "साधुचन्द्रमसि पुष्करैः कृतं मिलितं यदभिरामताधिके"इत्यादौ तथादर्शनात् ।

[सर्वज्ञसिद्धौ प्रमाणम्]

ननु सर्वमिदं सर्वज्ञसिद्धावेव शोभते, तत्रैव च किं मानं ? **इति चेत् ? शृणु ।** तुल्यायामप्यध्ययनादिसामग्र्यां समानाभ्यासशालिनोर्द्वयोरपि बुद्धौ तारतम्यदर्शनात् विचित्रज्ञानं प्रति विचित्रज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमस्य प्रतिबंधकाभावविधया कारणता कल्प्यते । **न चाऽदृष्टविशेषस्यैव** तथात्वमस्तु किमनेनेति **वाच्यं,** सति प्रतिबंधकेऽदृष्टसहस्रस्याऽकिंचित्करत्वात्, **अदृष्टवैजात्यस्यानन्यसिद्धत्वादेश्च** कल्पने गौरवात्, पुण्यपापरूपे तत्र सांकर्येण वैजात्यसिद्धेश्च । **एवं** च ज्ञानावरणस्य क्षयोपि क्षयोपशमेन लिङ्गेन क्वचिदनुमेयः । न चाऽप्रयोजकत्वं, मूलोच्छेदे कार्योच्छेदावश्यम्भावात् । **क्षयश्चात्र स्वसमानाधिकरणतज्जातीयपर्यायप्रागभावासमानकालीनस्तत्पर्यायध्वंसो, न तु सर्वथाऽभावः,** तस्य क्वचिदपि **स्याद्वादिभिरनभ्युपगमात्** । तथा च यत्र सर्वज्ञानावरणविलयः स एव भगवान् सर्वज्ञः सिध्यति ।

ननु ज्ञानस्य कथं सर्वविषयत्वं अतीतानागतयोः स्वरूपाभावेनोभयस्वरूपविषयताऽभावादिति **चेत् ? न,** आलेख्याऽऽकाराणमिवाऽवर्त्तमानस्यापि वस्तुनो ज्ञेयाकाराणां ज्ञाने संभवात् । **अथाऽऽलेख्ये** न पुरुषाकारः, करचरणादिरूपस्य तस्य पुरुषे एव भावात्, तत्र 'पुरुष' इति धीस्तु सादृश्यज्ञानदोषादिनिबन्धनाद्भ्रमरूपैव । तथा च ज्ञानेऽपि न ज्ञेयाकार **इति चेत् ? न,** न हि वयं ज्ञेयतदात्मानमाकारं ज्ञाने ब्रूमो येन साकारवादपक्षनिक्षिप्तं दुषणं दुरुद्धरं स्यात्, किन्तु ज्ञानतदात्मानं, आलेख्येऽपि स्वतदात्मैव पुरुषाद्याकारो भासते न तु पुरुषादितदात्मा । अत एवेदमालेख्यं पुरुषाकारवन्न तु करचरणादिमदितिप्रतीतिर्निर्वहतीति **दिगम्बराः । वस्तुतो** ज्ञानस्य सर्वविषयत्वं स्वभाव एव प्रदीपादेरिव सर्वप्रकाशकत्वं, तस्य च ज्ञेयाकारशब्दावाच्यत्वेऽपि न क्षतिरिति **वदन्ति** [श्लो० ५ संपूर्णः] ॥

ॐ नमः परमानन्दकलाकलितकेलये ।
श्रीशंखेश्वरपार्श्वाय मत्प्रत्यूहनिवारिणे ॥१॥

पूर्वसूत्रितावष्टम्भाय दृष्टांतमाहु–'**गुडो ही**'ति–

गुडो हि कफहेतुः स्यात्, नागरं पित्तकारणम् ।
द्वयात्मनि न दोषोऽस्ति, गुडनागरभेषजे ॥६॥

निगदसिद्धोऽयं श्लोकः [श्लो० ६ संपूर्णः] ॥

अथ नित्यानित्यत्व–भेदाभेद–सत्त्वासत्त्व–सामान्यविशेषात्मकत्वा–भिलाप्यानभिलाप्यत्वादिधर्माणां स्वयं विरोधशंकामुद्दिधीर्षवोऽभिदधति '**द्वयमि**'ति—

द्वयं विरुद्धं नैकत्राऽसत् प्रमाणप्रसिद्धितः ।
विरुद्धवर्णयोगो हि दृष्टो मेचकवस्तुषु ॥७॥

[श्लोकव्याख्यादिग्दर्शनम्]

अत्र एकत्र=एकस्मिन् वस्तुनि **द्वयं** न विरुद्धमिति न व्याख्येयं, विरुद्धपदस्यैवैकाधिकरणाऽवृत्त्यर्थकत्वेनैकत्रेत्यस्य पुनरनन्वयाऽऽपत्तेः, विरुद्धे एकवृत्तित्वस्य बाधादविरुद्धे तु तस्याविरुद्धत्वपर्यवसितस्याऽपि तेन रूपेणाऽसिषाधयिषितत्वादविरुद्धत्वप्रकारिकाया एव सिषाधयिषायाः सत्त्वात् । किन्तु—**द्वयं न विरुद्धं**=न परस्परानधिकरणाधिकरणम् । तत्र हेतुगर्भं विशेषणमाहुः '**एकत्रे**'ति, एकाश्रयवृत्तित्वं तदर्थः । न चायं हेतुरसिद्धः, एकत्रैव घटादौ नित्यानित्यादिप्रतीतेः सार्वजनीनत्वात् । **ननु** नेयं प्रमा, तत्र विरोधग्राहकप्रमाणपरंपरासत्त्वेन विषयबाधात्, न च भ्रमाद्वस्तुसिद्धिरित्याशंकायामभिदधति '**असदि**'ति, अत्र विरोध इति शेषः । सत् पदं च भावपरम् । तथा च विरोधे प्रमाणसिद्धेरसत्त्वादेकाश्रयवृत्तित्वं निराबाधमिति हार्दम् । न हि जलानिलयोरिव तयोर्विरोधः साक्षादनुभूयते, रूपरसयोरिव प्रत्युतैकवृत्तित्वस्यैवानुभविकत्वात् । न वा छायातपयोरिव परस्परपरिहारेण वर्त्तमानत्वं, एकदैवानुभवात् । नापि घटतदभावयोरिवैकज्ञानानंतरमज्ञायमानत्वं, नित्यत्वादिज्ञाने सत्यप्यनित्यत्वादेर्ज्ञानात् । स्वभावतो विरोधाभिधानं तु स्ववासनामात्रविजृम्भितम् ।

अथ 'प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वनियमात् कथमसत्त्वे पंचम्यर्थान्वय **इति' चेत्** ? न, तवापि 'तेषां मोहः पापीयान् नामूढस्येतरोत्पत्ते'रितिसूत्रे (न्यायसू० ४-१-६) अमूढस्येतरोत्पत्त्यभावादित्यर्थकरणेन निपाताद्यर्थातिरिक्तस्थल एवैतन्नियमस्वीकारात् । वस्तुतः प्रकृतित्वं नैकमिति विशिष्यैतद्व्युत्पत्तिस्वीकारेऽत्र नेयं व्युत्पत्तिः किन्तु भिन्नैवेत्यपि बोध्यम् । **अथ**—उक्तयाऽनया दिशा नान्वयो दृष्टचर **इति चेत्** ? तात्पर्यसत्त्वे किमदर्शनमात्रेण ! अन्यथा नामूढस्येतरोत्पत्तेरित्यत्राप्येतत्पर्यनुयोगापातात् । **ननु** द्वयं न विरुद्धमित्यत्र सिद्धसाधनं, रूपरसादिद्वय(या)-विरोधे परस्याप्यविवादात् । द्वयसामान्ये विरुद्धभेदः पुनरसंभवो गोत्वाश्वत्वयोरिव तदभावा**दिति चेत्** ? न, अत्र द्वयपदस्य नित्यानित्यत्वादियुग्मतात्पर्यकत्वात् ।

नन्वसत्प्रमाणप्रसिद्धित इत्यत्रासच्च तत्प्रमाणं चेति न समासोऽयोग्यत्वात्, 'प्रमाणप्रसिद्धेरसदिति समासे तु असत्पदस्यपूर्वोपादानानुपपत्तिरिति **चेत्** ? **अत्र केचित्**—सतोऽभावोऽसदिति तत्पुरुषादसत्त्वमित्यर्थः, तत्र च पंचम्यर्थान्वय; सत्त्वे च प्रमाणप्रसिद्धेरन्वयो व्युत्पत्तिवैचित्र्यात् । विभक्त्यंतरावरुद्धप्रातिपदिकार्थे विभक्त्यंतरार्थान्वयः कथ**मिति चेत्** ? तुल्यमिदमन्यत्र । **अपरे** तु 'अ' इति प्रतिषेधार्थको निपातः । 'अ-मा-नो-ना प्रतिषेधे' इत्यनुशासनात् । तथा च सत्प्रमाणप्रसिद्धेरभावादित्यर्थः । **परे** तु सत्पदं भावपरं, विरोधस्येति शेषाच्च विरोधस्याऽसत्त्वे प्रमाणप्रसिद्धेरित्यर्थः । तथाहि नित्यानित्यत्वे न विरुद्धे, भिन्नावच्छेदेनैकत्र विशेषदर्शिना प्रतीयमानत्वात्संयोगतदभाववत् । विरोधग्राहकमनुमानादिकं त्वप्रयोजकत्वाद् दुर्बलमिति भावः ।

[सत्त्वासत्त्वविरोधपरिहारः]

ननु भवतु प्रागुक्तपथा नित्यानित्यत्वभेदाभेदयोरेकत्रवृत्तित्वं, सत्त्वासत्त्वादीनां तु नैव**मिति चेत् ? न,** सत्त्वमिह न सत्ताजातिमत्त्वं, जात्यादिष्वपि तद्व्यवहारात् । नापि तया सहैकार्थवृत्तित्वं, तदपेक्षया वृत्तित्वमात्रस्यैव तत्त्वौचित्यात्, 'अभावः सन्'इत्यव्यवहाराच्च । अत एव न प्रामाणिकत्वं वर्त्तमानकालसम्बन्धित्वं वा तत्, अतीतघटेऽपि सत्त्वव्यवहाराच्च । किन्तु **विधिमुखप्रत्ययवेद्यत्वं सत्त्वं, निषेधमुखप्रत्ययवेद्यत्वं चासत्त्वं** इति । तदुभयमपि घटादौ स्वपरद्रव्यचतुष्टयावच्छेदेन प्रत्यक्षत एव प्रतीयते । प्रतीयन्ति हि पामरा अपि 'घटः कपाले सन्न तु तंतुष्वि'ति ।

अथ—सत्ता जातिरेव प्रत्यक्षवेद्या योग्यत्वान्न तु विधिमुखप्रत्ययवेद्यत्वं, अयोग्यघटितत्वेनायोग्यत्वा**दिति–चेत् ? न,** योग्यताविशेषेण तादृशस्यापि क्वचित्कस्यचिद् योग्यत्वात् । एवं सामान्यविशेषात्मकत्वमपि । स्वभावादेव हि घटोऽनुवृत्तिधियं जनयति, न तदर्थमतिरिक्तसामान्यकल्पनमुचितम् । यतस्तद्प्येकमेव सत् पटादौ किं नानुवृत्तिधियं जनयेत् ? धर्मिताविशेषेण तत्र तन्नास्**तीति चेत् ?** धर्मिताविशेषेणैव तर्हि सामान्यस्यानुगतधीनियामकत्वं मन्वानस्तादात्म्येनैव तस्य तथात्वं किं नाभ्युपैषि, तवान्योन्याभावगर्भव्याप्तिप्रवेशेन कारणतायां लाघवं किं न प्रतिसंधत्से ? **अथ** व्यक्तितादात्म्ये सामान्यमनेकं सत् सामान्यरूपतामेव जह्यादिति **चेत्** ? तर्ह्युपाधयोऽपि किं तन्न जह्युः ! तेषामपि परंपरया जातिरूपतयैकत्वमेवेति **चेत्** ? तर्ह्यत्राप्यपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वरूपं **संग्रहनयार्पणया** संभवदेकत्वं कः प्रतिक्षिपति । एकत्वसंख्यावत्त्वं तु जातौ तवापि नास्ति । अनेकस्य कथमेकत्वमिति चेत् ? स्वभावादेवेति ब्रूमः ।

[न्यायनयाभिमतजातेरसिद्धता]

अथानुगतकार्यस्यानुगतकारणजन्यत्वनियमाद्घटत्वावच्छिन्नबुद्धौ घटत्वस्यानुगतस्यैव हेतुत्वौचित्य**मिति चेत् ? न,** लाघवेन व्यंजकत्वाभिमतानामुपाधीनामेव तत्त्वस्वीकारौचित्यात् । अन्यथा प्रवृत्त्यादिजनकतावच्छेदकत्वेन कारणत्वादीनामप्यतिरेककल्पनापत्तेः । **अथ** व्यंजकमपि **परंपरया** सास्नात्वादिकमेवेति नोपाधिभिर्जात्यन्यथासिद्धि**रिति चेत्** ? तथाप्यनुगतधीनियामकतया सिध्यतः सामान्यस्याभावादिसाधारणस्यैव स्वीकर्तुमुचितत्वात् । अन्यथा कारणतावच्छेदकत्वादिनाप्यखंडोपाधेरेव स्वीकारेणोपाधिरेव परम्परासंबद्धो जातिरित्यस्यापि सुवचत्वात् । '**उपाधेः** कारणतावच्छेदकत्वे नानाविशेषणतानां कारणतावच्छेदकतावच्छेदकसंबंधे गौरवाज्जातेस्तथात्वे तु समवायस्यैकस्यैव तत्त्वे लाघवान्नाखंडोपाधिनापि जातिविलयापत्ति**रि'ति चेत् ? न,** विशेषणताया अपि लाघवात्समवायवदेकस्या एव तत्राभ्युपगन्तुं युक्तत्वात्, नानात्वेऽपि विशेषणतात्वेन तासामनुगमसंभवाच्च । **किं** च परम्परासम्बन्धेन जात्यप्रतिसंधानेऽप्युपाधिभिरनुवृत्तिधीजननदर्शनात् स्वभावत एव घटादीनामनुवृत्तिधीनियामकत्वमुचितम् । **अथ** एवमेतद्घटत्वेनापि घटः किं नानुवर्त्तेत, स्वभावाऽप्र-

च्यवादिति चेत् ? न, प्रतिव्यक्ति तुल्यातुल्यपरिणतिरूपधर्मयोरेव स्वभावतोऽनुवृत्तिव्यावृत्तिनियामकत्वात् । धर्मी पुनः कथंचिदनुवृत्तिव्यावृत्त्युभयस्वभाव इति स्पष्टीभविष्यति व्याख्यान्तरे पुरस्तात् ।

अथैवमप्यूर्ध्वतासामान्ये मानाभावोऽङ्गदकुंडलादौ कांचनत्वरूपतिर्यक्सामान्येनैव 'कांचनं कांचनमि'त्यनुगतप्रतीतेर्निर्वाहादिति चेत् ? न, 'यदेव कांचनमङ्गदीभूतं तदेव कुंडलीभूतमि'त्यादिप्रतीतीनामेकाकारत्वस्योर्ध्वतासामान्यं विनाऽनुपपत्तेः, विसदृशपरिणतिषु तिर्यक्सामान्यानवकाशाच्च । किं च प्रतीतावनुगतत्वं=एकविषयनिष्ठापरविषयभेदानवच्छेदकावगाहित्वं, तन्निर्वाहकत्वं च तिर्यक्सामान्यस्येवोर्ध्वतासामान्यस्याप्यक्षतमिति दिक् । यद्यपीदृशोर्ध्वतासामान्यत्वं चिरस्थायिनां गुणपर्यायाणामपि संभवति, तथापि पूर्वापरपरिणामसाधारणं द्रव्यमूर्ध्वतासामान्यमित्यत्र द्रव्यपदं धर्मिपरमिति न कोपि दोषः ।

[दिगम्बरमते स्वरूपास्तित्वव्याख्यानम्]

दिगम्बरास्तु–एकद्रव्येषु घटादिषु स्वरूपास्तित्वेनाऽनुगतव्यवहारः । स्वरूपास्तित्वं च स्वगुणपर्यायैरुत्पादव्ययध्रुवत्वैश्च द्रव्यस्य स्वभाव एव । तदुक्तं "सब्भावो हि सहावो, गुणेहिं सगपज्जएहिं चित्तेहिं । दव्वस्स सव्वकालं उप्पादव्वयधुवत्तेहिं"[प्र.सा.२–४]ति । अयमर्थः–द्रव्यादिचतुष्टयेन द्रव्यात्पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरणरूपेण गुणानां पर्यायाणां च स्वरूपमुपादाय प्रवर्त्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य द्रव्यास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैर्गुणैः पर्यायैश्च यदस्तित्वं द्रव्यस्य, स स्वभावः । तथा द्रव्यादिचतुष्टयेन गुणेभ्यः पर्यायेभ्यश्च पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्त्रादिरूपेण द्रव्यस्वरूपमुपादाय प्रवर्त्तमानप्रवृत्तियुक्तैर्गुणैः पर्यायैश्च निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य द्रव्यस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादितं यदस्तित्वं स स्वभावः । एवं द्रव्यादिचतुष्टयेन द्रव्यात्पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरणरूपेणोत्पादव्ययध्रौव्याणां स्वरूपमुपादाय प्रवर्त्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य द्रव्यास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैरुत्पादव्ययध्रौव्यैर्यदस्तित्वं द्रव्यस्य स स्वभावः । तथा द्रव्यादिचतुष्टयेनोत्पादव्ययध्रौव्येभ्यः पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्त्रादिरूपेण द्रव्यस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैरुत्पादव्ययध्रौव्यैर्निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य द्रव्यस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादितं यदस्तित्वं स स्वभाव इति । तच्च स्वरूपास्तित्वमिति गीयते । परस्परकरम्बितशक्त्या निष्पाद्यनिष्पत्तिमद्भाववतामस्तित्वं स्वरूपास्तित्वमिति **परमार्थः** । अनेकद्रव्येष्वनुगतव्यवहारस्तु सादृश्यास्तित्वेन । तदुक्तं–"इह विविधलक्खणाणं, लक्खणमेगं सदित्ति सव्वगदं । उवदिसदा खलु धम्मं, जिणवरवसहेण पण्णत्तं[२] ।।" [प्र.सा. २–५] त्ति । अथ सादृश्यास्तित्वानामपि प्रतिव्यक्तिस्वरूपभेदात् स्वरूपास्तित्वानामिव नानेकद्रव्यानुवर्त्तकत्वं स्यादिति चेत् ? अत्र केचित्–सत्यपि प्रतिव्यक्ति स्वरूपभेदा-

१. सद्भावो हि स्वभावो, गुणैः सह पर्ययैश्चित्रैः । द्रव्यस्य सर्वकालमुत्पादव्ययध्रुवत्वैः ।।
२. इह विविधलक्षणानां लक्षणमेकं सदिति सर्वगतम् । उपदिशता खलु धर्मं जिनवरवृषभेण प्रज्ञप्तम् ।

विशेषे सादृश्यास्तित्वेनैवानेकद्रव्येष्वनुगतधीर्न तु स्वरूपास्तित्वेनेति स्वभावस्यैव विजृम्भितमित्याहुः। वस्तुतः स्वरूपास्तित्वं प्रतिव्यक्त्यनेकमेव, सादृश्यास्तित्वं पुनरेकमपीति भिन्नद्रव्यानुवर्त्तकमिति बोध्यम् ।

[यौगमते सादृश्यव्याख्यानम्]

अत्र **यौगाः** संगिरन्ते। **ननु** सादृश्यं तद्भिन्नत्वे सति तद्गतधर्मवत्त्वम् । स्वस्मिन् स्वसादृश्यवारणाय 'तद्भिन्नत्वे सती'ति। **न च** गगनं गगनाकारमित्यादावव्याप्तिः। उपमितिक्रियाऽनिष्पत्त्याऽनन्वयस्याऽलक्ष्यत्वात् । अत एवोपमेयोपमाया अतादृश्या लक्ष्यत्वादेव न तत्रातिव्याप्तिः । मिथस्तयोरेवोपमानोपमेयत्वविवक्षामात्रादस्यालंकारांतरव्यपदेशात् । **यत्तु** प्राचा–तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोऽसाधारणधर्मवत्त्वं सादृश्यम् , पटादौ घटसादृश्यवारणाय 'असाधारणे'ति, यत्किंचिदसाधारणधर्मवति तद्वारणाय 'भूय' इत्युक्तं–**तन्न**, पटादेरपि कथंचित् घटसादृश्यव्यवहारात्; तद्वाचकानां इवादिपदानां शक्तिस्तु भेदे वृत्तित्वे धर्मे च खंडश एवेति लाघवाच्चंद्रादिपदसमभिव्यवहाराच्च चंद्रादिभिन्नत्वलाभः, अनवच्छिन्नविशेषणताया भेदसंसर्गत्वाच्च न कपिसंयोगवति कपिसंयोगवत्सादृश्यापत्तिः । **अथैवं** 'पटो न घटसदृश' इतिधीर्न स्याद्, घटवृत्तिधर्मसामान्याभावस्य पटेऽसंभवात् । **अत्रो**पमानपदार्थतावच्छेदकनिष्ठाश्रयत्वसंसर्गेण वृत्तित्वविशिष्टधर्माभावबोधान्नायं दोष **इति चेन्न**, एवं सति 'घटः पटसदृश' इति बुद्ध्यनापत्तेरि**ति चेत् ? न,** 'पटो न घटसदृश' इति बुद्ध्यनापत्तेरिष्टत्वादनिष्टत्वे वा धर्मपदं घटत्वादिपरं बोध्यम् । 'एवमपि घटभिन्नत्वविशिष्टघटत्वाऽप्रसिद्धेः कथं तदभावबोध' **इति चेत् ? न** ह्यत्र विशिष्टस्याभावबोधः किन्तु घटभिन्नत्वघटवृत्तिधर्माभावयोरेकत्र द्वयमितिन्यायेनेति 'घटभिन्नत्वविशिष्टघटवृत्तिधर्मस्य घटत्वीयसंबंधेनाभावबोधान्नात्रानुपपत्तिरित्यप्याहुः।

एतत्कल्पे च सामानाधिकरण्यसंबंधेनेवाद्यर्थस्य भेदस्य स्वार्थे धर्म एवान्वयो बोध्यः । समीचीनश्चायमेव पक्षः, पूर्वत्र 'घटो न घटसदृश' इति बोधाऽनापत्तेः । **ननु** घटत्वादावपि पटत्वात्यंताभावादिरूपघटभेदवैशिष्ट्याद् घटे घटसादृश्यं कथं ने**ति चेत् ?** तादृशघटभेदस्य घटसत्त्वेऽपि घटभेदत्वावच्छिन्नाधिकरणताया अभावाद् अन्यथा 'घटो न घट' इति प्रतीत्यापत्तेरिति गृहाण । **अथ** तद्भिन्नत्वमात्रमेव सादृश्यमस्तु प्रमेयत्वादिना सर्वत्र सर्वसादृश्याद् व्यर्थो विशेष्यभाग इति **चेत् ? न,** तद्भिन्नत्वमात्रस्य सादृश्यव्यवहारानौपयिकत्वाद्विशिष्टाधिकरणताया भिन्नत्वेन वैयर्थ्याभावाच्च । न ह्यत्रविशिष्टाधिकरणताघटिता व्याप्तिर्विशेष्यभागं विना ग्रहीतुं शक्यत इति । एवं च पटादौ घटसादृश्यस्यापि घटाभिन्नत्वविशिष्टद्रव्यत्वाद्यखंडधर्मरूपतया द्रव्यत्वमात्रस्यैव सामान्यत्वमुचितं, विशिष्टस्य घट एवाऽननुवृत्तेः । **अथैवं** पशुत्वादिना सखंडधर्मेण सादृश्यं न स्यादि**ति चेत् ? न,** तस्यापि परम्परयाऽखंडत्वादिति ।

[जैनमते सादृश्यनिर्वचनम्]

अत्र वदंति–सादृश्यं न तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वं, किंतु तद्वृत्तिधर्मैकधर्मवत्त्वम् ।। एकत्वं च **संग्रहनयार्पणार्पितबुद्धिविशेषविषयत्वं**, तेन नैतद्घटत्वादेः सामान्यत्वं, संग्रहस्य विस्तरावधिकत्वात् । नापि पटत्वादेर्घटसादृश्यं, तत्तदितरसाधारणधर्मेष्वेव संग्रहसंभवात् । **न च** स्वस्मिन् स्वसादृश्यापत्तिः इष्टत्वात्कथमन्यथाऽस्या इवास्या इत्यादाविव शब्दप्रयोगः साधीयान् । **न चैवमनन्वयस्यालंकारान्तरत्वं न स्यादिति वाच्यं**, स्वस्यैवोपमानोपमेयत्वविवक्षया तत्रालंकारांतरव्यपदेशात् । **अथास्या** इवास्या इत्यादावपि वैधर्म्यरूपभेदप्रतिसंधान एव सादृश्यव्यवहारो नान्यथा, अनुगतव्यवहारस्तु भेदानुपरक्ताखंडधर्ममात्रेणेति सादृश्यात्सामान्यमतिरिच्यत **इति चेत्** ? कोशपानप्रत्यायनीयमेतद्वैधर्म्याऽप्रतिसंधानेऽपि तत्रेवाद्यर्थबोधानपवादात् । 'तदप्रतिसंधानेऽनन्वय एव नोपमे'**ति चेत् ? न**, सादृश्यस्य भेदगर्भितत्वे इवादिपदात्तत्प्रतिसंधानस्यैवावश्यंभावात् । अयोग्यताभ्रमादितस्तदप्रतिसंधानेऽनन्वय **इति चेत् ? तर्हि** यत्र नायोग्यताभ्रमादिकं तत्र क्वचिद्वैधर्म्याप्रतिसंधानेऽपीवादिपदार्थबोध इति कथं तस्येवाद्यर्थत्वम् !

इदमत्रावधेयम् । 'पटो घटसदृशः, पटो द्रव्यमि'तिप्रतीत्योर्वैलक्षण्यं विषयवैलक्षण्याधीनं, विषयं विनैव धियां विशेषे साकारवादापातात् । तथा च सावच्छिन्ननिरवच्छिन्नप्रकारताभ्यामेव तयोर्वैलक्षण्यं वाच्यम्, न तु तदनुरोधेन सादृश्यमेव तद्भिन्नत्वगर्भं वाच्यमिति ।

नव्य[म]त(ता)नुयायिनस्तु सादृश्यमतिरिक्तमेव बहुषु धर्मेषु तत्त्वकल्पने **गौरवात् । न च** तद्भिन्नत्वे सति तद्गतधर्मवत्त्वस्य तद्व्यंजकत्वकल्पने विपरीतगौरवं, एवं सत्यखंडपदार्थमात्रविलयापत्तेः । स्मर्यमाणारोपादिकारणताद्यवच्छेदकत्वेनानुगतस्यैव तस्य सिद्धौ तद्गौरवस्य फलमुखत्वाच्च । घटादिसादृश्यं च पटादौ द्रव्यत्वाद्यवच्छेदेन न तु गुणत्वाद्यवच्छेदेनेति 'पटो द्रव्यत्वेन घटसदृशो न तु गुणत्वेने'त्यादिप्रतीतेर्नानुपपत्ति**रित्याहुः । तच्चिन्त्यम्**, 'घटसदृशः पट' इति निर्णयोत्तरं घटवृत्तिधर्मवान्नवेति संशयानुदयात्, अतिरिक्तन्निश्चयस्य तत्प्रतिबंधकत्वकल्पने **गौरवात् । न च** तवापि घटभिन्नत्वे सति तद्वृत्तिधर्मवत्तारूपतन्निश्चयस्य घटवृत्तिधर्मवत्त्वसंशयाऽव्यावृत्ततया पृथक् प्रतिबंधकत्वकल्पने ध्रुवं साम्यमिति **वाच्यं**, पटो घटभिन्नत्वे सति घटवृत्तिधर्मवानितिशाब्दबोधोत्तरं तदनुत्पत्त्या तत्प्रतिबंधकत्वकल्पनस्यावश्यकत्वादिति **दिग्** ।

सामान्यस्य पराभिमते नित्यत्वानेकसमवेतत्वे अपि कथं समगंसाताम् ? अत्र मृत्पिण्डे घटत्वमासीदिति प्रतीत्या तस्यानित्यत्वसिद्धेः । अतीतानागतव्यक्तिवृत्तित्वस्यैव दुरुपपादत्वेन यावद्व्यक्तिवृत्तित्वरूपस्यानेकसमवेतत्वस्य दुर्वचत्वाच्चेति **प्रांचः । अथ** यथा भवन्मते एकस्य शब्दस्य सर्वार्थवाचकत्वं अतीतानागतव्यक्तिनिरूपितत्वस्य कादाचित्कत्वेऽपि तन्निरूपितवाचकताया एकत्वेन निर्वहति, तथा ममापि तत्तद्व्यक्तिनिरूपितत्वस्य कादाचित्कत्वेऽपि तन्निरूपितसमान्यस्यैकतया यावद्व्यक्तिसमवेतत्वं जातेर्निर्वक्ष्यति । भवतामेकस्य शब्दस्य यावदर्थवाचकत्व-

मिव यावद्व्यक्तिवृत्तित्वं जातेरेकदा तु न व्यवह्रियते। किं च पटादौ नष्टघटभेद इव जाता-वतीतानागतव्यक्तिसमवेतत्वं नासंभवदुक्तिकमिति चेत्? न, समवायस्यैवाऽविष्वग्भावातिरिक्तस्या-ऽसिद्धेः। **एतेन** 'अनेकवृत्तित्वं स्वाश्रयान्योन्याभावसामानाधिकरण्यमि'ति **वर्धमानवचनमप्यपास्तं**, विशेषेऽतिव्याप्तितादवस्थ्यवारणाय सामानाधिकरण्यस्य समवायगर्भत्वावश्यकत्वात्।

[**विशेषपदार्थेऽनुपपत्तिः**]

विशेषपदार्थस्वीकारोऽपि तेषां भेदकधर्मान्तराऽभाववतां परमाण्वादीनां नित्यद्रव्याणां पर-स्परयोगिभेदप्रत्यक्षान्यथानुपपत्तेः, सोप्यनुपपन्नः, तद्गुणेष्वपि तत्स्वीकारापत्तेः। **अथ** तत्र शुक्ल-तरत्वाद्यवांतरजातयः स्वीक्रियंते, परमाणौ त्वंत्यकार्यावृत्तित्वादवांतरजातयः स्वीकर्तुं न शक्यंत **इति चेत्?** तथाप्यवांतरजातीयेष्वपि रूपादौ परस्परव्यावृत्तिः किमधीना? स्वाश्रयाश्रितत्वसंबंधेन विशेषाधीनैवेति **चेत्तर्हि** स विशेषो गुणनिष्ठ एव कल्प्यतां, परमाण्वादिषु परस्परव्यावृत्तिस्तु स्वाश्रयसमवायित्वसम्बन्धेन विशेषाधीनेत्यत्र किं विनिगमकम्! 'गुणानां बहुत्वात्तत्रानन्तविशेषक-ल्पनायां गौरवं बाधक**मि'ति चेत्?** तथापि प्रत्येकं विनिगमनाविरहः कुत्र लीनः? किं च तादृश-विशेषाणामपि व्यावृत्तिः कुतः? स्वत एवेति **चेत्तर्हि** तदाश्रयाणामपि स्वत एव सास्तु। वैधर्म्य-व्याप्ता सा कथं तद्विने**ति चेत्?** अंततस्तत्तद्व्यक्तित्वादीनामपि तत्त्वसंभवात्प्रतिद्रव्यमनंता-ऽगुरुलघुपर्यायाणां सिद्धांतसिद्धत्वाच्च। **एतेन**—अयमनारब्धद्रव्यः परमाणुः एतत्परमाणुनिष्ठजाति-गुणकर्मभिन्नधर्मसमवायो परमाणुत्वादन्यपरमाणुवदित्यनुमानमपि—**निरस्तं**, तर्कविरहेऽनुमानसह-स्रस्याऽकिंचित्करत्वात्, द्रव्यसमवायित्वस्योपाधित्वाच्च। किं चैवमप्याकाशादौ न विशेषसिद्धिः। शब्दादेरेव तत्र व्यावर्त्तकत्वाच्च सिद्ध्यसिद्धिव्याघातेन तु विशेषस्येव द्रव्यस्यैव व्यावृत्तिस्वभावत्वं न्याय्यमिति **दिग्**।

अभिलाप्यत्वाऽनभिलाप्यत्वे अपि न विरुद्धे। दृष्टं हि घटस्य यथा घटपदापेक्षयाऽ-भिलाप्यत्वं तथा पटपदापेक्षयाऽनभिलाप्यत्वमपीति। **नन्व**भिलाप्यभावापेक्षयाऽनंतगुणिता अनभि-लाप्या भावा भवद्भिरुपेयंते, यदुक्तं [बृहत्कल्पवृत्तौ]—"पन्नवणिज्जा भावा अणंतभागो उ अणभिलप्पाणं"[1] ति। तेष्वेवेदमुभयमनुपपन्न**मिति चेत्? न,** तेषामनभिलाप्यपदेनैवाभिलाप्यत्वात्।

[**अभिलाप्यत्वपदार्थपरीक्षा**]

ननु तर्हि किमिदशानभिलाप्यव्यावृत्तमभिलाप्यत्वं? न तावत्पदशक्तिविषयत्वं, अतिप्र-संगात्। नापि पदजन्यबोधविषयत्वं, तदविषये क्वचिद् घटादावभावात्। नापि तद्बोध्यतावच्छे-दकरूपवत्त्वं, घटस्यापि पटपदाभिलाप्यत्वापत्तेः, एकस्यापि पदस्य सर्वार्थवाचकत्वेन पटपदाभि-लाप्यतावच्छेदकप्रमेयत्ववत्त्वस्य घटे सत्त्वात्। **अथ** पटपदादितः प्रमेयत्वेनाऽबोधान्न तदवच्छिन्ने शक्तिः, शक्तिज्ञानपदार्थोपस्थितिशाब्दबोधानां समानप्रकारकत्वेनैव कार्यकारणभावादिति **चेत्?**

१. 'प्रज्ञापनीया भावा अनंतभागस्त्वनभिलाप्यानाम्'। (पूर्वार्द्धमेतत्। विशेषावश्यकेऽपि श्लोक० १४१)

किं तावता, तथापि घटत्वादेः पटपदबोध्यतावच्छेदकत्वस्य निरपायत्वात् । नापि गृहीततत्तदर्थनिरूपितसंकेतकपदबोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्वं तत् , पटपदस्यापि घटे संकेतग्रहसंभवात्तद्दोषानतिवृत्तेः । **नापि** गृहीततत्तदर्थनिरूपितनियन्त्रितसंकेतकपदबोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्वं, घटे हि घटपदस्यैव कोशादिना संकेतो नियम्यते न तु पटपदस्येति न प्रागुक्त दोष इति—**वाच्यं,** श्रुताऽनिबद्धेषु प्रज्ञापनीयेषु तादृशपदसंकेतग्रहाऽसंभवात् । **न च** तेषामेवासिद्धिः, "[1]पन्नवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुअनिबद्धो"त्ति [बृहत्कल्पवृत्ति]वचनप्रामाण्यात् ।

अत्र वदन्ति—तत्तदर्थस्वरूपपरिणामपरिणतपदबोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्वं तत् , श्रुतज्ञानेन तन्निश्रितमतिज्ञानेन वा तत्तद्रूपेण तत्तदर्थान् प्रतिपादयत्पदं हि तत्तदर्थपरिणामभाग् भवति अन्यथा प्रवृत्त्यादिप्रतिनियमानुपपत्तेः । **एतेन** 'विकल्पयोनयः शब्दा, विकल्पा शब्दयोनयः । कार्यकारणता तेषां, नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यपि' ॥१॥ इति **निरस्तं,** कथंचित्तादात्म्येनैव शब्देनार्थप्रतिपादनात् । तदुक्तं परमर्षिभिः—"[2]खुरअग्गिमोअगुच्चारणंमि, जम्हा उ वयणसवणाणं । णवि छेओ णवि दाहो ण पूरणं तेण भिण्णं तु ॥१॥ जह्मा य मोअगुच्चारणंमि तत्थेव पच्चओ होइ । ण य होइ सअण्णत्थो । तेण अभिण्णं तदत्थाओ ॥२॥ त्ति । **न** चैवमेकस्मादपि पदात् सर्वत्र प्रवृत्तिः स्यात्सर्ववाचकस्य सर्वतादात्म्यादिति **वाच्यं,** यत्रैव हि यत्पदस्य संकेतो गृह्यते तत्रैव तत्तादात्म्यपरिणतिरिति नियमात् । **न च** तत्तत्संकेतग्रहस्य तत्तदर्थबोधं प्रत्येव हेतुताऽस्तु किं तत्तादात्म्यपरिणतिहेतुताकल्पनेनेति **वाच्यं,** शब्दाऽननुविद्धस्यार्थस्याभानादि**त्यन्यत्र विस्तरः** ।

इत्थं चानभिलाप्यानामनभिलाप्यत्वेनाऽनभिलाप्यपदप्रतिपाद्यत्वेऽपि नाभिलाप्यत्वं, प्रातिस्विकरूपेण पदाऽप्रतिपाद्यत्वात् । तत्तदर्थपरिणततत्तत्पदप्रयोक्तैव च पुरुषस्तत्तदर्थप्रतिपादकत्वेन व्यवह्रियते । अत एव न भगवतां तत्तत्पदप्रयोक्तॄणामपि श्रुतज्ञानाऽविषयीभूतार्थप्रतिपादकत्वम् । इदमेवाभिप्रेत्याभ्यधायी "[3]केवलविन्नेयत्थे सुअणाणेणं जिणो पयासेइ । सुअनाणकेवली वि हु तेणेवत्थे पयासेइ" त्ति ॥ **श्रुतज्ञानेन**=वाग्योगेनेत्यर्थः, अन्यथा भगवतः श्रुतज्ञानाऽसंभवाद्यथाश्रुतार्थानुपपत्तेः, तत्र क्षायिकश्रुतज्ञानादिसत्त्वपक्षस्यानभ्युपगमादन्यथोपयोगद्वयमात्राभिधानविरोधात् । तथा च भगवान् सर्वमर्थं संविदानोऽपि वाग्योगस्वाभाव्यात् श्रुतज्ञानविषयीभूतमेवार्थं प्रतिपादयति नान्यदिति प्रतिपत्तव्यम् ।

दिगम्बरास्तु—परकीयघटादिज्ञानस्य स्वेष्टसाधनताज्ञानात्तत्र प्रयोक्तुरिच्छा, तत इष्टघटादिज्ञानसाधनतया घटादिपदे तत्साधनतया च कंठताल्वाद्यभिघातादाविच्छा, ततः प्रवृत्त्यादि-

१. प्रज्ञापनीयानां पुनरनंतभागः श्रुतनिबद्धः ।

२. क्षुराग्निमोदकोच्चारणे यस्मात्तु वदनश्रवणानां । नापि छेदो नापि दाहो न पूरणं तेन भिन्नं तु ॥१॥ यस्माच्च मोदकोच्चारणे तत्रैव प्रत्ययो भवति । न च भवति स अन्यार्थः तेन अभिन्नं तदर्थात् ॥२॥

३. केवलविज्ञेयार्थान् श्रुतज्ञानेन जिनः प्रकाशयति । श्रुतज्ञानकेवली अपि खलु तेनैवार्थान् प्रकाशयति ॥

क्रमेण घटादिपदप्रयोगः, इत्येतादृशपरिपाट्याः केवलिनामभावान्न ते शब्दप्रयोक्तारः, किंतु विश्रसात एव मूर्ध्नोर्निरित्वरा ध्वनयस्तत्तच्छब्दत्वेन परिणम्यार्थविशेषं बोधयन्ति । नचैवमुपदेशादि तस्य नियतकालीनं न स्यादिति वाच्यं, वैस्रसिकस्यापि तस्य स्वभावतो नियतकाल एव भावाद्, घनगर्जितादिवत् । उक्तं च "[1]ठाणणिसेज्जविहारा । धम्मुवदेसो य णियदिणा तेसिं । अरहंताणं काले मायाचारो व्व इत्थीणं" [प्र०सा० १–४४] । इत्याहुः ।

[दिगम्बरमतदूषणम्]

तन्न, वर्णमात्रं प्रत्येव पुरुषप्रयत्नस्य कारणत्वात्तं विना तदनुपपत्तेः । न च रागविशिष्टवर्णं प्रत्येव तस्य हेतुताऽनंतप्रवृत्तिकार्यतावच्छेदककोटौ रागविशिष्टत्वदानापेक्षया रागविशिष्टप्रवृत्तिं प्रत्येवेच्छाया हेतुत्वकल्पने लाघवात् । न च तत्तन्मोहविशिष्टत्वावच्छिन्नं प्रति तत्तन्मोहत्वेन हेतुताऽस्त्विति वाच्यं, तथापि तेषां प्रयत्नसत्त्वे शब्दप्रयोगस्य निरपवादात् । भगवतां मोहाभिव्यक्तचैतन्यविशेषरूपाया इच्छाया असत्त्वेऽपि तदनभिव्यक्तचैतन्यविशेषरूपानुजिघृक्षादिसत्त्वमविरुद्धम् । अत एव "[2]तो भासइ सव्वन्नू भवियजणविबोहणट्ठाए" इत्याद्यार्षं स्वरसतः संगच्छते । न चैवं मोक्षेप्यनुजिघृक्षापत्तिः, जिननामकर्मोदयादिसाचिव्यादेव तत्प्रवृत्तेरित्यप्याहुः । इत्यधिकं मत्कृताऽध्यात्ममतपरीक्षायाम् ।

एवं च नित्यानित्यत्वादिधर्माणां वस्तुतो विरोधाभावेऽपि यदि कथंचिद्विरोधः परेणाभ्युपेयतेऽभ्युपेयतां तर्हि बाढं, तथापि तेषामेकत्र समावेशे न किंचिद्बाधकं पश्यामः । कथंचिद्विरुद्धत्वेनाभ्युपेतानामपि नीलपीतादीनामेकत्र समावेशस्य दृष्टत्वादित्याहुः 'विरुद्धे'ति । मेचकवस्तुषु= मिश्रवस्तुषु विरुद्धवर्णानां नीलपीतादीनां 'योगः'=एकत्र समावेशो, 'हि'=यतो, 'दृष्टः'=सकलजनानुभवसिद्धः । प्रतियंति हि सर्वेऽपि लोकश्चित्रमपि घटं नीलत्वपीतत्वादिना । नच तत्रावयवनीलादिमत्त्वैव परंपरया प्रतीतेर्विषयः, एवं सति योग्यरूपादीनां त्रुटिमात्रगतत्वापत्तेः । चित्रत्वव्यवहारस्तु नीलविशिष्टपीतादिनैकवृत्तिनीलपीतोभयादिना वा, विशिष्टाविशिष्टभेदं तु स्याद्वादिनो वयं न प्रतिक्षिपामः, रूपविभाजकोपाधीनां पंचत्वानतिरेक एव तात्पर्यात् । अथ तत्रापि नैकावच्छेदेन नानारूपसत्त्वं, किन्तु नीलपीतकपालाद्यवच्छेदकभेदेनेति चेत् ? सत्यमित एवोपाधिभेदादेव नित्याऽनित्यत्वादय एकत्र समाविशन्तीत्युक्तम् ।

[उत्तरार्द्धस्य विविधाः व्याख्याः]

अथवा 'विरुद्धं' विरुद्धत्वेनाभिमतं, 'द्वयं' नित्यानित्यत्वादिकं, 'नैकत्राऽसत्' नैकत्राऽवृत्ति, कुतः ? 'प्रमाणप्रसिद्धितः' एकवृत्तितया प्रमाणेन प्रमीयमाणत्वादीत्यर्थः । एकवृत्तित्वेन प्रमीयमाणस्यापि विरुद्धत्वाभिमानात् समावेशानभ्युपगमे नीलपीतादीनामपि स न स्याद्

१. स्थाननिषद्याविहरा धर्मोपदेशश्च नियत्या तेषाम् । अर्हतां काले मायाचार इव स्त्रीणाम् ॥

२. तस्माद्भाषते सर्वज्ञो भव्यजनविबोधनार्थम् ।

इत्याह 'विरुद्धे'ति । तथा चायं प्रयोगः—"नित्यानित्यत्वादीकं नैकत्राऽवृत्ति, एकवृत्तित्वेन प्रमीयमाणत्वात्, नीलपीतादिवत्' । 'विरुद्धत्वं=परस्परानधिकरणवृत्तिजातीयत्वमिति यथाश्रुतमेव सम्यग् इति तु न युक्तं, स्वमते नित्यानित्यत्वादावेव तदभावात् । एकवर्णस्यापि निश्चयतः पंचवर्णत्वाच्च । अन्यथा पूर्वशुक्लस्य पाकादिना पश्चात्श्यामत्वानुपपत्तेः, लाघवाच्छ्याममात्रं प्रत्येव श्यामस्य हेतुत्वात्पाकाऽजन्यत्वादेस्तत्कार्यतावच्छेदकप्रवेशे गौरवात् , सदसत्कार्यवादस्य व्यवस्थापितत्वाच्च ।

अथवा 'द्वयं'=नित्यत्वानित्यत्वादिकं, विशेषेण परस्परकरम्बितस्वभावेन रुद्धं=मिलितं, नाऽसत्, 'एकत्र प्रमाणप्रसिद्धितः'=एकत्वे प्रमाणप्रसिद्धेरित्यर्थः । अयं भावः—नित्यानित्यत्वं हि नरसिंहत्वादिवज्जात्यन्तरं, समाविष्टप्रतीतिजननात् । न हि केवलनरत्व-सिंहत्वाभ्यामेकनरसिंहप्रतीतिरिव केवलनित्यत्वानित्यत्वाभ्यां संमिलितप्रतीतिरुपपादयितुं शक्यते । अथ नरसिंहत्वमेकव्यक्तिवृत्ति न जात्यंतरं, नरत्वादिकमपि च सांकर्यभिया न जातिरूपमभ्युपेयत इति चेत् ? न, उपाधिसांकर्यस्येव जातिसांकर्यस्याप्यदोषत्वात्, नरत्वसमाविष्टसिंहत्वस्यैव तत्त्वात् । 'जातिसांकर्यस्याऽदोषत्वे शिंशपात्वादेरन्यत्र संभावनया 'वृक्षः शिंशपाया' इत्याद्यनुमानमप्युच्छिद्येत इति चेत् ? न, उपाधिसांकर्येऽप्येतद्दोषस्य तुल्यत्वात्, तर्कादिना संशयनिवृत्तेरुभयत्र संभवात् । अथ घटत्वपटत्वादेर्नियतविरोधदर्शनेन परस्परात्यंताभावसमानाधिकरणजातित्वस्य विरोधितावच्छेदकत्वकल्पनान्न तदवच्छिन्नजात्योः समावेशसंभव इति चेत् ? न, परस्परत्वस्य नानात्वेन तन्नियमस्य विशिष्य विश्रामात् । नरत्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणसिंहत्वादेर्विरोधितानवच्छेदकत्वात् । अथ जात्यंतररूपतेव व्यक्त्यंतररूपतैवास्य कुतो न संगीर्यत इति चेत् ? स्वतंत्रपरिभाषाया अपर्यनुयोज्यत्वात् ।

[सामान्यविशेषाऽविरोधप्रदर्शनम्]

एवं च सामान्यविशेषात्मकत्वस्यापि तथात्वं साधु संगच्छते । एकैकनयार्पणया प्रतीयमाने सदृशविसदृशपरिणती हि केवलानुवृत्तिव्यावृत्तिधियावपर्यन्त्यौ केवलसामान्यविशेषरूपे प्रमाणार्पणया प्रतीयमानं वस्तु पुनर्युगपदुभयधियं जनयत्कथंचिदनुगमव्यावृत्तिमज्जात्यंतरमेवेत्याहुः । अथैवं सामान्यं वस्तु न स्यादिति चेत् ? न वस्तु नाप्यवस्तु किंतु वस्त्वेकदेश इत्येव सिद्धांतः । अथ मिलिताभ्यां सामान्यविशेषाभ्यामेव कथंचिदनुवृत्तिव्यावृत्तिव्यवहारस्यैकदा संभवात्तयोरेव जात्यंतररूपताऽस्तु इति चेत् ? प्रमाणार्पणयैकत्वेन पर्यवसितयोराधारतया प्रयीतमानयोस्तयोरेव समुदायित्वेन तथात्वमुत्पश्यामः । अंशांशिनोर्विवक्षाभेदेनैव भेदात् परमार्थाऽभेदेंऽशांशिभावाऽसंभवात् । यथा हि कणानामेव समुदितानां राशित्वं, असमुदितानां तु तदेकदेशत्वं तथाऽत्रापि भावनीयमिति दिग् ।

अत्र दृष्टांत**माहुः**— **'विरुद्धे'ति** । विरुद्धानां परस्परकरंबितस्वभावानां वर्णानां नीलपीतादीनां **योगः**–समावेशो, **हि**– यतो, **दृष्टः**–प्रमाणसिद्धो, **मेचकवस्तुषु**–नानारूपवदवयवारब्धावयविषु । नीलपीतादीनां परस्परकरंबितस्वभावं विना 'एकश्चित्रो घट' इति विलक्षणप्रतीत्यनुपपत्तेः । **अथै**तत्प्रतीत्यनुरोधाच्चित्रमतिरिक्तमेवास्त्विति **चेत्**? **न**, नीलत्वादिनापि तत्प्रतीतेः । परंपरयाऽवयवनीलादिकमेव तत्प्रतीतेर्विषय **इति चेत्**? तर्ह्यवयवानामवयवितया परिणमनात्सिद्धमवयविन्यपि नीलादीकं, उद्भूतनीलविशिष्टोद्भूतपीतादीना चित्रत्वव्यवहाराच्च नोद्भूतनीलमात्रवति तदापत्तिः । सामान्यतस्तु चित्रपदाद्रूपविशिष्टरूपत्वेनैव बोधस्तेन नाऽननुगमः । **अथैवं** चित्रो घटो रूपविशिष्टरूपवानिति सहप्रयोगो न स्यादिति **चेत्**? **न**, विवरणादिरूपतया तदुपपत्तेः ।

अथानेकांते परेषामपि संमतिमुपदिदर्शयिषवः प्रथमतस्ताथागतसंमतिमाविष्कुर्वन्ति **'विज्ञाने'ति** ।

विज्ञानस्यैकमाकारं नानाकारकरम्बितम् ।
इच्छंस्तथागतः प्राज्ञो, नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥८॥

'विज्ञानस्य'=संविदः **एकमाकारं**–स्वरूपं **नानाकारकरम्बितम्**=चित्रपटाद्यनेकाकारमिश्रितम्, **इच्छन्**=अभ्युपगच्छन् **तथागतो**=**बौद्धो नानेकान्तवादं प्रतिक्षिपेत्**–निराकुर्यात् । तस्यानेकांतवादनिराकरणं न बलवदनिष्टाननुबन्धीत्यर्थः । यदि प्रतिक्षिपेत्तदा **प्राऽज्ञः**=प्रकर्षेणाऽज्ञो=भ्रान्त एव । यदि तु **प्राज्ञः** पंडितोऽभ्रान्तः इति यावत्तदा न प्रतिक्षिपेदेव । स हि परमाणौ मानाभावात्तत्सिध्यधीनस्थूलावयवित्वस्याप्यसिद्धेः प्रतिभासत्वान्यथानुपपत्त्या विषयं विनाऽपि वासनामात्रेण धियां विशेषाच्च ज्ञानाऽद्वैतमेव स्वीकुरुते । तच्च ज्ञानं ग्राहकतयैकस्वभावमपि ग्राह्यतयाऽनेकीभवतः स्वांशानगृह्णदनेकमपीति कथं न तस्यानेकांतवादिकक्षापंजरे प्रवेशः !

अथानेकांते **योगवैशिषिकावपि** संमानयंति **चित्रमिति**—

चित्रमेकमनेकञ्च, रूपं प्रामाणिकं वदन् ।
योगो वैशेषिको वाऽपि, नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥९॥

[चित्ररूपे विविधमतप्रदर्शनम्]

यद्यपि–चित्ररूपाभ्युपगंतारौ सांप्रदायिकौ **नैयायिकवैशिषिकौ** चित्रे घटे न रूपांतरमभ्युपगच्छति । नीलादिप्रतीतेरवयवनीलादिनैवोपपत्तेः । 'नीलादिसामग्रीसत्त्वात्तत्र नीलादिकमपि कुतो नोत्पद्यत' **इति चेत्**? **न**, स्वसमवायिसमवेतत्वसंबंधेन नीलेतररूपादेः प्रतिबन्धकत्वात् । स्वाश्रयसमवेतत्वसंबंधेन नीलाभावादेस्तथात्वे तु यत्रैकावयवे नीलं अपरत्र च नीलजनकाग्निसंयोगस्तत्रावयविनि व्याप्यवृत्ति नीलं न स्यादिति नीलनीलजनकतेजःसंयोगान्यतरत्वावच्छिन्नाभावस्य तथात्वं वाच्यम् । एवमपि संयोगस्याव्याप्यवृत्तित्वेन तद्दोषतादवस्थ्यात्प्रतियोगिव्यधिकरणस्य

तस्य तथात्वं वाच्यमिति गौरवम् । यदित्ववयवे नीलजनकसंयोगेन नीलजननोत्तरमेवावयवि-नीलोत्पत्तिरित्यभ्युपगम्यते तदा नीलादौ नीलाभावादेरपि प्रतिबंधकत्वं युक्तिमत् ।

[पृथ्वी–चित्ररूपयोः कार्यकारणभावः]

चित्रत्वावच्छिन्नं प्रति च पृथवीत्वेनैव हेतुत्वम् । न च नीलमात्रारब्धेऽपि तदापत्तिः, रूपजचित्रे नीलेतरपीतेतरादेरपि हेतुत्वात् । केचित्तु–नीलाभावादिषट्कस्यैव तद्धेतुत्वम् । न च नीलपीतोभयकपालारब्धे घटे पाकनाशितावयवपीतस्वचित्रेऽवयवे व्याप्यवृत्तिनीलोत्पत्तिकाले तदापत्तिः, कार्यसहभावेन तस्य हेतुत्वात् । अस्तु वा नीलनीलजनकतेजःसंयोगान्यतरत्वावच्छिन्नाऽभावादेरेव तथात्वं, तेन न नीलपीतश्वेतत्रितयकपालारब्धे पीतश्वेतयोः क्रमेण नाशे श्वेतनाशकालेऽपि तदापत्तिरित्याहुः । रूपमात्रजाऽतिरिक्त एव वा स हेतुः, पाकबलेन वैजात्यकल्पनात्, तेन नोभयज उभयोः पृथक्कारणत्वकल्पनम् । पाकजचित्रे वा मानाभावः, पाकादवयवे नानारूपोत्पत्त्यनंतरमेवावयविनि चित्रस्वीकारे लाघवादित्येके । तच्चिन्त्यं, चित्रजनकत्वेनाभिमतस्यैकस्य पाकस्यावयवनीलपीतादिजनकत्वे नीलजनकतावच्छेदकपीतजनकतावच्छेदकजात्योः सांकर्यात् । उभयादिजनकतावच्छेदकजातेस्तत्र नानापाकानां वा कल्पने गौरवादित्यपरे । अवयवेषु नानारूपतत्प्रागभावप्रध्वंसादिकल्पने गौरवादित्यर्थः ।

चित्ररूपे रूपवत्त्वेनैव हेतुता, नीलमात्रारब्धे तु प्रागभावाभावादेव न चित्रोत्पत्तिः । अस्तु वा चित्रं प्रति चित्रेतररूपाभावस्य चित्रेतरत्प्रति च चित्राभावस्य कार्यसहभावेन हेतुताऽतो नातिप्रसंग इति तु रामभद्रसार्वभौमाः । अत्र रूपवन्नीरूपोभयावयवारब्धावयविनि चित्रानुत्पत्तिस्तु स्वाश्रयसमवेतत्वसंबंधेन रूपाभावाभावरूपजन्यरूपत्वावच्छिन्नसामग्र्यभावादेवेति बोध्यम् । अग्निसंयोगजचित्रे रूपजनकाग्निसंयोगोऽवच्छेदकत्वसंबंधावच्छिन्नप्रतियोगिताकनीलजनकाग्निसंयोगाभावादिषट्कं स्वाश्रयसमवेतत्वसबंधेन रूपाभावश्च हेतुः । रूपजचित्रे नीलादिजनकविजातीयसंयोगाभावानां बहूनां हेतुताकल्पनापेक्षयाऽग्निसंयोगजचित्रे रूपत्वावच्छिन्नाभावस्यैकस्य तथात्वे लाघवादित्यपि कश्चित् ।

केचित्तु–नीलेतररूपाऽसमवायिकारणत्वपीतेतररूपासमवायिकारणत्वादिनैव चित्रं प्रति हेतुतेति पाकरूपयोर्न पार्थक्येन कारणतेत्याहुः । तच्चिन्त्यं–असमवायिकारणत्वस्याऽननुगतत्वाद् गुरुत्वाच्च । नीलादिकं प्रति नीलेतररूपादेः प्रतिबन्धकतावच्छेदकसंबंधः स्वाऽसमवायिकारणसमवायिसमवेतत्वमेव । न चेतरत्वस्यापि संबंधमध्ये निवेशाऽनिवेशाभ्यां विनिगमनाविरहः, नीलेतररूपत्वादिना स्वाश्रयसमवेतत्वसंबंधेन प्रतिबन्धकतावादिनोपि तुल्यत्वात् । जन्यरूपत्वावच्छिन्नं प्रति च रूपवत्त्वेनैवाऽसमवायिकारणत्वं, न तु नीलादौ नीलादेः, प्रयोजनाभावात् । न च प्राक्पक्षोक्तदोषाऽनतिवृत्तिः, संबन्धाननुगमस्याऽदोषत्वात् संबंधनानात्वेऽपि तावत्संबंधपर्याप्तप्रतियो-

गितावच्छेदकताकात्यंताभावघटितायाः तावत्संबन्धपर्याप्तप्रतियोगितावच्छेदकतावच्छेदकताकान्योन्याभावघटिताया वा व्याप्तेरभेदेन कारणताया अभेदात् । अत एवाऽननुगताभिरपि संयोगादिप्रत्यासत्तिभिश्चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति चक्षुष्ट्वेन कारणतोक्तिः प्राचां संगच्छते । इत्थं च नानारूपवदवयवारब्धे नीलादिबाधाच्चित्ररूपसिद्धिर्निराबाधा । चित्रं प्रत्यपि प्रागुक्तदिशा नीलेतरपीतेतरत्वादिनैव हेतुता । नीलेतरत्वं च नीलतरेतरत्वादिकं बोध्यं, तेन नीलतरनीलतमाभ्यामारब्धेऽपि तदुत्पत्तिर्निरपायेत्यादिकं **न्यायवादार्थे** प्रपञ्चितमस्माभिः ।

[विजातीयचित्ररूपहेतुता]

विजातीयचित्रं प्रति रूपविशिष्टरूपत्वेनैव हेतुत्वम् । वैशिष्ट्यं च स्वविजातीयत्वस्वसंवलितत्वोभयसंबंधेन, स्ववैजात्यं च चित्रत्वातिरिक्तं यत् स्ववृत्ति तद्भिन्नधर्मसमवायित्वम् । स्वसंवलितत्वं च स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवायिवृत्तित्वम् । विजातीयचित्रं प्रति च विजातीयतेजःसंयोगत्वेन हेतुतेत्यप्याहुः । चित्रत्वावच्छिन्नं प्रत्येव स्वविजातीयस्वसंवलितत्वोभयसंबन्धेन रूपसमवायिकारणविशिष्टरूपाऽसमवायिकारणत्वेन हेतुता । रूपासमवायिकारणत्वं च जनकताविशेषसंबन्धेन रूपवत्त्वमेवेत्यप्येके । मतद्वयमिदं स्फुटगौरवग्रस्तम् । **यत्तु**—नीलपीतोभयाभाव-पीतरक्तोभयाभावादीनां स्वसमवायिसमवेतत्वसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकानां समवायावच्छिन्नप्रतियोगिताकानां च विजातीयविजातीयपाकोभयाभावादीनां यावत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव एकश्चित्रत्वावच्छिन्नं प्रति हेतुरिति—**तन्न**, प्रतियोगिकोटावुदासीनप्रवेशाऽप्रवेशाभ्यां विनिगमनाविरहात् । चित्रत्वावच्छिन्ने रूपत्वेनैव हेतुता, नीलपीतोभयजन्यतावच्छेदकचित्रत्वावान्तरजात्यवच्छिन्ने नीलपीतोभयत्वेनैव त्रितयारब्धे तत्त्रितयत्वेन हेतुता, नीलपीतोभयाद्यारब्धचित्रे च नीलपीतान्यतरादीतररूपं प्रतिबन्धकमिति न त्रितयारब्धचित्रवति द्वितयारब्धचित्रापत्तिः । गौरवं तु प्रामाणिकत्वादिष्टमित्**यन्ये** । अत्र नीलतरनीलतमोभयत्वादिना तदुभयजन्यचित्रं प्रत्यपि हेतुता वाच्या, तत्प्रति च नीलतरनीलतमान्यतरेतररूपत्वेन प्रतिबन्धकता, तेन न नीलपीतोभयारब्धचित्रवति तदापत्तिः । रूपजरूपं प्रत्येव विजातीयाग्निसंयोगस्य प्रतिबन्धकत्वाच्च यत्रैकावयवे नीलमपरत्र पीतं तदन्यत्र च श्वेतजनकाग्निसंयोगस्तदवयविनि द्वितयारब्धचित्राद्यापत्तिर्नेति बोध्यम् ।

वस्तुतो द्वितयजचित्रादौ स्वपर्याप्त्यधिकरणपर्याप्तवृत्तिकत्वसंबन्धेन द्वितयादेः कारणता, नाऽतो नीलपीतोभयजादौ नीलपीतान्यतरादीतररूपत्वेन प्रतिबन्धकताकल्पनगौरवम् । चित्रं प्रति चित्रेतरसामग्रीत्वेन प्रतिबन्धकत्वान्न नीलमात्रारब्धे चित्रापत्तिः, नीलपीतोभयकपालारब्धघटे नीलानुत्पत्तिनिर्वाहाय तु स्वाश्रयसंबन्धेन नीलं प्रति स्वव्यापकसमवायेनैव नीलादेर्हेतुत्वं वाच्यं, न तु नीलादौ नीलतरादेः प्रतिबन्धकत्वमिति । न च तथापि तत्र समवायेन नीलापत्तिः, स्वाश्रयसंबन्धेन नीलसामग्र्याः समवायेन नीलसामग्र्यव्यापकत्वादित्**यपरे** ।

केचित्तु—नानारूपवदवयवारब्धो घटो नीरूप एव । न चैवमप्रत्यक्षः स्यात् द्रव्यतत्समवेतचाक्षुषसाधारण्ये चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रत्येव स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसंबन्धेन रूपस्य कारणत्वात् ।

अत एव त्रुटिचाक्षुषानुरोधेन परमाणुद्व्यणुकयोरपि सिद्धिरित्याहुः। **तच्चिन्त्यम्,** चित्रकपालिकास्थले तदसंभवात्। **किं च** घटाकाशसंयोगाद्यचाक्षुषत्वानुरोधेन चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसंबन्धेन रूपाभावस्य प्रतिबन्धत्वकल्पनमेवोचितम्। स्वावच्छिन्नगुणाधिकरणतावत्प्रत्यक्षत्वसंबन्धेन पर्याप्तिमतः स्वावच्छिन्नाधेयतावद्गुणप्रत्यक्षत्वसंबन्धेन पर्याप्तिमत्त्वावच्छिन्नं प्रति हेतुत्वकल्पनेऽप्यव्यासज्यवृत्त्याकाशादिगुणाऽचाक्षुषत्वोपपत्तये रूपवत्त्वस्य प्रत्यासत्तिघटकत्वे गौरवात्। **न च** स्पर्शशब्दाद्यन्यतमभेदस्य चाक्षुषप्रयोजकत्वात् स्पर्शादेरिव शब्दादेरपि तत्त्वतत्त्वेन चाक्षुषाऽहेतुत्वादेव वा नाकाशादिगुणचाक्षुषापत्तिरिति **वाच्यं,** उदासीनप्रवेशाऽप्रवेशाभ्यां विनिगमनाविरहेणाऽखंडभेदस्याऽहेतुत्वमित्युक्तत्वात्। रूपाभावस्य चाक्षुषप्रतिबन्धकत्वे शब्दादीनां तत्त्वतत्त्वेन हेतुत्वाऽकल्पनलाघवाच्च। **न च** चाक्षुषाऽभावस्यैवास्तु द्रव्यान्यसच्चाक्षुषं प्रति प्रतिबन्धकत्वं, आश्रयाऽचाक्षुषत्वेनैव द्व्यणुकाद्यचाक्षुषत्वोपपत्तौ महत्त्वस्यापि प्रत्यासत्त्यघटकत्वे लाघवादिति **वाच्यं,** लौकिकविषयितावच्छिन्नचाक्षुषाऽभावापेक्षया समवायसम्बन्धावच्छिन्नरूपाभावस्य लघुत्वात्। चाक्षुषलौकिकविषयत्वावच्छिन्नप्रत्यक्षाभावादेरपि तथात्वे विनिगमकाभावोक्तिस्तु कस्यचिन्न शोभते, समनियताभावाभेदात्।

किं च त्रुटावेव विश्रामे महत्त्वस्योभयथा प्रत्यासत्त्यघटकत्वेन विनिगमनाविरहादपि रूपाभावस्य प्रतिबन्धकत्वम्। रूपाद्युत्पत्तिक्षणे रूपचाक्षुषं तु पूर्वं विषयाभावादेव नेत्युभयत्रतुल्यम्। इत्थं च तादृशघटस्य नीरूपत्वे तादृशघटवृत्तिसंयोगादिचाक्षुषं न स्यात्। **एतेनोद्भूतैकत्वस्याऽयोग्यव्यावृत्तधर्मविशेषस्यैव** वा द्रव्यचाक्षुषकारणत्वेन रूपं विनापि पटादिचाक्षुषत्वोपपादनेन तादृशघटस्य नीरूपत्वसमर्थनं नवीनानां **प्रत्याख्यातमेव**। स्पार्शनं प्रति तु स्पार्शनाभावस्यैव प्रतिबन्धकत्वं, न तु स्पर्शाभावस्य, त्रुटिसमवेताऽस्पार्शनानुरोधेन संयुक्तसमवायप्रत्यासत्तिमध्ये प्रकृष्टमहत्त्वस्य घटकत्वे गौरवात्। एवं च तादृशघटस्य निःस्पर्शत्वे तु न क्षतिरिति विस्तरस्त्वत्रत्यो मत्कृत**चित्ररूपप्रकाशे**ऽवसेयः।

ऋजवस्तु 'तादृशो घटो न नीरूपो, रूपवत्त्वप्रतीतेः सार्वजनीनाया भ्रमत्वकल्पनाऽयोगादि' त्याहुः। **एकदेशिनस्तु**—तत्राव्याप्यवृत्तीनि नानारूपाण्येव। **न चा**वच्छेदकतया नीलाभावादिसामग्रीबलात्पीताद्यवयवावच्छेदेन नीलाद्यापत्तिः, अवच्छेदकतया जन्यरूपत्वावच्छिन्नं प्रत्येवावच्छेदकतया रूपत्वावच्छिन्नाभावस्य हेतुत्वात्। **न चैवमपि** नीलपीतावयवारब्धे पीतावयवावच्छेदेन पाके रक्तोत्पत्तिकाले नीलाद्यापत्तिः, कार्यतानवच्छेदकावच्छिन्नस्याऽनापाद्यत्वात्। यदि तु नीलपीतश्वेतत्रितयकपालारब्धे पीतश्वेतयोः क्रमेण नाशे श्वेतनाशकाले तत्र जन्यरूपत्वावच्छिन्नापत्तिः संभाव्यते, तदाप्यवच्छेदकतया जन्यरूपत्वावच्छिन्नं प्रत्येव समवायेन रूपस्य हेतुता कल्प्या, न तु नीलादौ नीलादेः, प्रयोजनाभावाद्गौरवाच्च।

केचित्तु—समवायस्येवावच्छेदकताया अपि कारणनियम्यत्वादवच्छेदकतया नीलादीकं प्रति समवायेन नीलादेः कारणत्वम् । **नन्वेवमपि** घटादावप्यवच्छेदकतया नीलाद्युत्पत्तिः स्यादिति **चेत्** ? **अत्र केचित्** अवच्छेदकतया नीलादीकं प्रति समवायेनाऽवयवनीलत्वादिना द्रव्यविशिष्टनीलत्वादिनैव वा हेतुत्वमित्याहुः । न च नीलविशिष्टद्रव्यत्वादिनापि तथात्वे विनिगमनाविरहो, नीलविशिष्टद्रव्यस्य पीतकपालेऽपि सत्त्वात् तत्राप्यवच्छेदकतया नीलापत्तेः, विशिष्टाधिकरणतायास्तत्राभावात् । **अन्ये** त्ववच्छेदकतया जन्यरूपत्वावच्छिन्नं प्रत्येव समवायेन द्रव्यस्य हेतुत्वमित्यूचुः । **तदपि न**, द्रव्यत्वेन वा हेतुत्वं मूर्त्तत्वादिना वेति तथापि विनिगमनाविरहात् । **अपरे तु** केवलनीलादिकपालेऽवच्छेदकतया तद्वारणाय स्वाश्रयवृत्तिद्रव्यसमवायसंबन्धेनाऽवश्यकल्प्यहेतुताकस्य नीलाद्यभावस्यैव तादृशघटादावभावात् नावच्छेदकतया नीलाद्युत्पत्तिः । **वस्तुत**स्त्ववच्छेदकतया जन्यरूपत्वावच्छिन्नं प्रति द्रव्यविशिष्टसमवायेनैव रूपस्य हेतुत्वात् न घटादावच्छेदकतया नीलाद्यापत्तिः ।

केचित्तु—केवलनीलकपालादिष्ववच्छेदकतया नीलादिवारणायावयवान्तरवृत्तिनीलेतररूपादेः स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवायसंबंधेन हेतुत्वमभ्युपगच्छन्ति । **तन्नेत्यन्ये**, कपालान्तरावच्छेदेन पाकाद्रक्तरूपोत्पत्तिकाले कपालांतरविद्यमानान्नीलादव्याप्यवृत्तिनीलाऽनापत्तेः । रक्तोत्पत्त्यनंतरमेव तत्राप्यव्याप्यवृत्तिनीलोत्पत्तिरित्यपरे । **नन्वेवमपि** नानारूपवत्कपालाद्यारब्धे घटे तत्कपालावच्छेदेन नीलाद्यापत्तिरिति **चेत्**? **नीलकपालिकावच्छिन्नतदवच्छेदेनेष्टत्वमेव तस्याः । यत्त्ववच्छे**दकतया नीलादिकं प्रति समवायेन नीलादीनां न कारणत्वं किन्तु नीलेतरकपालादीनामेव प्रतिबंधकत्वमिति न तन्नीलाद्यवच्छेदकं किंतु नीलकपालिकैव तादृशीति, **तत्तुच्छं**, कपालनीलाद्यवच्छेदकत्वाऽयोगात्, अवच्छेदकतासंबंधावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य नीलेतराभावविशिष्टनीलाद्यभावस्यावच्छेदकतया नीलादौ हेतुत्वे गौरवात्, व्याप्यवृत्तिनीलवत्कपालेऽवच्छेदकतया तदापत्तेश्च । अवच्छेदकतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकनीलेतराभावविशिष्टनीलाद्यभावस्य नीलेतरसामानाधिकरण्याऽविशिष्टविशेषणतया तथात्वेऽप्यतिप्रसंगान्महागौरवाच्च । **यत्तु**—नीलादीनामपि नीलेतररूपादिप्रतिबंधकतायां विरह इति—**तन्न**, नीलत्वादिना प्रतिबध्यतायां लाघवाद् नीलेतरत्वादिना प्रतिबंधकत्वे तु तदवच्छिन्नाभावस्याऽखंडस्य कारणतायां गौरवाऽप्रतिसंधा(ना)त् । प्रतिबंधकतागौरवस्य पुनरनन्तरोपस्थितिकत्वेनाऽविरोधित्वात् । अवच्छेदकतया नीलादिकं प्रति समवायेन नीलादिकं हेतुः, अवच्छिन्ननीलादिकं प्रति च स्वाश्रयसमवेतत्वसंबंधेन नीलाद्यभावो हेतुरित्यप्याहुः ।

सामानाधिकरण्यसंबंधावच्छिन्नप्रतियोगिताकनीलेतराद्यभावस्यावच्छेदकतया नीलादिकं प्रति कारणतेति **कश्चित्** । **तन्नेत्यन्ये**, सामानाधिकरण्यस्याऽव्याप्यवृत्तितया तत्संबंधावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्याऽसंभवादिति । **तदसत्**, 'गुणे सत्तायां न द्रव्यत्वसामानाधिकरण्यमि'तिप्रतीतेर्गुणे

पृथिवीत्वे न द्रव्यत्वसामानाधिकरण्यमितिवद्गुणे द्रव्यत्वसामानाधिकरण्यावच्छेदकत्वाभावावगाहित्वेनैवोपपत्तौ तदव्याप्यवृत्तित्वस्याऽन्यत्र दूषितत्वात्। सामानाधिकरण्येन नीलेतरवद्भेदो यदवच्छेदेन तदवच्छेदेन नीलोत्पत्तिरित्यप्याहुः। अव्याप्यवृत्तिरूपस्वीकार एव च '*मुखे पुच्छे च पांडुर' इत्यादावच्छेदकत्वार्थिका सप्तमी संगच्छते। न चैवं नीलकपालावच्छेदेन सन्निकर्षे पीतादिग्रहाऽऽपत्तिः, अव्याप्यवृत्तिचाक्षुषं प्रति चक्षुःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नसमवायसंबंधावच्छिन्नाधारतायाः सन्निकर्षत्वस्य संयोगादिस्थले क्लृप्तत्वादित्याहुः।

अत्र यद्यपि चित्ररूपवादिना नीलादिकं प्रति नीलेतरादीनां प्रतिबन्धकत्वं नीलाभावादीनां चित्रं प्रति हेतुता च कल्प्या, अव्याप्यवृत्तिरूपवादिनाप्यवच्छेदकतया नीलादिकं प्रति समवायेन नीलेतरादीनां प्रतिबन्धकत्वं, केवलनीलावयवेऽवच्छेदकतया नीलोत्पत्तिवारणाय प्रागुक्तद्रव्यघटितसंबन्धेन नीलाभावादीनामवच्छेदकतया नीलादिकं प्रति हेतुत्वं च कल्पनीयमिति तुल्यम्। यदि पुनरवच्छेदकतासंबंधेन नीलादिकमनियम्यमेव तदा तु चित्रं प्रत्येव नानाकारणकल्पने गौरवमिति। अव्याप्यवृत्तिरूपस्वीकारे नीलपीतवत्यग्निसंयोगान्नीलनाशात्तदवच्छेदेन रक्तं न स्यात्, रूपं प्रति रूपस्य प्रतिबन्धकत्वादित्याहुः। अपरे तु तत्र व्याप्यवृत्तिन्येव नीलापीतादीन्युत्पद्यंते नीलादिकं प्रति नीलेतरादिप्रतिबन्धकत्वनीलाभावादिकारणत्वाऽकल्पनया लाघवात्। न च नीलकपालावच्छेदेन चक्षुःसंनिकर्षे पीतादेरुपलम्भापत्तिः, पीतावयवाद्यवच्छिन्नचक्षुःसंनिकर्षस्य पीतादिग्राहकत्वकल्पनात्।

यत्त्वेतत्कपालावच्छिन्नसंयोगादिप्रत्यक्षानुरोधेनैतत्कपालानवच्छिन्नवृत्तिकत्वे सति यत्तत्पीतान्यं तद्भिन्नं यदेतद्घटसमवेतं तस्यैतत्कपालविषयकसाक्षात्कारं प्रत्येतत्कपालावच्छेदेनैतद्घटचक्षुःसंयोगस्य हेतुत्वान्न नीलाद्यवयवावच्छेदेन चक्षुःसंनिकर्षे पीतादिचाक्षुषमिति, तन्न, तथापि नीलावयवावच्छेदेन चक्षुःसंनिकर्षे घटत्वादेरिव पीतादेरपि पीतादिकपालाविषयकसाक्षात्कारापत्तेः दुर्वारत्वात्। व्याप्यवृत्त्याधारत्वस्याप्यवच्छेदकाभ्युपगमेन द्रव्यसमवेतचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रत्येव चक्षुःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नसमवायसम्बन्धावच्छिन्नाधारतायाः संनिकर्षत्वेनैतत्कपालावच्छिन्नघटसंयोगस्यान्यकपालावच्छेदेन चक्षुःसंयोगतच्चाक्षुषानुदयनिर्वाहादनुपदोक्तकारणत्वकल्पनस्य निर्युक्तिकत्वाच्च। 'मुखे पुच्छे च पांडुर' इत्यादौ तु मुखादिवृत्तिपांडुरत्वादिकमेवावयविनि प्रतीयत इत्याहुः। इति न केषामप्येषामेकरूपानेकरूपोभयसमावेशः संमतः,—

* सन्दर्भस्त्वेवं—एष्टव्या बहवः पुत्राः यद्येकोऽपि गयां व्रजेत्। यजेत वाश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत् ॥१॥
अत्र वृषविशेषणीभूतनीलत्वस्येयं परिभाषा—लोहितो यस्तु वर्णेन, मुखे पुच्छे च पाण्डुरः।
श्वेतः खुरविषाणाभ्यां, स नीलो वृष उच्यते ॥२॥

तथापि—ये नीलपीतरक्ताद्यारब्धघटादौ नीलपीतरक्तेभ्य एव नीलपीतोभयजरक्तपीतोभयजत्रितयजचित्राणामुत्पत्तिः, सर्वेषां सामग्रीसत्त्वादनुभवसिद्धत्वाच्च, तत्र त्रितयजचित्रं व्याप्यवृत्त्यन्यत्त्वव्याप्यवृत्ति, एकमेव वा तद्रूपमस्तु, जातेरव्याप्यवृत्तित्वोपगमेन तु किंचिदवच्छेदेन नीलत्वपीतत्वादिकं विलक्षणचित्रत्वादिकं च व्यवह्रियते इति येऽनुमन्यन्ते तदभिप्रायेणेदम्। स्वयं हि ये एकत्र घटे व्याप्यवृत्त्येकं चित्रमव्याप्यवृत्ति चित्रांतरं चाभ्युपगच्छन्ति तेषामनेकांतवादाऽनादरो न ज्यायानिति सर्वमवदातम् ।

ननु—तथापि भिन्नोपाधिकं विरुद्धधर्मद्वयमेकत्र समाविशतु, तथापि येनाकारेण भेदस्तेन भेद एव येन चाभेदस्तेनाभेद एवेत्येकांतोऽनेकांतवादिनामपि दुर्वार **इति चेत् ? न,** भेदाभेदयोरन्योन्यव्याप्तिभावेन 'तेन भेद एवे'त्यादेरर्थशून्यत्वात् । एकाकारेणाभेदस्यैवापराकारेण भेदरूपत्वात् । भेदावच्छेदकं यत्तन्नाभेदावच्छेदकमिति तु संमतमेवेति न दोषावहम्, अन्यथा तयोर्भिन्नोपाधिकत्वासंभवादित्याम्रेडितमेव । यत्त्ववच्छेदकभेदं विनैव भेदाभेदः **स्याद्वादिना**मभिमतो नान्यथा, परमतप्रवेशात्, तदुक्तम**नुमानखंडे मणिकृता** 'न चैवं भेदाभेदो अवच्छेदकभेदेन तत्सत्त्वाभ्युपगमादिति—**तदज्ञानविलसितं,** 'उपाधिभेदोपहितं विरुद्धं नार्थेष्वसत्त्वं, सदवाच्यते चे'त्यादिना ग्रन्थकृताप्युपाधिभेदेनैव सत्त्वाऽसत्त्वादिसमावेशाभिधानात् । अत्र ह्युपाधयोऽवच्छेदका अंशप्रकारा इति व्याख्यातम् । **नचैवं** ऋजुमतं कथमनुमतमिति **वाच्यं,** परमतमनभ्युपगम्य समाधानमात्रेणैव ऋजुत्वमित्यभिप्रायात् । कार्यद्वारोभयरूपवस्त्वप्रतीतेस्तदसिद्धिरेकस्य करणाऽकरणविरोधादित्यपि मन्दं, पर्यायतया करोति न तु द्रव्यत्वेनेत्यत्रापि द्वैरूप्यावतारात् । पर्यायत्वेन कर्तृत्वमेव, द्रव्यत्वेनाऽकर्तृत्वमित्यसारं, स्वभावसांकर्यापाताद्विनिगमनाविरहाच्च ।

किं च स्वकार्यकर्तृत्व—परकार्याऽकर्तृत्वाभ्यामप्येकस्य करणाकरणद्वैरूप्यम्—

करोति न करोति वा जगति कारणं कार्यमप्यकारणहितार्थिनो भगवतः श्रुते युज्यते ।
करोति यदि सर्वथा ननु कपालमापालि तत्पटं जनयितुं प्रभुर्भवतु तंतुसौभाग्यभूः ॥१॥
न कुरुते करणं यदि सर्वथा, स्मरणमेव तदस्य न युज्यते ।
अजनयत्परकार्यमिह स्वयं, न जनयेदपि किंचन तद्यतः ॥२॥

[स्वभावभेदाभावेऽपि धर्मधर्मिभावः]

अनास्वादितस्वभावभेदयोः कथं धर्मधर्मिभाव **इति चेत् ? न,** धर्मधर्मिणोर्मिथोभेदात् प्रतिनियतधर्म्याश्रितत्वेनैव केवलमभेदात् । 'धर्मधर्मिभावः काल्पनिक एव न तु वास्तव' **इति चेत् ? न,** कल्पनाया अपि विकल्पप्रासादसत्ख्यातिनिरासाच्च । न हीन्द्रियवृत्त्यादिकं विनाऽसतो ज्ञानं संभवति । न च वासनयैवाऽसतो भानं, तादृशवासनायां मानाभावात् , भावे वा तस्याः शाश्वतिकत्वे सर्वदाऽखंडशशशृङ्गावलीकभानापत्तेः । न च सद्ज्ञानसामग्र्या असद्ज्ञाने प्रतिबन्धकत्वं,

१— एतच्छ्लोकविवरणगताद्येन 'यद्यपि' इति पदेन सहाऽस्यान्वयः ।

गौरवात् । अलीकस्यैव स्ववासनाहेतोः शाश्वतिकत्वेन तस्याः क्रमिकत्वाऽशंका पुनरनुत्थानोपहतैव । असदलीकं न वासनाहेतुरिति चेत् ? तदा सदा भावाभावान्यतराऽऽपत्तिः, 'नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्याऽनपेक्षणात्' इति वचनात् ।

किं च सेयं वासना प्रमाणमप्रमाणं वा ? उभयथाप्यसतः सत्त्वापत्तिः । न हि प्रामाणिकमसत्,न वाऽसतः सत्त्वं विना तद्ग्राहकस्याऽप्रमाणत्वम् । न च प्रमाऽजनकत्वमेवाऽप्रमाणत्वमिति न वासनाया भ्रमजनकत्वेनाऽसतः सत्त्वापत्तिरिति वाच्यं, प्रमाऽजनकत्वे सति ज्ञानजनकत्वेन तस्या भ्रमजनकत्वसिद्धेः । 'भ्रमो नान्यथाख्यातिः किंतु असत्ख्यातिरि'ति चेत् ? न, असंनिकृष्टस्याऽसाक्षात्कारादित्यन्यत्र विस्तरः । एतेन 'अत्यंताऽसत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि । अबाधात्तु प्रमामत्र स्वतःप्रामाण्यनिश्चलामि' त्यपि निरस्तं, योग्यताज्ञानं विना तत्र शाब्दबोधानुदयात् । तदिदमुक्तं—'तत्र सचेतसां मूकतैवोचिते'ति । अत एवालीकस्य विधिनिषेधव्यवहाराऽभाजनत्वम् । 'शशश्रृङ्गं न सदि' त्यादिबुद्धिस्तु श्रृङ्गे शशीयत्वादेरेवाऽसत्त्वमवगाहते ।

एवं चाऽसत्कल्पनावादिनामसत्ख्यात्यनभ्युपगमो न श्रेयानिति प्रलापमात्रमेव, असत्कल्पनायामपि प्रसिद्धानामेव खंडानां मिथोऽन्यथासंसृष्टानां भानाभ्युपगमात् । 'धर्म्येव सन्, धर्मास्तु परिकल्पिता' इति चेत्? तर्हि, 'धर्मा एव संतो, धर्मी तु परिकल्पित' इति विपरितमेव किं न रोचयेः ? किं चैवं क्षणस्थितिधर्मकत्वेऽपि निमज्जति वस्तुनो नीरूपाख्यत्वापत्त्या क्षणिकत्वसिद्धांतहानेः किं न बिभेषि ? ? स्यादेतत्—"धर्मधर्मिणामेव धर्मधर्मिभावो न तु कश्चिदतिरिक्त इति 'घटो नीलो', 'नीलघटावि'तिप्रतीतेरविशेषाऽऽपातात्तद्विशिष्टबुद्धावतिरिक्तसमवायभानमावश्यकमिति स एव धर्मधर्मिभावः, तथा च धर्मधर्मिणोर्भेद एव युज्यते इति' । मैवं—'नीलघटसमवायाः' इति बुद्धेस्तथाप्यविशेषस्योक्तत्वाद्विवक्षाभेदेनैव तद्भेदात् ।

स्यादेतत्, "सामान्यविशेषयोरपि मिथः कथंचित्तादात्म्यान्मोदकाऽभिन्नसामान्याऽभिन्नविशेषात्मकं विषमपि मोदक एव स्यात् मोदको वा विषाभिन्नसामान्याऽभिन्नविशेषात्मा विषमेव स्यात् । तथा च प्रतिनियतप्रवृत्तिनियमोच्छेदप्रसंग इति" । मैवं—मोदकविषसाधारणैकसामान्याऽनभ्युपगमात् । एवं च मोदकविशेषा एव मोदकसामान्याऽभिन्ना इति न विषं विषतां जह्यान्न वा मोदकतामनुभवेत् । विषविशेषा एव च विषसामान्याऽभिन्ना इति न मोदका मोदकतां जह्युः विषात्मकतां वाऽनुभवेयुः । वस्तुनः समानः परिणामो हि सामान्यमसमानश्चविशेषः । न च विषमोदकयोः समानः परिणामोऽत्यंतभिन्ने तदभावात् । असमानस्तु भवत्येव तद्भिन्नमात्रानिरूप्यत्वात्तस्येति ।

नव्यानुयायिनस्तु—इष्टसाधनताज्ञानप्रवृत्त्योः समानप्रकारकत्वेनैव कार्यकारणभावान्न प्रागुक्तः प्रवृत्त्यनियमः । तेन द्रव्यत्वादिसामान्यस्य विषमोदकोभयसाधारण्येऽपि न क्षतिरित्याहुः ।

स्यादेतत्—अमृत्स्वभावेभ्यो व्यावृत्तिरेव मृत्सामान्यं, न तु समानः परिणामः इति । **मैवं**—मृदोऽमृत्स्वभावेभ्य इव मृत्स्वभावेभ्योऽपि व्यावृत्तत्वात् संकीर्णोभयसामान्यस्वभावतापत्तेः । तथा च मृद् मृदिवाऽमृदपि स्यात् अमृदिव वा मृदपि न स्यात् । **अथ** मृद्यमृत्स्वभावकुटव्यावृत्तिरिव मृत्स्वभावकूटव्यावृत्तेरभावान्नोक्तदोष **इति चेद्** ? तथापि मृत्समानपरिणाम एवामृत्स्वभावकूटव्यावृत्तिरित्येव **किं** न रोचयेः ? तथा चात्यंताऽसंकीर्णस्वभावसामान्यविशेषोभयात्मकं वस्तु स्वसंवेद्यसंवेदनसिद्धमपि कः कुधीरपह्नुवीत । संवेद्यते हि स्थासकोसकुशूलादिषु सर्वत्रानुगतो मृदन्वयः प्रतिविशेषं च पर्यायव्यावृत्तिरिति ।

अथैवं सर्वत्राऽन्वितमृदः सकाशादुर्ध्वतामृदोप्यत्यंतभिन्नत्वाभावात्तस्या अप्यन्वयापत्तिस्तथा च स्थासादिमृत्स्वपि घटादिव्यवहारापत्ति**रिति चेत्**? **न**, येन रूपेण समानता तेन रूपेणान्वयस्वीकारात् । मृत्सामान्यमेव मृदो विशेष इत्यपि न वाच्यं, तावताऽमृदोऽवृत्तावपि मिथोमृद्व्यावृत्त्यसिद्धेः । **स्यादेतत्**—वस्तुनः सामान्यविशेषोभयात्मकत्वे दर्शनं सामान्यमिव विशेषमपि गृह्णीयात्, ज्ञानं वा विशेषमिव सामान्यमपि गृह्णीयात् सामग्रीसत्त्वा**दिति चेत्**? गृह्णतः किं ग्रहणापादनं? जीवस्वाभाव्यात्तु दर्शनं विशेषान् ज्ञानं च सामान्यमुपसर्जनीकृत्य गृह्णातीति विशेषः ।

[उपसर्जनत्वनिरुक्तिः]

अथ किमिदमुपसर्जनत्वम्? न तावदनुल्लेखो, यतस्तत्प्रतियोग्युल्लेखः किं शब्दप्रयोगः, प्रवृत्तिः, अनुव्यवसायो वा स्यात्? त्रिधापि दर्शने सामान्यस्याप्युपसर्जनत्वापत्तिः । न ह्यस्पष्टदर्शनगृहीतं सामान्यं केनचित्प्रयुज्यते व्यवह्रियतेऽनुव्यवसीयते वा, ईहादीनामेव प्रवर्तकत्वात् । नाप्यप्रकारत्वं, ज्ञाने सामान्यस्यापि प्रकारत्वेनाऽनुपसर्जनत्वापातात् । नापि वैशद्यं, तथाविधवैलक्षण्याऽदर्शनेन कल्पनामात्रविषयत्वात्तस्य । **केचित्तु**—उन्मिलितस्वग्राहकनयविषयत्वं मुख्यत्वं, तद्विपरीतत्वमुपसर्जनत्वम् । **न च** विशेषग्राहकनयोन्मिलनेनाऽपि कुतो न दर्शनोदय इति **वाच्यं**, जीवस्वाभाव्यादेव व्यवस्थोपपत्तेः । न चैवं प्रमाणज्ञानेऽपि युगपदुभयनयोन्मिलनेन प्रवृत्ते दर्शनलक्षणगमनं, मुख्यतः सामान्यमात्रग्राहकत्वस्यैव तल्लक्षणत्वादित्याहुः । **तच्चिन्त्यं**, एवं सति केवलज्ञानदर्शनयोः सामान्यविशेषयोरुपसर्जनाऽनुपसर्जनत्वानुपपत्त्या तत्र ज्ञानदर्शनलक्षणाऽव्याप्तेः । न हि केवलिनां संवेदने क्रमैकतरप्रवृत्तिनियामके नयोन्मिलनानुन्मिलने संभवतः, अभिप्रायविशेषरूपस्य नयस्य छद्मस्थज्ञान एवोपयुक्तत्वात् ।

अत्राहुः—**आभिमुख्येन ग्रहणं मुख्यत्वं तद्विपरीतत्वमुपसर्जनत्वम्** । विषयप्रतिनियमस्तु स्वभावादेव, सामान्योपयुक्तो हि जीवः पश्यति, विशेषोपयुक्तस्तु संवित्त इति । यद्यप्युपलिप्सोराभोगकरणमुपयोगः इति केवलिनां तदसंभवः, तथापि चिंतानिरोधाभावेपि कर्मदहनसामान्याद्यथा तेषां निश्चलता ध्यानमित्युच्यते तथा तेषामाभोगकरणमुपलिप्सां विनाऽपि संवित्तिसामान्या-

दुपयोग इत्युच्यते इति न कोऽपि दोषः। अत एव ग्रहणपरिणामस्योपयोगपदप्रतिपाद्यताऽविशेषतस्तत्र तत्र संगच्छते।

[‘अर्थस्य शब्दाऽवाच्यत्वं’-बौद्धपक्ष-खंडनम्]

ननु तथापि वस्त्वनभिलाप्यमेवेत्येकांतः कांतः, शब्दात् स्वलक्षणप्रतिपत्त्यभावात् शब्दार्थयोर्वास्तविकसंबन्धाभावाद्विकल्पजननेनैव शब्दस्य कृतार्थत्वात्। अत एव शसविषाणपदादपि वैकल्पिकार्थप्रतीतिर्निराबाधा। न हि शशविषाणादिपदमबोधकमेव, व्युत्पन्नाऽव्युत्पन्नौ प्रति ततो बोधवैचित्र्यदर्शनात्। ‘विषाणे शशीयत्वं नास्ति’ ‘शशविषाणं नास्ती’तिप्रतीत्योर्वैलक्षण्याच्चेति **चेत्? न,** शब्दाद्विकल्पप्रतिपत्तावपि प्रवृत्तिप्रतिनियमाऽसंभवात्। **अथ** शब्दाद्विकल्पं प्रतिपद्य ततो दृश्यविकल्पा(ल्प्या)र्थावेकीकृत्य नियमतः प्रवर्त्तत इति **चेत्**? कोऽयमेकीकारः? अभेदो वा (१) सादृश्यं वा (२) मिथःसंसर्गो वा (३)? न त्रितयमपीदं विकल्पादुपजायते, भिन्नानामसदृशानां मिथोऽसंसृष्टानां चाभेदसादृश्यमिथःसंसर्गाणामुपायसहस्रेणापि कर्त्तुमशक्यत्वात्, अन्यथा जगद्व्यवस्थाविप्लवात्। दृश्यविकल्पार्थयोस्तत्प्रतीतिरपि न विकल्पाधीना, दृश्यस्य विकल्पाऽस्पर्शित्वात्। संहतसकलविकल्पावस्थायामेव तत्प्रतिभासात्।

किं चोत्पत्त्यनंतरापवर्गिणो वस्तुनः कथमेकीकरणं युज्यते? विकल्पितयोरेवैकीकार **इति चेत्?** तयोरपि कथं चिरस्थायिता? शब्दार्थयोर्वास्तविकसम्बन्धं विना च कथं शब्दश्रवणादर्थस्मरणम्? अत्र हि एकसंबन्धिज्ञानादपरसंबंधिस्मरणमिति स्थितिः, हस्तिपकज्ञानाद्धस्तिस्मरणवत्। तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामन्यः संबन्धो न वास्तविक इति तु स्वाभिमानविजृम्भितम्। संबद्धव्यवहारजनकतया संयोगादीनामपि पारमार्थिकसंबन्धत्वादन्यथा विपर्ययस्याऽपि सुवचत्वात्।

स्यादेतत्। एवं सति संकेत एव शब्दार्थयोः सम्बन्धः स्यान्न तु शक्तिः, गृहीतसंकेतादेव पदादर्थस्मरणा**दिति चेत्? न,** प्रकरणाद्यभिव्यक्तक्षयोपशमानां केषांचित्संकेतग्रहं विनापि पदादर्थप्रत्ययात्। संकेतो हि तपश्चरणदानप्रतिपक्षभावनावज्ज्ञानावरणक्षयोपशमाऽभिव्यञ्जकतयोपयुज्यते, न तु शब्दार्थसंबन्धतया। व्यवहारादपि वाच्यवाचकभाव एव शब्दार्थयोः सम्बन्धः। तदेवं शबलवस्त्वभ्युपम एव स्याद्वादिनां श्रेयानिति प्राचां पद्धतिः ॥९॥ [नवमश्लोकः संपूर्णः]

अथ अनेकांतवादप्रामाणिकतां **कापिलमतेनापि** संवादयंति **‘इच्छन्नि’ति**–

इच्छन् प्रधानं सत्त्वाद्यैर्विरुद्धैर्गुम्फितं गुणैः।
साङ्ख्यः सङ्ख्यावतां मुख्यो, नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥१०॥

सत्त्वाद्यैः=सत्त्वरजस्तमोभिः **विरुद्धैः**=प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकतया लाघवोपष्टम्भगौरवधर्मतया च विलक्षणस्वभावैः **गुणैर्गुम्फितं**=तत्साम्यावस्थात्वमापन्नं, **प्रधानमङ्गीकुर्वन् सांङ्ख्यो** यद्यनेकान्तं प्रतिक्षिपेत्तदा न सङ्ख्यावतां परीक्षा(का)णां मुख्यः, तत्प्रतिक्षेपे स्वाभिमतप्रधान-

स्यैव विलयेन स्वाधिरूढशाखाच्छेदनकौशलशालित्वात्तस्य । 'सङ्ख्यावतामि'ति निर्द्धारणे षष्ठी। यदि तु सङ्ख्यावतां मध्ये मुख्यस्तदाऽनेकान्तं न प्रतिक्षिपेदेव ॥[दशमश्लोकः सम्पूर्णः]

अथ लोकायतिकानां व्यवहारदुर्नयावलम्बिनां सकलतांत्रिकबाह्यानां किं संमत्याऽसंमत्या वा ? इति तेषामवग(ण)नामेवाऽऽविष्कुर्वन्ति 'विमति'रिति–

विमतिः सम्मतिर्वाऽपि चार्वाकस्य न मृग्यते ।
परलोकात्ममोक्षेषु यस्य मुह्यति शेमुषी ॥११॥

येषां परलोकात्ममोक्षेष्वेव मोहस्तैः सह विचारान्तरविमतिसंमती अपर्यालोचितमूलारोपणकप्रासादकल्पनसंकल्पकल्प इति भावः ।

[नास्तिकानां पूर्वपक्षः]

तेहीत्थं संगिरन्ते—न खलु निखिलेऽपि भुवनगोले भूतचतुष्टयातिरिक्तं किमप्यात्मादिवस्तु विद्यते, अनुपलब्धेः; किन्तु कायाकारपरिणतं भूतचतुष्टयमेव चैतन्यमाबिभर्ति । **न च** प्रत्येकमचेतनानां समुदायेऽपि कथं चैतन्यमिति **वाच्यं**, प्रत्येकममादकानामपि मीलितानां क्रमुकफलपत्रचूर्णादीनां मादकत्ववदुपपत्तेः । **अथ** प्रत्येकमपि तेषां मादकताशक्तिरस्त्येवाऽशक्तानां मीलितानामपि कार्याऽजनकत्वात्, न हि वालुकासहस्राद्यन्त्रनिष्पीडितादपि तैलोद्भव **इति चेत् ? न,** स्वभावेनैव व्यवस्थोपपत्तौ शक्तौ मानाऽभावात् ।

[नव्यचार्वाकस्य नवीना युक्तयः]

नव्यचार्वाकास्तु–अवच्छेदकतया ज्ञानादीकं प्रति तादात्म्येन क्लृप्तकारणताकस्य शरीरस्यैव समवायेन ज्ञानादिकं प्रति हेतुत्वकल्पनमुचितम् । **न चैवं** शरीरात्मपदयोः पर्यायतापत्तिः, इष्टत्वात् । अत एव 'पृथिवीमय' इत्यादिश्रुतिः संगच्छते । **न चैवं** परात्मन इव तत्समवेतज्ञानादीनामपि चाक्षुषस्पार्शने स्यातामिति **वाच्यं,** रूपादिषु जातिविशेषमभ्युपगम्य रूपान्यतद्वृत्त्वेन चाक्षुषं प्रति, स्पर्शान्यतद्वृत्त्वेन च स्पार्शनं प्रति प्रतिबन्धकत्वकल्पनादित्थमेव रसादीनामचाक्षुषाऽस्पार्शनत्वनिर्वाहात् । अस्तु वा ज्ञानादीनां चक्षुराद्ययोग्यत्वमेव । **न चैवं** स्वज्ञानादीनामपि प्रत्यक्षं न स्यादिति **वाच्यं,** तेषामचाक्षुषत्वेऽपि मनसा प्रत्यक्षसम्भवात् । मनःसिद्धावेव किं मानमिति **चेत् ?** अनुमानमेव । न चानुमानोपगमेऽपसिद्धांतोऽनुमितित्वस्य मानसत्वव्याप्यत्वाभ्युपगमात्प्रत्यक्षातिरिक्तप्रमाणाभ्युपगम एवापसिद्धांतशंकावकाशात् । **न च** शरीरस्यात्मत्वे मृतकलेवरेऽपि ज्ञानोत्पत्तिः स्यादिति **वाच्यं,** ज्ञानजनकविजातीयमनःसंयोगाऽपगमात् ।

[प्रत्यासत्तिलाघवोपदर्शनम्]

आत्मनः शरीराऽनतिरेके संयोगस्य पृथक्प्रत्यासत्तित्वाऽकल्पनलाघवमपि । **अथ** द्व्यणुकपरमाणुरूपाद्यप्रत्यक्षाय चक्षुःसंयुक्तमहदुद्भूतरूपवत्समवायत्वादिना प्रत्यासत्तित्वे तु त्रुटिग्रहार्थं संयोगस्य प्रत्यासत्तित्वमावश्यकमेवेति **चेत् ! न,** द्रव्यतत्समवेतप्रत्यक्षे महत्त्वस्य

समवायसामानाधिकरण्याभ्यां पृथक् कारणत्वात् । न च परमाणौ पृथिवीत्वादिप्रत्यक्षापत्तिवारणायोद्भूतरूपमहत्त्वयोः प्रत्यासत्तिमध्ये निवेशनमेवोचितमिति वाच्यं, परमाणौ पृथिवीत्वादिप्रत्यक्षस्याऽनापाद्यत्वात्, घटादौ तस्य तु जायमानत्वादेव । न च परमाणुघटितसंनिकर्षात् पृथिवीत्वादिप्रत्यक्षापत्तिः अयोग्यवृत्तिधर्माऽयोग्यसंनिकर्षाद्यभावकूटस्य सामान्यत एव प्रत्यक्षहेतुत्वात् ।

अस्तु वा स्वविशिष्टस्वविषयसमवायित्वसंबन्धेन जातिचाक्षुषं प्रति विषयतासम्बन्धेनाश्रयचाक्षुषस्य हेतुत्वं, तेन नायं दोषः । एतेन—स्वविषयसमवेतत्वसंबन्धेन जातिचाक्षुषं प्रति हेतुत्वेऽपि विनश्यदवस्थसंनिकर्षेण घटादिचाक्षुषोत्तरं परमाणौ पृथिवीत्वादिप्रत्यक्षापत्तिरित्यपास्तम् । ननु 'मम शरीरमि'त्यादिप्रतीत्यात्मनोऽतिरेकः सेत्स्यतीति चेत् ? न, उक्तलाघवबलेनेदृशप्रतीतेर्भ्रमत्वकल्पनात्, 'श्यामोऽहं गौरोऽहमि'त्यादिसामानाधिकरण्यानुभवाच्च । ननु तथापि भूतचतुष्कप्रकृतित्वेन शरीरस्य पृथिव्यादिभिन्नत्वात्पृथिव्यादिचतुष्टयमेव तत्त्वमिति प्रतिज्ञासन्यास इति चेत् ? न, स्वाश्रयसमवेतत्वसंबन्धेन गन्धाभावस्य गन्धप्रतिबन्धकत्वेन तस्य भूतचतुष्कप्रकृतित्वाऽयोगात्पार्थिवशरीरे जलादिशरीरस्यौपाधिकत्वात् ।

दिक्कालयोश्च मानाभावः, दिक्कृतकालिकविशेषणताभ्यां जन्यमूर्त्ताभ्यामेव तत्कार्यसंभवात् । संनिकृष्टविप्रकृष्टत्वाभ्यामेव पराऽपरव्यवहारोत्पत्तौ परत्वाऽपरत्वयोर्गुणत्वे मानाभावात् । आकाशोऽपि नातिरिच्यते, निमित्तपवनस्यैव शब्दसमवायिकारणत्वात् । अत एव कर्णसंयुक्तसमवायात्तद्ग्रहः, इति न समवायादेः प्रत्यासत्तित्वम् । मनोऽपि चाऽसमवेतं भूतम् । न च पृथिवीत्वादौ विनिगमकाभावादतिरेको युक्तः, पार्थिवादित्वेपि तत्तदात्माकृष्टत्वेन विशेषसंभवादिति दिग् । इत्थं च शरीराद्यतिरिक्तस्यात्मनः एवाऽसिद्धौ कस्य नाम परलोकः, कस्य वा मोक्षः! इत्याहुः ।

[चार्वाकमतचर्वणम्]

तेऽतिपापीयांसः सर्वापलापित्वात् । तत्र यत्तावदुक्तं 'भूतचतुष्टयातिरिक्तमात्मादि वस्तु नास्त्येवानुपलब्धेरि'ति—तत्र केयमनुपलब्धिः ? (१) स्वभावानुपलब्धिर्वा, (२) व्यापकानुपलब्धिर्वा (३) कार्यानुपलब्धिर्वा, (५) कारणानुपलब्धिर्वा, (५) पूर्वचरानुपलब्धिर्वा, (६) उत्तरचरानुपलब्धिर्वा (७) सहचरानुपलब्धिर्वा ?

तत्र न तावदाद्या, यतः स्वभावानुपलब्धिर्हि उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य तत्स्वभावस्यानुपलम्भो । भवति चैतादृशो मुण्डभूतले घटादेरनुपलम्भो, न तु पिशाचादेः, तस्योपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वाऽभावात् । न च सिद्ध्यसिद्धिभ्यां व्याघातः, आरोप्ये तद्रूपनिषेधात् । न चाऽदृश्यस्यापि दृश्यतयाऽरोप्य प्रतिषेधो युक्तः, आरोपयोग्यस्यैवाऽऽरोपसंभवात् । उपलम्भकारणसाकल्ये सति हि य उपलभ्यते स एव दोषवशात्क्वचित् कदाचिदारोप्यते, तादृशश्च घटादिरेव न तु पिशा-

चादिः, एकज्ञानसंसर्गिणि प्रदेशादौ घटादेः प्रागनुभूयमानत्वात्पिशाचादेः पुनरतथात्वादिति स्पष्टं **स्याद्वादरत्नाकरे** । **अथैवं** स्तंभे पिशाचस्वभावानुपलब्धिः कथं ? तत्रैकज्ञानसंसर्गितया पिशाचस्य पूर्वमननुभूतत्वेनाऽनारोप्यत्वादिति **चेत् ? न,** कथमपि तत्र (तस्याः) सहचराद्यनुपलब्ध्यैव प्रतिषेधव्यवहारात् । इत्थं चात्मनि चक्षुरादिना स्वभावानुपलब्धिर्नास्त्येवात्मनश्चक्षुराद्ययोग्यत्वात् । मनसा तूपलब्धिर्बाढमस्त्येव, 'अहं सुखीत्याद्यनुभवस्य सार्वजनीनत्वात् ।

न द्वितीयतृतीये व्यापककार्यज्ञानाद्युपलम्भादेव । कारणाद्यनुपलम्भस्तु कार्यपूर्वोत्तरनिषेधकत्वादात्मनश्चानीदृशत्वान्न बाधकः । सहचरानुपलब्धिरपि नास्ति आत्मसहचराणां चेष्टादीनां बाढमुपलम्भादेव । किं च परस्परसांकर्यस्याऽन्योन्याभावानभ्युपगमे दुःपरिहरत्वाद् भूतचतुष्टयमपि लोकायतिकानां कथंकारमुपपादनीयम् , मिथोव्याव्वृत्त्यसिद्धेः ।

वैधर्म्यमथ भेदो नो, नाऽभाव इति धीः पुनः । भेदाभेदविकल्पाभ्यां, ग्रस्तेयं धर्मधर्मिणोः ॥१॥

भेदे ह्यर्थान्तरापत्तिरभेदे त्वेकशेषिता । पक्षान्तरस्पृहाकक्षाप्रवेशे नो न चान्यथा ॥२॥

स्वतो व्यावृत्तिरेषां चेदनुवृत्तिर्न किं स्वतः । एवं चेज्जैनसिद्धान्तस्पर्शिने भवते नमः ॥३॥

एतेन शक्तिं विना स्वभावतः कार्यप्रतिनियमोऽपि **परास्तः,** प्रातिस्विकरूपेण कारणत्वस्याप्ययोगात् , तृणारणिमणिन्यायेन कारणतास्थले व्यभिचाराद्वैजात्यत्रयकल्पनात् एकशक्तिमत्त्वेन कारणताकल्पनाया लघुत्वात् , सांकर्याऽदोषत्वे वैजात्येन हेतुत्वेप्यभावकारणस्थले तदयोगात् इति अन्यत्र विस्तरः ।

[नव्यनास्तिकमतापाकरणम्]

यदपि **नव्यचार्वाकम**तानुयायिभिः न्यगादि—अवच्छेदकतयेत्यादिना तदपि **न्यायवादार्थेष्वेव** पराकृतमस्माभिः । तथाहि-शरीरं न ज्ञानाश्रयः स्तनंधयानां स्तनपानादिप्रवृत्तिजनकेष्टसाधनताज्ञानस्य स्मृतिरूपतया पर्यवस्यतो हेतुभूतस्याऽमुस्मिकानुभवस्यैहिकशरीरेऽसंभवात् । तदिदमाह 'वीतरागजन्मादर्शनादि'ति । तथात्वे चैको नित्योनुभविता स्मर्त्ता च यः, स एव भगवानात्मेति । ज्ञानमानसमपि दुरभ्युपगमं मनसोऽनुमानापलापेऽभ्युपगन्तुमशक्यत्वादन्यथा 'प्रत्यक्षमेव प्रमाणमि'ति प्रतिज्ञासन्यासात् । 'परामर्शजन्यज्ञानाभ्युपगमेऽपि तत्रानुमितित्वे मानाभावात्सर्वप्रमायाः प्रत्यक्षरूपत्वान्न प्रमाभेदाधीनः प्रमाणभेद इति न प्रतिज्ञासन्यास' **इति चेत् ? न,** 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत' एतादृशनिश्चयस्यैतदुत्तरानुमितित्वस्य जन्यतावच्छेदकत्वेन प्रमाविशेषसिद्धौ प्रमाणविशेषसिद्धेः । न चैतदुत्तरज्ञानत्वमेव तज्जन्यतावच्छेदकं, एतदव्यवहितोत्तरोत्पत्तिकत्वमेव वा संस्कारव्यावृत्तं तथा, गृहीताऽप्रामाण्यकाहार्यपरामर्शविशिष्टस्मृतिसंशयादिषु व्यभिचारवारणाय तत्तदप्रमाण्यग्रहाभावतत्तदाहार्यभेदादीनां जन्यतावच्छेदके निवेशे गौरवात् ।

न चाऽप्रामाण्यप्रकारतानिरूपितसामानाधिकरण्यविशिष्टविशेष्यतासम्बन्धेन ज्ञानाभावत्वेनाऽप्रमाण्यग्रहाभावानामाऽऽहार्यभेदस्य चानुगतस्यैव निवेशान्नायं दोष इति **वाच्यं,** न ह्यप्रामाण्य-

ग्रहाभावविशिष्टधूमपरामर्शाऽव्यवहितोत्तरोत्पत्तिकत्वं अव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेनाप्रामाण्यग्रहविशिष्टा-न्यधूमपरामर्शाऽव्यवहितोत्तरोत्पत्तिकत्वं वा तथा, यत्र धूमपरामर्शद्वितीयक्षणे धूमज्ञानाऽप्रा-माण्यावगाही आलोकपरामर्शस्तदुत्तरानुमितौ व्यभिचारात्, यत्र च पूर्वं धूमपरामर्शनिष्ठेदंत्व-धर्मितावच्छेदककाऽप्रामाण्यग्रहस्ततश्च धूमपरामर्शान्तरं तदुत्तरानुमितेश्चाऽसंग्रहात् । किंत्वव्यव-हितोत्तरत्वसंबन्धेनाऽप्रमाण्यग्रहाभावविशिष्टपरामर्शाधिकरणक्षणविशिष्टत्वं, तत्र च शुद्धाधिकरण-तानामतिप्रसञ्जकत्वेन विशिष्टाधिकरणतात्वेन निवेशे प्रागुक्तस्मृतिसंशयादिस्थलीयपरामर्शविशिष्टा-धिकरणतानां निवेशे तद्दोषानुद्धारात् । अप्रामाण्यस्याऽननुगमेनैकाभावनिवेशाऽसम्भवाच्च ।

यत्त्वप्रामाण्यज्ञानाभावस्य पृथक् कारणत्वादेतदुत्तरज्ञानत्वस्य जन्यतावच्छेदकत्वे नोक्तो दोष इति तन्न, तत्तद्व्यक्तित्वेनाऽप्रामाण्यग्रहाऽभावानां तत्तदप्रामाण्यग्रहाभावविशिष्टधूमादि-लिंगकानुमितिं प्रति हेतुत्वकल्पनापेक्षया सामानाधिकरण्यविशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिता-काऽप्रामाण्यग्रहाभावानामवच्छेदकत्वकल्पनौचित्यात् । यत्तु 'वह्निमनुमिनोमी'त्यनुव्यवसायेनाऽ-नुमितित्वसिद्धिरिति, तन्न, तत्र विधेयताविशेषस्यैव विषयत्वात् । अन्यथा 'पर्वतमनुमिनोमी' त्यपि स्यात् । 'परामर्शजन्यतायामपि स एव प्रवेश्यतामि'ति चेन्न, तदीयसम्बन्धापेक्षयाऽनु-मितित्वीयसंबन्धस्य समवायरूपस्य कार्यतावच्छेदकत्वे लाघवात् । अव्यवहितोत्तरत्वेनैवानतिप्रसंगे वह्निविधेयकत्वादेर्निवेशाऽनावश्यकत्वादिति दिग् ।

[अनुमितेर्मानसान्तर्भावाऽशक्यता]

ननु तथाप्यनुमितित्वस्य मानसत्वव्याप्यत्वमेवेति प्राक् प्रत्यपीपदाम । नचानुमितेः साक्षा-त्कारत्वे 'वह्निं न साक्षात्कारोमी'ति प्रतीतिः कथमिति वाच्यं, तत्र लौकिकविषयतया, साक्षात्काराभावादेव गुरुत्वादाविव तदुपपत्तेः । अत एव लौकिकविषयतावत्त्येव 'साक्षात्करो-मी'तिप्रतीत्युत्पत्तेः 'पीतं शंखं साक्षात्कारोमी'त्यादिप्रतीतिबलाद्दोषविशेषनियम्यामपि लौकिक-विषयतां कल्पयन्ति ग्रान्थिकाः । युक्तं चैतत् । चाक्षुषादिसामग्रीसत्त्वे मानसत्वरूपव्यापक-धर्मावच्छिन्नसामग्र्यभावादेवानुमित्यनुदयोपपत्तौ अनुमितित्वादेस्तत्प्रतिबध्यतावच्छेदकत्वाऽकल्पने लाघवात् । अथ समानविषयत्वान्तर्भावेनानुमितित्वावच्छिन्नं प्रति पृथक्प्रतिबंधकत्वकल्पनमेवा-वश्यकमिति चेत्? न, भिन्नविषयकानुमितेरपि चक्षुर्मनोयोगादिविगमोत्तरमभ्युपगमात् । 'तथाप्य-नुमित्साद्युत्तेजकभेदेन विभिन्नरूपेण प्रतिबध्यप्रतिबंधकभाव आवश्यक' इति चेत्? न, तत्तदिच्छा-नंतरोपजायमानभिन्नमानसे जातिविशेषं स्वीकृत्य तदवच्छिन्नं प्रति मानसान्यसामग्र्याः प्रति-बंधकत्वकल्पनादनुमितित्वादेर्मानसवृत्तित्वकल्पनौचित्यात् । न च तत्तदिच्छाविरहकाले तत्तदिच्छा-नन्तरोपजायमानमानसापत्तिस्तादृशमानसं प्रति तत्तदिच्छानां हेतुत्वात् । न चैवं गौरवं, फल-मुखत्वात् ।

अथ सुस्मूर्षाद्यनंतरोपजायमानभिन्नज्ञाने जातिविशेषं स्वीकृत्य तदवच्छेदेन चाक्षुषादि-सामग्र्याः प्रतिबंधकत्वेऽनुमित्यादेः परोक्षवृत्तित्वमेवास्त्विति चेत्? न, तदवच्छेदेन स्मृत्यन्यज्ञान-सामग्र्या एव प्रतिबंधकत्वात्तज्जातिविशेषस्य स्मृतित्वव्याप्यस्यैव युक्तत्वात् । तज्जातिवदन्य-ज्ञानसामग्रीत्वादिना प्रतिबंधकत्वेऽपि विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानजन्यतावच्छेदकतया सिद्धस्य प्रत्यक्षस्यैवानुमितौ युक्तत्वात् । विशेषणतावच्छेदकाभावप्रकारकत्वे सति विशेषणतावच्छेदकप्रकारक-त्वेन विशिष्टवैशिष्ट्यविषयित्वावच्छिन्नं प्रत्येव तथात्वे तत्संशयेऽप्यनुद्बुद्धसंस्काराद्विशिष्टवैशिष्ट्य-प्रत्यक्षापत्तेरिति चेत् ? अत्र केचित्, अनुमितेर्मानसत्वव्याप्यत्वे चाक्षुषादिसामग्र्यां सत्यां भिन्नविषयकानुमितिर्न स्याद्भोगान्यमानसं प्रति चाक्षुषादिसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वात् । न च चक्षुर्मनोयोगादिविगमोत्तरमेवानुमित्यभ्युपगमः, त्वङ्मनोयोगादिविगमस्य कल्पयितुमशक्यत्वादिति ।

तच्चिन्त्यमित्यपरे, अनुमितित्वस्य भोगत्वव्याप्यत्वाभ्युपगमेन तद्दोषाननुवृत्तेः । न च वह्न्यादेः कथं भोगविषयत्वं, चन्दनादिवदुपपत्तेः । अन्ये तु— तदानीं वह्निमानसस्वीकारे लिङ्गादीनामपि मानसापत्तिः । न चाचार्यमत[1] इव तत्र तद्भानमात्र इष्टापत्तिरेवमप्युच्छृंखलोपस्थि-तानां घटादीनां तत्र भानापत्तेः । न च तद्धर्मिकतत्संसर्गकतत्तद्धर्मावच्छिन्नव्याप्यवत्ताज्ञानाऽऽत्मक-विशेषसामग्रीविरहान्न तदापत्तिरिति वाच्यं, सामान्यसामग्रीवशात्तदापत्तेः । न च घटमानसत्व-स्य परामर्शादिप्रतिबध्यतावच्छेदकतया न तदापत्तिः, पटमानसत्वादेरप्युच्छृंखलोपस्थितघटादिभान-वारणाय तत्प्रतिबध्यतावच्छेदकत्वेऽनन्तप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावकल्पनापत्तेः । अथ भोगपरामर्शज-न्यभिन्नज्ञाने जातिविशेषं स्वीकृत्य तदवच्छिन्नमानसं प्रति तज्जातीयान्यज्ञानसामग्र्याः प्रतिबन्धक-त्वान्न तदानीं वह्नीतरज्ञानापत्तिरिति चेत् ? न, मानसत्वस्यैव परामर्शघटितसामग्रीप्रतिबध्य-तावच्छेदकत्वौचित्यात् । न चैवमनुमितिसामग्र्यां सत्यां भोगोऽपि कथं भवेदिति वाच्यं, भोगा-न्यज्ञानप्रतिबन्धकतावच्छेदकतया समानीतजातिविशेषवतां सुखदुःखानामुत्तेजकत्वात् । न च ता-दृशसुखदुःखकालेऽप्यनुमितिसामग्रीभूतपरामर्शादौ समवायेन तदभावादनुमित्यापत्तिः, सामाना-धिकरण्यकालिकोभयसंबन्धावच्छिन्नतदभावस्य निवेशात्-इति सिद्धान्तयन्ति ।

तत्रेदं चिन्त्यं—अनुमितिसामग्र्या मानसं प्रति प्रतिबन्धकत्वस्य तत्तदिच्छारूपोत्तेजक-भेदेन विशिष्यविश्रान्त्याऽनुमितेर्मानसत्व एव वह्न्यादिमानसं प्रत्यप्रतिबन्धकत्वकल्पनया लाघवम् । तत्तदिच्छोपजायमानभिन्ने प्रतिबध्यतावच्छेदकजातिस्वीकारस्तु परामर्शजन्यभिन्नेऽपि भजमान इति न वह्न्याद्यनुमितिसामग्रीकाले उच्छृंखलोपस्थितघटादिभानवारणाय मानसत्वस्य तत्प्रतिबध्य-तावच्छेदकत्वकल्पनौचित्येनानुमितेरप्रत्यक्षत्वाभिधानं युक्तमिति । न च तज्जात्यवच्छिन्नं प्रत्यनुग-तकारणकल्पनापत्तिः, कार्यमात्रवृत्तिजातेः कार्यतावच्छेदकत्वनियमे मानाऽभावात् । किंच विजातीय-सुखदुःखानां नोत्तेजकत्वं सुखत्वादिना सांकर्येण तद्वैजात्याऽसिद्धेः ।

---

१. उदयनाऽऽचार्यमते

प्राञ्चस्तु—उपनीतभानस्थले विशेषणज्ञानविशिष्टबुद्ध्योः कार्यकारणभावेनैवास्माकं चरितार्थता, अनुमितेर्मानसत्वव्याप्यतावादे तु पक्षादेर्मुख्यविशेष्यतयैव भानान्नानेन गतार्थता इत्यतिरिक्तकार्यकारणभावकल्पने गौरवमित्याहुः। **वस्तुतस्तु**—अनुमितेर्मानसत्वे एकवह्न्यनुमितिकृतोपि द्वितीयतदापत्तिः, प्रत्यक्षस्य सिद्ध्यप्रतिबध्यत्वात्। **न च** प्रत्यक्षान्तरस्याऽतथात्वेप्यनन्यगत्याऽनुमितिरूपप्रत्यक्षस्य सिद्धिप्रतिबध्यत्वान्नायं दोष इति **वाच्यं**, 'सुखव्याप्यज्ञानवानि'त्यादिपरामर्शजन्यायां 'सुखवानात्मे'त्याद्यनुमितौ विजातीयात्ममनःसंयोगजन्यतावच्छेदिकया सांकर्यान्मानसत्वव्याप्याऽनुमितित्वजात्यसिद्धेः। **यत्तु**—उपदर्शितानुमितौ संनिकर्षनियम्यलौकिकविषयतायाःसम्भवेन 'साक्षात्कारोमी'तिप्रतीत्यापत्तिरिति—**तन्न**, संनिकर्षजन्यसंशयसाधारण्येन लौकिकान्यविषयतायाः 'साक्षात्कारोमी'तिधीप्रतिबन्धकताऽकल्पनेन तद्दोषानवकाशात्। उपदर्शितानुमितौ लौकिकाऽलौकिकोभयविषयतायाः स्वीकारात् लौकिकविषयतावन्निश्चयत्वेनैव 'साक्षात्कारोमी'तिधीहेतुत्वम्। निश्चयत्वं च तदभावप्रकारकत्वाऽनुमितित्वोभयाभाववत्त्वे सति तत्प्रकारकज्ञानत्वमतो नाऽयं दोष इत्यपि **कश्चित्**।

आत्मनः शरीरानतिरेके संयोगस्य पृथक् प्रत्यासत्तित्वाऽकल्पनलाघवमपि वार्त्तं, अखंडाभावहेतुताया दूषितत्वादन्यादृशहेतुताकल्पने गौरवात्, महत्त्वोद्भूतरूपयोः प्रत्यासत्तिमध्ये निवेशेन त्रुटिग्रहार्थं तत्स्वीकारावश्यकत्वादित्यन्यत्र विस्तरः।

किं च—शरीरस्याऽऽत्मत्वे'अहमस्मी'तिवद् 'अहं शरीरमि'ति प्रत्यययोऽपि प्रमा स्यात्, न स्याच्च'अहमात्मवानि'तिवद् 'अहं शरीरवानि'त्यपि। दिक्कालयोरनतिरेके च न किञ्चिदनिष्टं नः। आकाशस्यैव दिक्त्वात्। उदयाचलादिसंनिहितेनैव प्राच्यादिव्यपदेशात्।

[दिक्कालयोर्निरुक्तिः]

नन्वेवमुदयाचलादिसंनिहितधर्मास्तिकायादेरपि कुतो न दिक्त्वं? 'गत्यादिहेतुत्वेन क्लृप्तात्ततः परत्वाऽपरत्वादिव्यवहारहेतुतया कल्प्यमाना दिगतिरिच्यत' इति चेत्? तर्ह्यवगाहनाहेतुत्वेन क्लृप्तादाकाशादपि सा कुतो नातिरिच्यत? **इति चेद्? अत्र ब्रूमः** अवगाहना हि न संयोगदानं उपग्रहो वाऽन्यसाधारणत्वात्, किंत्वाधारत्वपर्यायः। तथा च 'इह विहग' इत्यादौ संबन्धघटकतया सिध्यन्नाकाशः परमार्थतो दिगेवेति तत्त्वम्।

कालश्च जीवाजीवयोर्वर्त्तनापर्याय एवेति न तस्याप्याधिक्यमभिमतम्। **यत्तु**—'प्राच्यां घट' इत्यादावुदयाचलसंयोगादिरूपप्राच्यादेर्घटादिना साक्षात्संबन्धबाधात्तत्संयुक्तसंयोगादिरूपपरम्परासंबन्धघटकतयैका विभ्वेव च दिक् सिध्यति, आकाशात्मनोरतिप्रसंगेन तत्संबन्धाऽघटकत्वात्। एवं कालोऽपि तपनपरिस्पंदनियतसम्बन्धघटकत्वे चैको विभुरेव सिध्यतीति'—**तन्न**, दिशः सर्वथैकत्वे 'प्राच्यां घट' इतिवत्प्रतीच्यां घट इत्यस्याप्यापत्तेरेकस्या दिशोऽविशेषेणोदयाचलाऽस्ताचलसम्बन्धकत्वात्। **अथ** धर्मिग्राहकमानेन स्वभावतस्तत्तद्दिशि तत्तपदार्थानामेव सम्बन्ध इति नातिप्रसंग

इति चेत् ? तर्ह्याकाशस्यैव प्रतिनियतसम्बन्धघटकत्वं कुतो न कल्प्यते ? धर्मिकल्पनातो इत्यादि-न्यायात् । एतेन 'घटादिना सममुदयाचलादेर्दैशिकसम्बन्ध एवैकः कल्प्यते समवायवत्, न तु दिग्द्रव्यं, एकाकारप्रतीतौ तद्घटितानेकपरम्परासम्बन्धावगाहित्वानौचित्यादि'ति नव्यमतमप्यपास्तं, एवं सति मूर्त्तमात्रस्यैव दिक्त्वेन 'यस्यां दिशि घटस्तस्यामेव पटः' इति प्रयोगाऽनापत्तिः । तस्मात्प्राच्यादिविभागेन कथंचिद्विभिन्ना प्राच्यप्रतिच्योभयाधारत्वेन कथंचिदेका चाकाशात्मिकैव दिगिति ।

[शब्दद्रव्यत्वसिद्धिः]

इत्थं च शब्दगुणत्वेनाकाशासिद्धिरपि नास्माकं दोषाय, शब्दस्य द्रव्यत्वेनाभिमतत्वात् । तथा चार्षं–'सद्दंधकारउज्जोआ पभा छाया तहेव य'त्ति [नवतत्त्व–११] । किं च–मूर्त्तत्वादपि शब्दस्य द्रव्यत्वमुपपत्तिमत् । न च मूर्त्तत्वमेव ध्वनेरसिद्धं, प्रतिघातविधायित्वादिभ्यस्तत्सिद्धेः । तदुक्तं–'प्रतिघातविधायित्वाल्लोष्टुवन्मूर्त्तता ध्वनेः । द्वारवातानुपाताच्च धूमवच्च परिस्फुटमि'ति ॥ न च तस्य गुणत्वेऽपि प्रतिघातजनकत्वं निराबाधं, तस्य द्रव्यत्व एव तज्जन्यनोदनादिजन्यक्रिययाऽवयवविभागसंभवात् । अथ 'तद्धेतोरेवे'त्यादिन्यायात्तीव्रशब्दजनकतीव्रपवमानस्यैवाऽभिघातजनकत्वमस्त्विति चेत् ? न, अंततो विनिगमनाविरहेणाऽपि ध्वनेरभिघातजनकत्वसिद्धेः पवमानस्यानिप्सितत्वाच्च । प्रतिस्खलनमप्यस्य नाऽसिद्धं, प्रतिस्खलितस्यैव विश्रेण्यां ग्रहणात् । तथा चार्षं –'वीसेढी पुण सद्दं, सुणेइ नियमा पराघाए'त्ति तत्र शब्दान्तरोत्पत्तिकल्पने च गौरवम् ।

किं च–शब्दस्याकाशगुणत्वे सर्वस्य सर्वशब्दग्रहणापत्तिः, श्रोत्रसमवायाऽविशेषात् । तत्पुरुषीयकर्णशष्कुल्यवच्छिन्नसमवायसम्बन्धावच्छिन्नाधारतायास्तत्पुरुषीयशब्दग्रहं प्रति नानाहेतुत्वकल्पने च गौरवात्, श्रोत्रसंयोगस्यैव शब्दप्रत्यासत्तित्वमुचितम् । अत एव प्रत्यपादि परमर्षिणा 'पुट्ठं सुणेई सद्दमि'(आव.नि.५) ति । युक्तं चैतत्–समवाय समवेतसमवाययोः प्रत्यासत्तित्वाऽकल्पनलाघवात् । विषयतया मूर्त्तप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति समवायेनोद्भूतरूपस्य हेतुत्वान्न संयोगेन शब्दग्रहः संभवतीति चेत् ? न, तल्लाघवबलेनाऽपि द्रव्यचाक्षुषत्वस्यैवोद्भूतरूपकार्यतावच्छेदकत्वात् । तथा च संयोगेनाऽपि शब्दस्य द्रव्यत्वसिद्धिः । एतेन 'शब्दस्य द्रव्यत्वेऽनन्तसंयोगतत्प्रागभावप्रध्वंसादिकल्पनागौरवमि'त्यपि निरस्तं, तस्य फलमुखत्वेनाऽदोषत्वात् ।

'श्रोत्रेन्द्रियव्यवस्थापकत्वेन शब्दस्याम्बरगुणत्वसिद्धि'रित्यपि कश्चित्, सोपि न विपश्चित् । इन्द्रियान्तराऽग्राह्यग्राहकत्वमेव भिन्नेन्द्रियत्वव्याप्यं न तु गुणान्तर्भावेन, गौरवादित्युक्तत्वात्, शब्दैकत्वादिग्रहस्यापि श्रोत्राधीनत्वाच्च । एतेन श्रोत्रेन्द्रियं द्रव्याऽग्राहकं रूपस्पर्शाऽग्राहकबहि-

---

१. 'धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पना लघीयसी'ति न्यायात् । २. शब्दान्धकारोद्योताः प्रभा छाया तथैव च ॥ ३. तद्धेतुहेतोस्तद्धेतोरेवातत्त्वम्' इति न्यायात् । ४. विश्रेण्या पुनः शब्दं शृणोति नियमात्पराघाते । ५. स्पृष्टं शृणोति शब्दम्' ।

रिन्द्रियत्वाद्रसनवदि'त्यपि **निरस्तं,** अप्रयोजकत्वात् । द्रव्यग्रहप्रयोजकप्रत्यासत्तेरभिहितत्वेन तदसिद्धिरूपविपक्षबाधकतर्काऽभावात् । 'शब्दः पौद्गलिक इन्द्रियार्थत्वाद्रूपादिवत्, शब्दो नाम्बरगुणः अस्मदादिप्रत्यक्षत्वात् रूपादिवदि'ति तु **प्राञ्चः** । 'आगतोऽयं शब्द' इत्यादिप्रतीत्यापि क्रियावत्त्वाच्छब्दो द्रव्यम् । **न च** पवमानगतक्रियैव शब्दे आरोप्यत इति **वाच्यं,** एवं सति कत्वादीनामपि पवमानगतत्वापत्त्या शब्दस्य निरूपाख्यत्वापत्तेः । ततश्च शब्दोनुपवमानं परिसर्पत्येवेत्यवश्यं प्रतिपत्तव्यम् । उक्तं च–'यथा हि प्रेर्यते तूलमाकाशे मातरिश्वना । तथा शब्दोऽपि, किं वायोः प्रतीपं कोपि गच्छती'ति ॥ **ननु**–शब्दस्य द्रव्यत्वे तदेकत्वत्वादिग्रहाय श्रोत्रसंयुक्तसमवेतसमवायस्य प्रत्यासत्तित्वे **गौरवमिति चेत्** ? न, इन्द्रियसंयुक्तसमवेतसमवायस्यैव सामान्यतः प्रत्यासत्तित्वाद्रूपस्पर्शयोः पृथग्नियामकत्वेनैवाऽयोग्याऽचाक्षुषाऽस्पार्शननिर्वाहात्तदनुरोधेन विशिष्य प्रत्यासत्तित्वाऽकल्पनात् , घ्राणादौ पृथिवीत्वादेर्मानाभावेनेन्द्रियत्वस्य जातित्वात् ।

नव्यास्तु–निमित्तपवनस्यैव शब्दो गुणः । अत एव निमित्तपवननाशात्तन्नाशः, समवायिकारणनाशस्य समवेतकार्यनाशं प्रति हेतुत्वात् । कर्णसंयुक्तनिमित्तपवनसमवायाच्च तद्ग्रहः । **न च** वीणावेणुमृदंगादेरेव कुतो नायं गुण इति **वाच्यं,** तेषामननुगतत्वान्निमित्तपवनस्यैवाऽनुगतत्वेन समवायिकारणत्वौचित्यात्तेषां निमित्तकारणत्वे क्लृप्तेऽपि समवायिकारणत्वाऽकल्पनात्संबंधभेदेन कारणताभेदात् । आकाशः पुनरीश्वरः एवेत्या**हुः** । **तन्न,** पवनगुणत्वे शब्दस्य स्पर्शवत्स्पार्शनाऽऽपत्तेः । **न च** त्वाचाऽयोग्यत्वान्न तस्य स्पार्शनं, श्रवणं तु निराबाधं, गुणश्रावणत्वावच्छिन्नं प्रति शब्दत्वेन हेतुत्वादिति **वाच्यं,** अयोग्यत्वस्य प्रतिबन्धकत्वे विशिष्य विश्रामाद्गौरवात् । किं चैवमीश्वरादिगुणत्वेऽपि विनिगमनाविरहात् शब्दस्य द्रव्यत्वमेवोचितम् । न चानन्तसंयोगादिकल्पनागौरवं, तव समानाधिकरण्येन तत्कल्पना मन पुनरपृथग्भावेनेति प्रत्युत लाघवात् ।

[प्राचीनन्यायोपन्यस्तपञ्चहेतुखंडनम्]

एवं च अस्य पौद्गलिकत्वप्रतिक्षेपाय [1]स्पर्शशून्याश्रयत्वं, [2]अतिनिबिडप्रदेशप्रवेशनिर्गमयोरप्रतिघातः, [3]पूर्वं पश्चाच्चावयवानुपलब्धिः, [4]सूक्ष्ममूर्त्तान्तराऽप्रेरकत्वं, [5]गगनगुणत्वं चेति पंचहेतवो ये **जरन्नैयायिकैरुपन्यस्तास्ते हेत्वाभासा** एव । तथाहि प्रथमस्तावन्न सिद्धिसौधमध्यास्ते, भाषावर्गणादेस्तदाश्रयस्य स्पर्शवत्त्वात्, पुद्गलस्य स्पर्शवत्त्वनियमात्, अन्यथा तत्पुद्गलेषु कदापि स्पर्शाऽनुद्भवप्रसंगात् । न चैतदभिमतमनियतारंभवाद इत्यन्यत्र विस्तरः । शब्दाश्रयः स्पर्शवान् बहिरिन्द्रियार्थाधारत्वात्पृथिव्यादिवदित्यप्या**हुः** । **अत** एव स्पर्शवदनारभ्यत्वेन जन्यद्रव्यत्वाभावसाधनमप्यस्य **परास्तं,** तवापि विजातीयद्रव्यत्वेन जन्यद्रव्यजनकत्वमित्यस्या**ऽन्धकारवादे** व्यवस्थापितत्वाच्च । एवं सति शब्दो न स्पर्शशून्याश्रयः बहिरिन्द्रियग्राह्यत्वे सति सामान्यवत्त्वाद्रूपवदित्यनुमानमप्या**हुः** ।

कश्चित्तु–शब्दो न स्पर्शशून्याश्रयो बहिरिन्द्रियव्यवस्थापकत्वाद्रूपवदित्याह । **तदसत्,** बहिरिन्द्रियव्यवस्थापकत्वं हि यत्किञ्चिद्बहिरिन्द्रियवृत्तिसामान्यधर्मावच्छिन्नभेदव्याप्यबहिरिंद्रियजन्यग्रहणग्राह्यत्वम् । तथा च रूपत्वादौ व्यभिचारो, व्याप्यान्तवैयर्थ्यं, 'सामान्यवत्त्वे सती'तिविशेषणदाने च पूर्वहेत्वविशेष इति । **द्वितीयो**ऽप्यन्यतराऽसिद्धः, शब्दगुणत्ववादिना क्रियारूपयोस्तत्प्रवेशनिर्गमयोरनंगीकारात्, भित्त्यादिकमुपभिद्य प्रसर्पिणा मृगमदादिद्रव्येनाऽनैकांतिकश्च । अतिनिबिडप्रदेशे प्रसर्पणानंगीकारोप्युभयत्र समानस्तुल्ययोगक्षेमत्वात्। **तृतीयो**प्युल्कादिना सव्यभिचारः । **चतुर्थो**ऽपि धूमादिना, **पंचम**स्तु स्पष्टमेव प्रागसिद्धत्वेन प्रदर्शित इति ।

[शब्दनित्याऽनित्यत्वचिन्तनम्]

स्यादेतत्—'द्रव्यं भवन्नयं नित्यो वा स्यादनित्यो वा ?

अत्र **मीमांसकानुयायिनो**—नित्य एव शब्दो, 'यमेव पूर्वमश्रौषं स एवायं गकार' इत्यबाधितप्रत्यभिज्ञानात् शब्दोत्पादादिप्रतीतेर्वायूत्पादादिविषयकत्वादुत्पत्तेः स्वत्वगर्भत्वेऽपि खंडशस्तदारोपसंभवात् । **न च** तारमंदादिभेदेन शब्दनानात्वावश्यकत्वाद् नानाशब्देष्वप्यबाधितप्रत्यभिज्ञादर्शनात् अस्तु तस्यास्तज्जातीयाऽभेदविषयकत्वं, व्यक्त्यभेदविषयिण्यास्तु भ्रमत्वमिति **चेत् ? न,** घटादौ श्यामत्वरक्तत्वादिवदेकत्रापि शब्दे तारत्वमन्दत्वादिसम्भवात् । अस्तु वा तारत्वादिजातिः शब्दमात्रवृत्तिरेव, विजातीयपवनवशात्तु क्वचित् कदाचिदभिव्यक्तिरिति । **यत्तु**–चैत्रादेः ककारादिप्रत्यक्षे चैत्रादिकर्णावच्छिन्नविजातीयवायुसंयोगस्य हेतुतेति **मीमांसका**नामतिगौरवं, **नैयायिकानां** पुनरवच्छेदकतया चैत्रादिककारादौ विजातीयवायुसंयोगो हेतुस्तत्पुरुषीयनिखिलशब्दप्रत्यक्षे च तत्पुरुषीयकर्णावच्छिन्नसमवाय इति लाघवमिति**पदार्थमालायां** प्रत्यपादि; **तच्चिन्त्यम्,** विजातीयवायुसंयोगस्य स्वावच्छेदकश्रोत्रसंयुक्तमनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोगसम्बन्धेन निखिलशब्दश्रवणं प्रति हेतुत्वे **मीमांसका**नामेवातिलाघवात् । **किं च**–शब्दस्य जन्यत्वे वीणाकाशादीनामप्यनन्तहेतुताकल्पनीया न तु व्यंगत्वे इति । **एतेन**–'जन्यत्वपक्षे विजातीयपवनस्य कत्वं जन्यतावच्छेदकमिति लाघवं, व्यंग्यत्वपक्षे तु कप्रत्यक्षत्वं कश्रावणत्वादिकं वेति गौरवमि'ति **निरस्तं,** स्वाश्रयलौकिकश्रावणविषयतया व्यंग्यत्वपक्षेऽपि कत्वस्य तत्त्वसंभवात् । नच समवायापेक्षयोक्तसंबन्धे गौरवं, संबंधगौरवस्यादोषत्वात् । **वस्तुतो** निरुक्तसंबंधेन शब्दत्वमेव मम तज्जन्यतावच्छेदकमिति कत्वाद्यवच्छिन्नं प्रति नानाहेतुताकल्पने तवैव गौरवम् । **एतेन** तव स्वावच्छेदकेत्यादिसंबन्धेन हेतुता, मम त्ववच्छेदकतयेति लाघवमपि **अपास्तं,** तथापि चैत्रत्वाद्यंतर्भावेनानन्तकारणताकल्पनागौरवाच्च । एवं च समानविषयककाराद्यनुमितौ विजातीयपवनसंयोगघटितश्रावणसामग्र्याःप्रतिबंधकत्वकल्पनागौरवमप्यनुद्भाव्यं, चैत्रकर्णसंयोगावच्छिन्नसमवायघटितसामग्र्या एव तथात्वे प्रत्युत गौरवात् । अथ तथापि गकारादौ गुणत्वादेः ककारभेदादेश्च प्रहाय

पृथक् पृथक् विजातीयपवनसंयोगस्याऽनन्तहेतुताकल्पने **गौरवमिति चेत्? तर्हि** श्रावणत्वावच्छिन्नं प्रत्येवोपदर्शितसंबन्धेन हेतुताऽस्तु। **केचित्तु** दोषाभावानां हेतुतापेक्षया विजातीयवायुसंयोगस्य पृथग् हेतुत्वमप्युचितमित्या**हुः**। श्रावणसमवाय–श्रावणविशेषणतादिना गुणत्व-ककारभेदादिग्रह इत्यप्या**हुः**।

अत्र **नैयायिकानुयायिनः**—शब्दस्य व्यंग्यत्वे श्रावणजनकतावच्छेदिका जातिः पवनसंयोग इवात्ममनोयोगे श्रोत्रमनोयोगादौ वा विनिगमनाविरहेण कल्पनीया स्यात्। **किं चैवं** घटादेरपि व्यंग्यत्वसम्भवेन सत्कार्यवादापत्त्या **सांख्यमतप्रवेशः**। 'घटसाधनतादिज्ञानेन दंडादौ प्रवृत्तेर्घटादिर्व्यंग्यत्ववादो न युक्त' **इति चेत्? तर्हि** शब्दसाधनताज्ञानेन कंठताल्वाद्यभिघातादौ प्रवृत्तेः शब्दव्यंग्यत्ववादोऽपि किं न तथेति एकं सीव्यतोऽपरप्रच्युतिः। **एवं च** शब्द उत्पन्न इत्यादिप्रतीतौ शब्दपदं शब्दाभिव्यक्तिपरमित्य**पास्तं**, 'वीणायां शब्द' इत्यादिप्रतीतेस्तथाप्युपपादयितुं शक्यत्वात्। सचायं क्षणिकः। क्षणिकत्वं च तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वमतो नाऽपसिद्धान्तः।

अत्र **शिरोमणिनयानुयायिनः**—आद्यशब्दस्य कार्यशब्देन नाशोऽन्त्यशब्दस्य कारणशब्दनाशेन, मध्यमानां पुनरुभाभ्यामपीति संप्रदायमतमयुक्तं, प्रतियोगितया नाशत्वावच्छिन्नं प्रति स्वप्रतियोगिजन्यत्वसंबन्धेन नाशत्वेनैवाऽन्यत्र क्लृप्तेन कार्यकारणभावेन सकलशब्दनाशनिर्वाहात्। तथा च शब्दस्योत्सर्गतः क्षणचतुष्टयावस्थायिविजातीयपवनसंयोगनाश्यत्वेन क्षणचतुष्टयावस्थायितैवोपपत्तिमती। न चैवं क्षणिकत्वसिद्धान्तहानिः, अपेक्षाबुद्धिसंग्रहाय तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगिवृत्तिविभाजकोपधिमत्त्वस्य तत्त्वादित्या**हुः**। **तच्चिन्त्यं,** एवं सति ज्ञानादेरपि विजातीयात्ममनोयोगनाश्यत्वापत्त्या क्षणचतुष्टयावस्थायितापत्तेः। **एतेन** 'शब्दनाशत्वावच्छिन्नं प्रति विजातीयपवनसंयोगनाशत्वेन हेतुत्वमि' त्यप्य**पास्तं**, जन्यात्मविशेषगुणनाशत्वावच्छिन्नं प्रत्यप्येवं विजातीयात्ममनःसंयोगनाशत्वेन हेतुतायाः सुवचत्वात्। **अथ**—स्वप्रतियोगिजन्यत्वकालिकोभयसम्बन्धेन स्वविशिष्टप्रतियोगिकनाशत्वावच्छिन्नं प्रत्येव नाशत्वेन हेतुता, ज्ञानादेस्तु स्वोत्तरोत्पन्नज्ञानादिना पूर्वमेव नाशान्न विजातीयात्ममनःसंयोगनाशनाश्यत्व**मिति चेत्?** तर्हि प्रथमशब्दादेरपि प्रदेशान्तरे स्वोत्तरोत्पन्नद्वितीयादिशब्देन पूर्वमेव नाशान्न निमित्तपवनसंयोगनाशनाश्यत्वमिति समानम्। **अन्त्य**शब्दनाशार्थं विजातीयपवनसंयोगनाश्यत्वेन हेतुताऽस्त्विति **चेत्? न,** विजातीयशब्दनाशं प्रति प्रागुक्तसंबन्धेन शब्दनाशत्वेन हेतुताया एवोचितत्वात्। अन्यथा सुषुप्तिप्राक्कालीनज्ञाननाशार्थं मनःसंयोगनाशस्यापि ज्ञानादिनाशकत्वकल्पनापत्तेरिति **साम्प्रदायिकाः**।

स्यादेतत्। योग्यविभुविशेषगुणनाशं प्रति स्वोत्तरोत्पन्नयोग्यविशेषगुणत्वेन हेतुत्वं न युक्तमिति **चेत्? अत्र वदन्ति**—प्रतियोगितया योग्यविभुविशेषगुणनाशत्वावच्छिन्नं प्रत्येकाधि-

करण्यावच्छिन्नस्वाव्यवहितपूर्ववृत्तित्वसम्बन्धेन योग्यविशेषगुणत्वत्त्वेन हेतुत्वम् । रोग–गंगास्नानादिनाश्यसंस्कारे नाशे व्यभिचारवारणाय कार्यतावच्छेदके 'योग्ये'ति वेगावृत्तियोग्यजातिमदर्थकं, तेन न निर्विकल्पकजीवनयोनियत्नाऽसंग्रहः । द्वितीयक्षणोत्पन्नाऽदृष्टसंयोगादिनाऽपेक्षाबुद्धेस्तृतीयक्षणे नाशवारणाय कारणतावच्छेदके 'योग्ये'ति 'विशेषे'ति च योग्यजातिमदर्थकं उभयाऽवृत्त्यर्थकं च । **यत्तु**– योग्यपदमतीन्द्रियजातिशून्यार्थकमिति, **तन्न**, गौरवात् । अपेक्षाबुद्धिनाशे तु द्वित्वनिर्विकल्पकत्वेन पृथक्कारणतेति न तस्यास्तृतीयक्षणे नाशः । अत्र स्वपूर्ववृत्तित्वं स्वाधिकरणक्षणाऽव्यवहितपूर्वक्षणवृत्तित्वमिति चरमज्ञानशब्दादिनाशे न व्यभिचारो, अनेन सम्बन्धेन स्वस्यैव तत्र नाशकत्वात् । **एतेन** 'पूर्ववृत्तित्वं स्वप्रागभावाधिकरणक्षणवृत्तित्वं, अन्यथा स्वनाशकत्वापत्तेरिति **निरस्तं**, चरमज्ञानादाविवाऽन्यत्रापि ज्ञानान्तरस्यैव स्वस्य नियमबलायातनाशकत्वस्य प्रामाणिकत्वात् । युक्तं चैतत् , अन्यथा चरमज्ञानादौ नाशकान्तरकल्पनागौरवादिति ध्येयम् । इदं तु ध्येयं—यदेकाधिकरणवृत्तित्वस्वपूर्वकालीनत्वोभयसम्बन्धो नाशकताऽवच्छेदकोऽन्यथा देशकालयोरवच्छेद्यावच्छेदकभावे विनिगमनाविरहादिति **दिग्** ।

[स्याद्वादमते शब्दस्य नित्याऽनित्यत्वम्]

स्याद्वादिनस्तु—नित्यानित्यः शब्दः, केवलनित्यत्वे प्रकृतिप्रत्ययादिविभागेनाऽनुशासनादिना साधनानुपपत्तेः, केवलाऽनित्यत्वेऽपि क्षणिके तत्र प्रकृतिप्रत्ययादिनोपस्काराधानाऽसंभवात् । अत एवोक्तं स्तुतिकृतैव **'सिद्धिः स्याद्वादात्'** [सि० हे० अ०१–पा०-१ सू० २] इति । इदं तु ध्येयं—घटत्वादिना घटादिरिव शब्दत्वेन शब्दोऽनित्य एव, द्रव्यत्वेन तु नित्य इति । अत एव कादाचित्कत्वलक्षणपर्यायलक्षणेनोत्खातत्वात् शब्दः पर्याय इत्यप्यविरुद्धम् ।

मनसोऽपि चानतिरेके न किंचिदनिष्टं नः, पृथिव्यादेः पुद्गलत्वेनैकधैव विभजनात् । 'एवं सति पृथिवीजलयोर्भेदो न स्यात्' इति **चेत्** ? घटपटयोरिव किं न स्यात् ? द्रव्यतोऽयं न स्यादिति **चेत्** ? स्यादभिमतमेवेदं युक्तिसिद्धत्वात् । तथाहि–'पृथिवीतरेभ्यो भिद्यते गंधवत्त्वादि'-त्यत्र सर्वदा गन्धवत्त्वं भागाऽसिद्धं, कदाचिद्गन्धवत्त्वं तु जलादौ व्यभिचारीति । **न च** जलादेर्न गन्धारम्भकत्वं, पृथिवीत्वेनैव तद्धेतुत्वादिति **वाच्यं**, गन्धवत्तैव कदाचिददृष्टविशेषादिसहकारेणोद्भूतगन्धारम्भात् ।

इत्थं च द्रव्याणि धर्माधर्माकाशजीवसमयपुद्गला इति विभागवाक्ये न **कश्चिद्** दोषः । अत्र यद्यप्युद्देश्यविधेयभावस्थले विधेयतावच्छेदकरूपेण 'धूमवान् वह्निमानि'त्यादौ विधेयस्य व्यापकत्वलाभो दृष्टः, तथाप्यत्र धर्मत्वादिना तदसम्भवाद्विधेयतासमव्याप्तरूपेण व्यापकत्वं संसर्गतया लभ्यत इति धर्मोद्यन्यतमत्वादिना व्यापकत्वलाभ इत्येके । **तदसत्**, 'द्रव्यगुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तावदित्यत्र द्रव्यान्यत्वविशिष्टसत्तात्वेन व्यापकतालाभप्रसंगात् , विधेयतावच्छेदकावच्छिन्नसम-

व्यापकतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नव्यापकत्वस्य संसर्गत्वे बाधात्। न हि धर्माद्यन्यतमत्वं धर्मत्वाद्यवच्छिन्नसमव्यापकतावच्छेदकम्। विधेयतावत्समव्यापकतावच्छेदकरूपावच्छिन्नव्यापकत्वस्य तथात्वे तु वह्न्यादेर्द्रव्यत्वादिना व्यापकत्वलाभप्रसंगात्। **अथ** विधेयतावच्छेदकाऽतिरिक्तधर्मानवच्छिन्ना व्यापकता ग्राह्येति नातिप्रसंगो, नवा वह्निभिन्नभेदादिना व्यापकत्वलाभप्रसंगो, गुरोरनवच्छेदकत्वादिति **चेत्?** न, एवं सति प्रकृते बाधात्। तत्र समव्यापकताया द्रव्यत्वाद्यतिरिक्तावच्छिन्नत्वात्। 'सत् द्रव्यं संयोगी'त्यादौ संयोगादेर्द्रव्यत्वादिना व्यापकत्वलाभप्रसंगाच्च। **एतेन** "विधेयतावच्छिन्नसमव्यापकताग्रहे नाऽतिप्रसंगो, लघुवह्नित्वादेरेवावच्छेदकत्वेऽपि विधेयतायां पारिभाषिकावच्छेदकत्वाऽनपायात्, न चैवं गौरवं, समव्यापकतावच्छेदकत्वेनोपलक्षणीभूतेनैव तत्तद्धर्मानुगमादि" त्यप्य**पास्तं,** तादृशधर्मे विधेयतासमानाधिकरणत्वविशेषणेऽपि संयोगादेर्गुणत्वाद्यवच्छिन्नव्यापकतालाभप्रसङ्गात्। विधेयताऽभाववदवृत्तितादृशधर्मोपादानेऽपि संयोगरूपयोरन्यतरत्वेन विधेयत्वे संयोगत्वेन व्यापकत्वलाभप्रसंगाच्च। "सर्वत्र विभागवाक्ये चरमपदे तावदन्यतमत्वेन लक्षणा स्वीकार्या, धर्मादिपदानां तु तात्पर्यग्राहकत्वान्न वैयर्थ्यम्"—इत्यपि **न युक्तं** प्रथमादिपदेष्वपि तत्स्वीकारसंभवेन विनिगमनाविरहात्। तस्मात् 'चित्रगु'रित्यादाविव सर्वेषामेव लक्षकत्वमित्य**परे!** "अन्यतमत्व एव लक्षणा, धर्मादीनां तु तदेकदेशे भेदे प्रतियोगितयाऽन्वय" **इत्यन्ये।**

वस्तुतो 'भेद एवास्तु लक्षणा, लाघवात्। तस्य च धर्मादिभिः समं स्वयं च त्रिधाऽन्वयो व्युत्पत्तिवैचित्र्यादि'ति **न्याय्यः पन्थाः। सांप्रदायिकास्तु**—विशेषविधिनिषेधयोः शेषनिषेधाऽभ्यनुज्ञाफलकत्वान्न्यूनाधिकसंख्याव्यवच्छेदकत्वमत्र व्युत्पत्तिसिद्धमित्य**ाहुः।** अत्र व्युत्पत्तिः सद्व्युत्पन्नीयबोधहेतुत्वग्रहः, तत्त्वं च पदार्थे धर्माद्यन्यतमभिन्ना तादात्म्यतद्वृत्तिभेदाऽप्रतियोगित्वोभयसंसर्गकशाब्दबोधं प्रत्युक्तानुपूर्वीज्ञानत्वेन, तेन विपरीतव्युत्पन्नस्याऽन्यथाबोधेऽपि **न क्षतिः।** अन्यत्र तु 'ब्राह्मणेभ्यो दधि दातव्यं, कौंडिन्याय न दातव्यं' 'ब्राह्मणेभ्यो दधि न दातव्यं, कौंडिन्याय दातव्यमि'त्यादौ करणाकरणविकल्पप्रसक्त्या सामान्यपदस्य विशेषपरत्वं युक्तं, सामान्यरूपेणैव वा विशेषबोधः। **नव्यास्त्वितरबाधादिसहकारेण** व्यापकतानवच्छेदकरूपेणानुमितिरिवात्र पदानुपस्थितेनाऽपि विशेषरूपेण शाब्दबोध इत्याहुः। तच्चिन्त्यम्, अधिकोऽन्यत्र विस्तरः।

[सिद्धस्यात्मनो विशेषस्वरूपचिन्ता]

तदेवं षण्णां द्रव्याणां तद्गुणपर्यायाणां च विवेक्तास्ति शरीराद्यतिरिक्तः कश्चिदात्मा स चायं **"चैतन्यस्वरूपः, परिणामी कर्त्ता, साक्षाद्भोक्ता, स्वदेहपरिणामः, प्रतिक्षेत्रं भिन्नः पौद्गलिकादृष्टवांश्च"** इति सूत्रम् [प्र०न०त०—परि०७ सू०५६]। न हि पृथग्भूतयोर्ज्ञानात्मनोः

समवायसम्बन्धः सम्बद्धः, तस्य निरस्तत्वात् । तस्यैकत्वेनाऽतिप्रसंजकत्वात्, स्वभावाऽपेक्षिणा तेनाऽतिप्रसंगभंगे स्वभावस्यैव तत्त्वौचित्यात् । **किं च**—परस्यापि "ज्ञानमय" इत्यादिश्रुत्या ज्ञानरूपतैवात्मनोऽभ्युपगन्तुमुचिता । न च "चक्षुर्मयः पृथिवीमय" इत्यादिवन्मयडोऽन्यार्थकतया श्रुतिरुपपत्स्यत इति वाच्यं, भावचक्षुर्मयत्वस्य पृथिवीजीवानां पृथिवीमयत्वस्य च साक्षादविरुद्धत्वात् । किं च प्रकाशकस्य प्रकाशमयत्वमेव युक्तिमत् । 'अभेदे कर्तृकरणभावो न स्यादि'ति पुनरसारं, 'आत्माऽत्मानं जानाती'ति बहुशःप्रयोगदर्शनात् ।

एतेन "प्रकृतिपरिणामरूपमहत्तत्त्वाऽपरनामकत्रिगुणात्मकबुद्धौ सत्त्वगुणोद्रेकरूपो वृत्त्यपरनामा घटाकारादिपरिणामो ज्ञानम्, तत्र मुकुर इव निर्मले चैतन्यप्रतिबिम्ब उपलब्धिरिति, बुद्धावेव च सुखादिगुणाष्टकमात्मा तु कूटस्थ" इति **सांख्यमतमप्यपास्तं**, 'अहं ज्ञाते'त्यादावहंत्वज्ञानयोः स्फुटमेव सामानाधिकरण्यप्रतीतेः । सा भेदेऽभेदे वेत्यन्यदेतत् । किं च बुद्धौ जडघटाकाराधानं निर्हेतुकं, घटज्ञानसामग्र्याहितविषयतारूपघटाकारस्तु न जडश्चेतनाधर्मत्वात् । अत एव चेतनाऽपि न प्रतिबिंबः किन्तु ज्ञानमेवाऽमूर्त्तप्रतिबिम्बाऽसंभवात् ।

भट्टास्तु—'मामहं न जानामी'त्यात्मनि ज्ञायमानेऽपि 'न जानामी'तिज्ञानात् ज्ञानाऽज्ञानोभयस्वभाव एवात्मा । अत एव 'मिथ्यादर्शनापकर्षक-प्रकर्षवत्त्वेन तद्विरोधितया सिद्धस्य सम्यग्दर्शनादेः प्रकृष्यमाणत्वेन सिद्धेन परमप्रकर्षेण सिद्धमिथ्यादर्शनाऽत्यंतनिवृत्त्यन्यथाऽनुपपत्त्या संसारात्यन्तनिवृत्तिसिद्धेः क्वचित्सिद्धनिवृतावात्मनि सिद्धं गुणस्वभावत्वमन्यत्राप्यात्मत्वान्यथानुपपत्त्या साध्यते । दोषस्वभावत्वं तु विरोधाद्बाध्यत' इत्यष्टसहस्र्यां[१] यत् प्रपंचितं तत्रायमनुयोगः—एवं सति सातत्येन सता ज्ञानादिनाऽनादिनिगोदजीवानां दोषस्वभावत्वस्य सिद्धत्वादन्यत्राप्यात्मत्वान्यथाऽनुपपत्त्या तथात्वं कुतो न सिद्ध्येत् ? गुणः साक्षाद्दोषः पुनरात्मन्युपचारादिति विशेषेऽपि वैपरीत्यस्य सुवचत्वात् । दोषस्वभावत्वे निर्दोषत्वं कदापि न स्यादिति चेत् ? गुणस्वभावत्वे निर्गुणत्वं कदापि न स्यादित्यपि किं न स्यात् ? दोषाविर्भावकालेऽपि तिरोहितगुणसत्त्वात् स्यादभिमतमेवेदमिति चेत् ? तदितरत्रापि समानम् । तिरोहितोऽपि दोषो गुणविरोधीति चेत् ? तिरोहितो गुणोऽपि किं न दोषविरोधी ? **अथ**—स्फटिकश्वैत्यादिगुणस्य तिरोहितस्यापि तापिच्छश्यामिकादिदोषाऽविरोधित्वं दृष्टमिति **चेत् ? न,** आत्मन्यज्ञानादिदोषस्यौपाधिकस्याऽनभ्युपगमाद्बोधांशद्रव्यांशयोरेव प्रकाशाऽप्रकाशरूपत्वात् । न चैकत्र ज्ञानाज्ञानयोर्विरोधो, भेदाभेदवदविरोधात् । अत एव 'सुखमहमस्वाप्सं न किंचिदवेदिषमि'ति सुषुप्त्युत्तरकालीनोऽपि बोधः संगच्छत इत्याहुः ।

[ज्ञानाऽज्ञानोभयस्वभाववादिभट्टमतनिराकरणम्]

अत्रोच्यते—न तावदेकत्रात्मनि बोधांशद्रव्यांशौ भिन्नावन्यथात्मद्वयापत्तेः । **नचात्रांशो**ऽवयवः सम्भवति, निरवयवत्वादात्मनः । नवा प्रदेशः, सर्वस्यैव बोधांशत्वात् सर्वस्यैव द्रव्यांशत्वाच्च।

१—विशेषार्थजिज्ञासुभिर्बंशीधरपंडितसम्पादिताष्टसहस्री(५५)तमपृष्ठमवलोक्यम् ।

तथा च सर्वावच्छेदेन प्रकाशाऽप्रकाशोभयापत्तिः, विरुद्धं चैतत्, एकावच्छेदेन भावाभावोभयाऽसमावेशात्। **स्याद्**भिमतमेतत् आत्मत्वावच्छेदेन प्रकाशो, द्रव्यत्वावच्छेदेन चाऽप्रकाश इति–**मैवं**, एवं सति सर्वज्ञोऽपि 'मामहं न जानामी'ति जानीयात्। ततो य एवं जानाति तत्र ज्ञानपदं चाक्षुषादिपरम्। किंच 'मामहं जानामि–सुखवन्तं दुःखवन्तं चे'ति विपरीतप्रत्ययोऽपि दृश्यते। तथा च ज्ञानवत्त्वज्ञानस्याऽवच्छेदकाऽनन्तर्भावेन ज्ञानाभाववत्त्वज्ञानप्रतिबंधकत्वं युक्तिमत्। किं च तदनवच्छेदकस्य तदभावावच्छेदकत्वे घटकारणतानवच्छेदकस्य द्रव्यत्वस्य घटकारणत्वाभावावच्छेदकत्वापत्तिः। अन्यथा घटादावपि द्वैरुप्याऽऽपत्तिरिति **दिग्**।

तदेवं **योगसांख्यभट्ट**मत निरासाय **'चैतन्यस्वरूप'** इत्यसूत्रयन्। 'परिणामी कर्ता साक्षाद्भोक्ते'ति सांख्यमतप्रतिक्षेपाय। **तथाहि**–ते खल्विदमाचक्षते–"जीवो हि न क्वचिदपि परिणमतेऽप्रकृतिविकृतित्वात्। अत एव तस्य कूटस्थत्वं श्रुतिसिद्धम्। न च नित्यत्वमेव तत्, सत्कार्यवादे सर्वस्य नित्यत्वात्, किन्तु जन्यधर्माऽनाश्रयत्वम्। **एतेन** रूपान्तरभावः परिणामस्तदभावश्चात्मनि योगाद्यभिमत **एवेत्यपास्तं**, अपरिणामिन एव मृत्पिंडादेर्घटाद्युपादानत्वदर्शनात्। जन्यधर्माश्रयत्वे प्रसह्य परिणामित्वस्यैव प्रसक्तेः। न चैवं तस्य बन्धमोक्षाद्यनापत्तिः, इष्टत्वात्। तदुक्तं—तस्मान्न बध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति कश्चित्। संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिरिति ॥" [सां.का.६२]तथा नासौ कर्त्ता, न वा ततो वस्तुतो भोक्ताऽकृतभोगे कृतनाशाऽकृताभ्यागमप्रसङ्गात्। बुद्धिगतभोगयोगात्पुनर्भोक्तेत्युपचर्यते।"–

तदेतत्सर्वमालजालं––साक्षाज्जीवगतत्वेन प्रतीयमानानां प्रकृतिगतत्वकल्पनाऽयोगात्। प्रकृतेरेव बुद्धिपरिणामित्वे मुक्तायामपि तत्प्रसंगात्। जीवसहकृतप्रकृतेस्तथात्वे प्रकृतिसहकृतजीवस्यापि तथात्वं किं नाभ्युपैषि ? अपि च प्रकृतिजीवयोर्न तादात्म्यसम्बन्धोऽनभ्युपगमात्, किन्तु संयोग एव। स च जन्य एवाऽजन्यभावस्य नाशाऽयोगात्। तथा च जन्यधर्माऽनाश्रयत्वसिद्धान्तोऽपि न ते हिताय। अपि च प्रकृतिपुरुषसंबन्ध एव बन्धः, स च जीव एवेति किं न तत्र मोक्षोऽपि ? तथा च कर्तृत्वभोक्तृत्वे अपि तस्याऽव्याहते एवेति न किंचिदेतत्।

[आत्मनः स्वदेहपरिमाणत्वसाधनम्]

'स्वदेहपरिणाम' इति नैयायिकाद्यभिततविभुत्वविधूननाय।
भाषितेऽत्र भगवन्मतस्पृशां, कर्णकोटरकुटुम्बनि स्फुटं।
आः किमेतदिति भूरिसंभ्रमादाह गौतमिकुटुम्बमुच्चकैः ॥१॥

आत्मा विभुर्भवति निःक्रियताख्यहेतोः, व्योमेव मूर्तिमति सक्रियता हि सिद्धा। नाऽसिद्धिगन्धमनिबन्धनमेति तस्मादस्माकमेष नियमः खलु तर्कसिद्धः ॥२॥ अत्रोत्तरं–परिमाणमवच्छिन्नमुत रूपादियोगिता। मूर्त्तिराद्यात्मनि स्पष्टा, द्वितीया व्याप्तिभंगभूः ॥३॥ किंच–**अहं पश्यीह**

गच्छामि, संवित्तिरिति यौक्तिकी । क्रियामेवाह जीवीस्य हेतुस्ते केतुवीक्षितः ॥४॥ ननु यदि न विभुर्वेश्चेतनस्तद्गुणस्तत्, कथमहहसमग्रव्यापृतिव्यग्रमूर्त्तिः । नहि सपदि विहाय स्वाश्रयं कोपि जाग्रद्भुवनभवनभूयः संभ्रमी बम्भ्रमीति ॥५॥ सहादृष्टस्य कार्येण, योगः स्वाश्रययोगिता । जन्यसत्त्वेन जन्यत्वमतो न व्यभिचारिता ॥६॥ नाशं प्रति पृथगेव हि हेतुत्वमसंग्रहस्ततो नास्ति । विभुनापि परम्परया संयोगो युज्यते जन्तोः ॥७॥ विजृम्भितं व्याघ्रभयात्तदेतद्गर्तानिपातोपमिति प्रसूते। यज्जन्यमात्रं प्रति कालिकेन हेतुत्वमेकं प्रतिपन्नमस्य ।८॥ शंकते—कालिकेन घटत्वादि जन्यत्वं किल नैकधा । अथ स्वरूपसंबन्धोऽनित्याभावत्वमेव तत् ॥९॥ अत्र प्रतिक्रिया—युक्तं तज्जन्यसत्त्वं लघुगदितमवच्छेदकं जन्यतायाः,तत्किं तत्रापि हेतुर्न भवति नियतिः कालिकेनैव वादिन् । पाशारज्जुः किलात्र प्रभवति भवतो बंधनावन्ध्यबीजं, साक्षी नाक्षीणमूर्तिर्विभुनि भवति भोः केऽपि संगोपितात्मन् ॥१०॥ [शंका-] द्रव्यप्रत्यक्षहेतुत्वान्महत्त्वं सिध्यदात्मनि । व्योम्नीव ननु विश्रान्ततारतम्यमनादिसत् ॥११॥ सादित्वे जन्यतापत्तिर्हेतुस्तत्र तु कोऽपि न । बहुत्वं वा महत्त्वं वा तद्धेतुः प्रचयश्च यत् ॥१२॥ विनाऽवयवमात्मनि त्रयमिदं किल क्लिबतः सुतोद्भवकुतूहलं कलयति प्रतिश्रूयतां । विभुत्वमभिकांक्षतां मुकुलितं पिपासावशात् जयानकरवः श्रवः श्रयतु तेन विश्वांगिनाम् ॥१३॥ **अत्रोच्यते**—परिमाणमत्र किं नाऽपकृष्यते । अपकर्ष इवोत्कर्षोऽवच्छिद्याज्जन्यतां यतः ॥१४॥ अणोरपरिमाणत्वादपकर्षस्तथेति चेत् ? व्योम्नोप्यपरिमाणत्वादुत्कर्षः किं न तादृशः ॥१५॥ विनेयत्तां समं सत्त्वं काष्ठाप्राप्ततया द्वयोः । ततो जातिविशेषेण जन्यतैवानुशील्यताम् ॥१६॥ **वस्तुतो** जन्यमेवेदं प्रचयात्प्रतिजानते । प्रदेशैर्जाग्रतो जंतोः शाश्वतैकत्वशालिभिः ॥१७॥ स्यातां संकोचविस्तारौ जीव-पुद्गलयोर्द्वयोः । नामकर्मोदयादेव नैकस्यातिप्रसंगतः ॥१८॥ स्मर्यते च अविरलगलल्लाजालावलीढमुखः शिशुः, परिणतदृढस्कंधद्वन्द्वो युवाऽपि स जायते । पतितदशनो वृद्धः प्रायः स एव कदाचन, प्रथयति किल स्वाधीनत्वं भवे क इवाङ्गभृत् ॥१९॥ **इत्थं च** तनुमानत्वे परिमाणभिदात्मनः । भेदापत्तिः **परास्तैव** स्याद्वादानतिलंघिनो ॥२०॥ विशिष्टोत्पादसंवित्तिर्विशेष्ये बाधके सति । विशेषणोपपन्ना किं विशिष्टाधिक्यवादिनाम् ॥२२॥ ननु नियामकमेव हि वैभवं, वदति कष्टमदृष्टमिहात्मनः । इतरथा प्रतिगृह्णत तं विना, कथमहो जगतो व्यवतिष्ठते ॥२२॥ तथाहि—हुतघृतमिलज्ज्वालामालाजटालमहाऽनिलो ज्वलति न तिरो नाधो नोर्ध्वं न धावति तूद्धतः ॥ चरति पवनस्तिर्यग्नाधो नवाम्बरसंचरो । न खलु नियमादृष्टाकृष्टां गतिं हि विमुञ्चति ॥२३॥ अत एव कर्मणि, संयोगो दृष्टशालिनो भणितः । ध्रुवमसमवायिकारणमात्मन इति मन्यतामेतत् ॥२४॥ श्रुणुत पूर्वमपूर्वमिहेदृशं, ननु विलक्षणमेव समीक्ष्यते । अपि ! विलक्षणतेव पणांगना, परकटाक्षविलक्षणवीक्षिणी ॥२५॥ कुलवधूरिव नायकमात्मनः सुरतरंगतरंगतरंगिणी । यदि न मुञ्चतिहेतुमियं नु तत्कथमहो न कृतिं प्रतिचेष्टते ॥२६॥ **कुलवधूरपि** नेयमहो

तव, व्यभिचचार विचारय वारय । सभिदि रूपभिदैव निबंधने, नहि रिरंसति पूर्वविवोढरि ॥२७॥ तमेष तस्मान्नियमं स्वभावविजृंभितं चारु चरीकरीति । सा हेतुता चेत्प्रकृते तथापि स्ववृत्तिरूपेण वरीवृधीति ॥२८॥ तेन चेद्भुवनमस्ति समस्तं, स्वस्वभावविहितस्थिति नूनं । तर्हि गर्हितमिदं किल सर्वं, हेतुमीलनमिति प्रतिचक्रे ॥२९॥ स्वेन संभवति हि स्वकधर्मे, नर्मकर्मणि परः क इवास्तु । स्वप्रकाशननिपुणाः खलु दीपाः, न प्रकाशमपरं मृगयन्ते ॥३०॥ मृत्पिण्डेऽप्रभवति सति चक्रं दंडश्च वस्त्रखंडश्च । प्रभवंति हि परमाणौ द्व्यणुकाविर्भाविनि तु न परे ॥३१॥ परे पुनः प्राहुरिदं वचस्विनो, न संस्क्रिया जातु विनात्मवैभवं । धृतावघातोचितवृत्तिरात्मनो न गौरवादन्यगता तु कल्प्यते ॥३२॥ अनुकुरुतेऽनभ्युपगमविधुरितवाचाटवचनविन्यासं । तदिदं गुर्जरनारीकुचयोर्निःकंचुकीकरणम् ॥३३॥ अपि चेयमहो परंपराहितसम्बन्धमपेक्ष्य लाघवात् । सकलाश्रयनाशभाग्निखिलव्रीहिगतैव युज्यते ॥३४॥ तेन न संप्रति नैकगतत्वाद्गौरवमेव विभाव्य विभाव्यं । दोषकृते व्यवहारविलोपात्कार्यमुखं हि न तत्प्रवदन्ति ॥३५॥ अथ कथमपि सर्वव्रीहिसंस्कारयोगो यदि लघु लघुभावात्कल्पते कश्चिदेकः । तदिह निजनिवासात्कर्षयंश्छागमेकं, युवरवणसमूहाभ्यागमन्यायभूमिः ॥३६॥ यतः—अनुरुणद्धि न वैभवमात्मनः, स हि भवन्ननयोः परमन्तरा । न युवतिस्तनयोर्दृढपीनयोर्लवणिमा परमन्तरपेक्षते ॥३७॥ विना विभुत्वमात्मनोऽणुभिस्तमामसंयुतैः । न चाद्यकर्मसंभवस्ततः कुतस्तनुर्ननु ॥३८॥ अत्रोत्तरं—अयस्कान्तमयस्कान्तमाकर्षति न संयुतम् । आकर्षणेन तत्प्राज्ञः संयोगव्याप्यता मता ॥३९॥ उत्क्षेपणत्वादिकजातिसंकरादाकर्षणत्वं च न जातिरीक्ष्यते । व्योमादिना संयुतिरस्ति चान्ततः संकल्पितव्याप्तिहतिर्न वा ततः ॥४०॥ [शङ्का] अथात्मनश्चेन्निजकायमानता, भवेत्तनोः खंडनभंगसंगरे । सुयोधदोर्मण्डलकुण्डलीभवद्धनुः प्रकांडोद्गतकांडताडने ॥४१॥ अंगीकारपरास्तं नोत्सहते किल तदेतदुत्थातुं । छिन्ने खलु गोधांगे नो चेच्चेष्टा कथमुदेतु ॥४२॥ तत्राऽदृष्टाऽऽकृष्टस्वान्तागमनिर्गमाभ्युपगमस्तु । अज्ञानमेव गमयति योगानां गौरवविगीतः ॥४३॥ खंडितमपि तमखंडितमखंडितज्ञानशालिनो ब्रुवते । नहि पद्मनालतन्तौ छेदाच्छेदौ न संसिद्धौ ॥४४॥ खंडनं न पृथग्भावो, बहिर्निर्गम एव तु । संकोचितप्रदेशस्य, तत्र न त्रपमानता ॥४५॥ एकसंतानगामित्वं, स्मृतं पुनरखण्डनं । तेन नानात्मतापत्तिर्न तनुद्वयगामिनः ॥४६॥ ज्ञानस्याऽव्याप्तित्वं, नैवमित्यत्र लाघवं । न वा तदनुरोधेनानन्तहेतुत्वकल्पना ॥४७॥ व्यभिचारि समुद्घाते तनुमानत्वमस्ति चेत् ? नैवं तत्रापि सूक्ष्मांगसद्भावादिति भावय ॥४८॥कश्चित्तु—भवतो विभुनस्तथात्मनो ननु नानात्वमयुक्तमीक्ष्यते । नियतं यदुपाधिगामिनी भवति व्योम्न इव व्यवस्थितिः ॥४९॥ तथाहि—चैत्रमैत्रकरणे न लभेते, पश्य जन्ममरणव्यतिहारं । कामिनीपृथुपयोधररोधोरोधिनी प्रियकराविव भिन्नौ ॥५०॥ अंगसंगमभिदेलिमभावाज्जायते स्वपरसंव्यवहारः । आपतेदनुमितिः परवृत्तिस्तत्परामृशति नापरपुंसि ॥५१॥ अव-

च्छिन्ना त्वनुमितिर्नापाद्या माद्यता त्वया । आपाद्यता हि जन्यत्वावच्छेदकपुरस्कृता ॥५२॥ बाध्रबुद्धिरपराधिनी पुनः, शश्वदेव न विशेषदर्शिनः । चैत्रवृत्तिकृतभेदतद्धियश्चैत्रतत्प्रतिहतौ हि वैभवम् ॥५३॥ एवं प्रयुञ्जतेऽस्मिन्नात्मा भवति स्वदेहपरिमाणः । तन्मात्रवृत्तिनिजगुणयोगान्नियमानुरोधेन ॥५४॥ तथा च **स्तुतिकृतः**—यत्रैव यो दृष्टगुणः स तत्र कुम्भादिवन्निःप्रतिपक्षमेतत् । तथापि देहाद्बहिरात्मतत्त्वमतत्त्ववादोपहताः पठंति [अन्य० व्यव० द्वा० का० ९] ॥५५॥ नन्वत्र मूलमीलदप्रसमप्रवृत्तिस्वच्छन्दचन्दनतरौ व्यभिचारचारः । शाखासु चारुपवनाभ्यवहारलग्नव्यासंगजंगमभुजंगमसंगभाजि ॥५६॥ आजीविका ननु तवास्ति किलेयमेव, देवाधिदेवसमयाज्ञ ! यदाग्रहोऽसौ । बोधं प्रयोगरचनावचनावतीर्णा स्याद्व्याप्यवृत्तिमिह तु प्रथमं प्रसाध्य ॥५७॥ तत्संचराध्वनि दुरध्वनि जातपातः, किं कालिकाकुपितलोचनगोचरोऽसि । सख्यं भजस्व भगवन्मतमाद्रियस्व । स्वीयं हितं रचय ते हितदेशकोऽस्मि ॥५८॥ कलयसि किमिहात्मन्यास्थितछेदखेदं, वयमपि भृशमात्मव्यापकत्वं प्रपन्ना । न हि भवति चिदात्मन्यात्तसंक्रांतिको यो नखलु न खलु तस्मिन्नस्ति किंचित्प्रमाणं ॥५९॥ अप्राप्यकारिणि चिदात्मनि सर्वगत्वं गौणं न मुख्यमिति तु प्रवदन्ति सन्तः । धत्ते मतां च भवतापि समस्तदेशसंयोगितामपि समुद्धतसर्वदर्शी ॥६०॥ अपि च—व्यवहारनयो ब्रूते, देहमानत्वमात्मनः । लोकाकाशप्रमाणत्वं, निश्चाययति निश्चयः ॥६१॥ संकोच एव विस्तारः, प्रदेशाऽपरिहाणितः । तेन नात्र नये कोऽपि दोषः स्याद्वाददेशिते ॥६२॥ जीवं प्रदेशे मनुते किलान्त्यप्रदेशवादी पुनरन्त्यमेव । यद्यत्र सत्येव हि तत्तदात्मा, सिद्धः स्वसंस्थानमयो घटो यत् ॥६३॥ सत्यंत्यदेश एव हि भवंस्तदात्मा स्मृतस्ततो जीवः । तदिदं निजाभिमानाद्गगनांगणवल्गनप्रायम् ॥६४॥ यतः—इह भावः किमुत्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वृत्तित्वमेव वा । आद्ये सा बाधिता द्रव्ये पर्याये सर्वसाक्षिणी ॥६५॥ तथाहि—संसारे संसरंतः सपदि तनुभृतो बिभ्रति स्वांगदेशान्, दीर्घज्वालाजटालज्वलनपरिचितक्षीरनीरातिदेशान् । येऽष्ट स्पष्टप्रदेशा नियतमपिहितास्तेऽपि मध्या न वंध्याः । पूर्वाकारातिचारादिति परिणमते सर्वतः सर्वतप्तः ॥६६॥ नापि कापि नियतं द्वितीयके, ज्ञप्तिरस्ति चरमांशगोचरा । वृत्तिताऽपि चरमे न तत्र वा, सर्वदेशगतया घटादिवत् ॥६७॥ अनंतयेभ्यश्च काऽन्त्यानां देशानामतिशायिता । पूर्णं वोपकारित्वमुत सिद्धांतसिद्धता ॥६८॥ आद्यः पक्षः पक्ष्मलाक्षीकटाक्षैः, स्थातुं प्रायो नो सपक्षः क्षमेत । यस्मादेतन्न्यूनतावर्जकत्वं, देशेऽन्त्ये चेत्किं नु नान्यत्र तुल्यम् ॥६९॥ अस्त्विदं ननु तथापि विवक्षा, पूर्णस्य चरमेऽन्त्यनिरुक्तेः । आः ! किमत्र न विवक्षणदंडाद्भ्रम्भ्रमीति तव चक्रकचक्रम् ॥७०॥ अन्त्यत्वमव्यवस्थितमनवस्थितवृत्तिजीवदेशानां । उपकारग्रहविमुखे तेन विशेषाग्रहः को वा ॥७१॥ अभित्तिचित्रार्पित एव भाति, द्वितीयपक्षोऽपि परीक्षकाणां । येनोपकारो हि फलोपधानं, युक्तं बहूनां न तदेककस्य ॥७२॥ तदुक्तं—'जुत्तो य तदुवयारो, देसूणे न उ

१. युक्तश्च तदुपचारो देशोने न तु प्रदेशमात्रे । यथा तन्तूने पटे पटोपचारो न तन्तौ ॥७३॥

पएसमेत्तंमि । जह तंतूणंमि पडे पडोवयारो न तंतुम्मि ॥७३॥ सर्वेषामेव तंतूनामंत्यसंयोगशालिनां । तथात्वमिति नादेयमेकदा तत्पटोदयात् ॥७४॥ तृतीयपक्षः पुनरक्षराणां, कलामपि ज्ञातवता न मान्यः । व्यवस्थितो यत्समयस्तदाशावल्लीविताने कठिनः कुठारः ॥७५॥ आगमपाठश्चायं—"एगे भंते जीवप्पएसे जोवेत्ति वत्तव्वं सिआ ? णो इणट्ठे समट्ठे । एवं दोजीवप्पएसा, तिण्णि संखेज्जा, असंखेज्जा वा जाव एगपएसूणे विअ णं जीवे णो जीवेत्ति वत्तव्वं सिआ । जह्मा कसिणे पडिपुण्णे लोगागासपएसतुल्लप्पएसे जोवेत्ति वत्तव्वं सिआ" । युक्तं चैतत् । अन्यथा—कतिपयसमुदायिश्रंसविश्रंभदम्भात्कथमिह तव राशिर्नास्ति कार्यप्रकाशी । यदि तु चरमदेशे राशिता नाशिता ते, मतिरतिगहनेनानेन दुष्टाग्रहेण ॥७६॥ तथा च स्थिमेतत्—भवन् सर्वस्वदेशेषु घटो यद्वत्तदात्मकः । भवन् सर्वस्वदेशेषु तद्वदात्मा तदात्मकः इति ॥७७॥ स्यादेतत्—सर्वेषामेव देशानां जीवत्वं यदि यौक्तिकं । एकैकस्यापि देशस्य हठादापतितं तदा ॥७८॥ न वर्त्तते यत् प्रत्येकं समुदायेऽपि नास्ति तत् । ततोऽन्यथोपपत्त्यैव पर्याप्तिरपि नोचिता ॥७९॥ किं चैवं गौणमेकत्वं, प्रसक्तं परमात्मनि । योगस्त्वेकत्वसंख्याया एकस्मिन्नेव युज्यते ॥८०॥ तद्गोलांगूललांगूलचापलव्यापभागिदं । कथंचिद्भेदपक्षस्य, प्रत्यक्षाऽऽदर्शदर्शनात् ॥८१॥

ये तु वदंति—एक एवात्मा, प्रतिशरीरं रजनिकरबिंबमिव प्रतिसरः सरस्वतीसरस्वदंतरनुबिंबतीति तन्मतनिर्दलनाय **'प्रतिक्षेत्रं भिन्नः'** इति । तत्पक्षतर्कस्त्वात्मविभुत्वनिराकरणेऽनुपदमेव भावितः । **सिद्धान्तस्तु**—एवं सति सुषुप्तिदशायां मैत्रशरीरेऽवच्छेदकतासम्बन्धेन ज्ञानोत्पत्त्यापत्तिश्चैत्रीयत्वङ्मनोयोगादिरूपायाः समवायेन ज्ञानसामग्र्या अपि तदानीं सत्त्वात् । **न च** शरीरनिष्ठपरम्परासम्बन्धेनैव त्वङ्मनोयोगस्य हेतुत्वान्नायं दोष इति **वाच्यं**, तदानीमात्ममानसोत्पत्तिवारणायात्मनिष्ठसम्बन्धेनैव हेतुत्वौचित्यात् । चाक्षुषादेश्चक्षुरादिना विषयमनोयोगाद्यभावेनैवाऽनापत्तेः ।

वस्तुतो विजातीयात्ममनोयोगस्यैवात्ममानसत्वावच्छिन्नं प्रति हेतुत्वकल्पनमुचितम् । तस्य शरीरनिष्ठसंबन्धेन हेतुत्वे तु स्फुटमेव गौरवम् । किं चैवं जन्मिनोऽपि स्वतःसिद्धस्वर्गापवर्गशंकया यमनियमादौ प्रवृत्तिर्न स्यात्, सिद्धे इच्छाविरहात् । न च तत्तच्छरीरावच्छेदेन सुखदुःखहान्यन्यतरकामनया प्रवर्त्तते कश्चिद्विपश्चित् । स्वस्मिन् सुखदुःखहान्यन्यतरमात्रस्यैव काम्यत्वात् । अथ कटंकविद्धचरणस्य चरणावच्छेदेन तत्कामनादर्शनात् स्वशरीरावच्छेदेन तत्कामनाप्यविरुद्धेति चेत् ? तर्हि विशेषदर्शिनस्तव सकलशरीरावच्छेदेनैव तत्कामनौचित्यात् प्रतिनियतप्रवृत्त्यनुपपत्तिः । अपि चादृष्टफलयोः प्रतिनियमदर्शनान्नानात्मन एव व्यवतिष्ठन्ते । तदुक्तं "नानात्मानो व्यवस्थात"[१] इति । अन्यथाऽन्यशरीरावच्छिन्नादृष्टस्यान्यशरीरावच्छिन्नफलजनकत्वे कथं नातिप्रसंगः । 'एकस्थान एव फलजननान्नायं नियम' इति चेत् ? किमैक्यमत्र

१. 'व्यवस्थातो नाना' [वैशेषिकसूत्र ३–२–२०] 'पुद्गलजीवास्त्वनेकद्रव्याणि' [त.सू. ५–५]

संताने एकजातीयत्वं वा पूर्वापरभावापन्नत्वं वा ? इयमपीदमतिप्रसक्तं, अन्यसंतानत्वेनाऽभिताना-मपि तथात्वात् तथा च भिन्नात्मवाद एव सामानाधिकरण्येनाऽदृष्टफलयोर्हेतुहेतुमद्भावो युज्यते । 'पुत्रकृतगयाश्राद्धादिजन्यादृष्टस्य परम्परासम्बन्धेन पितृनिष्ठफलजनकत्वं दृष्टमित्यत्रापि तथोपपत्स्यत' इति चेत् ? न, स्फुटगौरवेणाऽनभ्युपगमात् ।

योगादीनामपौद्गलिकादृष्टवादं समूलमुन्मूलयितुं "पौद्गलिकादृष्टवानि"ति । यथा चास्य पौद्गलिकत्वं तथोपपादितं प्रागेव ।

एवं चात्मनश्चैतन्यादिधर्मयोगभणनाद्वेदांतिनां निर्धर्मकत्ववादोऽपि परास्तः । न हि मनसो ज्ञानसुखदुःखाद्याश्रयत्वमात्मनश्चानिर्वचनीयज्ञानाद्यंतरयोग इति युक्तं, 'अहं जानामी'-त्यादिप्रतीत्या तत्र साक्षाज्ज्ञानादिमत्त्वस्यैव युक्तत्वात्, ज्ञानसुखादिभेदेनैकत्रानेकात्मतापत्तेश्च । अथ नित्यज्ञानसुखादिनामभेद एवात एव "नित्यं[1] विज्ञानमानंदं ब्रह्मे"त्यत्राऽभेदोक्तिः संगता, नित्य-ज्ञानसुखादीनां तु चिताश्रितत्वमेवेति नायं दोष इति चेत् ? न, कथंचिद्भेदाभावे 'विज्ञानमा-नन्दमि'त्यस्य 'घटो घट' इतिवन्निराकांक्षत्वापत्तेः । आनन्दविज्ञानत्वयोर्भेदे च निर्धर्मकत्वस्य दूरप्रोषितत्वात् ।

इत्थंभूतश्चायं स्वोपार्जिततथाविधकर्म्मयोगेन परलोकमुपसर्पति, ज्ञानदर्शनचारित्रप्रकर्षेण निर्मूलकाषंकषितनिःशेषदोषविसरः पुनः परमानंदं विन्दत इति । युक्तं चैतत् । ज्ञानकर्मणोः समुच्चित्य मोक्षकारणत्वात् । ननु इदमसिद्धं, योगनिरोधरूपकर्मण एव साक्षाद्धेतुत्वज्ज्ञानस्य तु पूर्वमपि सत्त्वादिति चेत् ? न, न हि समकालोत्पत्तिकत्वेन समुच्चयोऽपि तु परस्परसहकारमात्रे-णेति । अधिकं मत्कृतज्ञानकर्मसमुच्चयवादे ।

[कारणतानिर्वचनम्]

नन्वत्र किं कारणत्वमिति चेत् ? नियतान्वयव्यतिरेकव्यंग्यः परिणामविशेष इत्यवेहि ।

अन्ये[2] तु—अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववृत्तित्वं तत् । तत्रान्यथासिद्धं पंचविधम् । तत्र 'येन सहैव यस्य यं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृह्यते तत्र तदाद्यम्' । न च दंडत्वादिना दंडादेर्दंडादिना दंडसंयोगादेर्वाऽन्यथासिद्धिः, पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियोगिभिन्नत्वे सति पृथगन्वयव्यतिरेकप्रतियो-ग्यवच्छिन्नान्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वस्य विवक्षितत्वात् । नन्वत्र स्वान्वयव्यतिरेकाव्यापकत्वस्य पृथक्पदार्थत्वे सत्यन्तवैयर्थ्यं, दण्डान्वयव्यतिरेकयोर्दण्डसंयोगान्वयव्यतिरेकव्यापकत्वात् । न हि दण्डसंयोगे सति दंडव्यतिरेकेण कार्यव्यतिरेकः संभवी । न च चक्षुःकपालादिना तत्संयोग-स्यान्यथासिद्धिवारणार्थं तत् , तथापि दंडरूपादावव्याप्त्यनुद्धाराद्दंडत्वादित इव दंडरूपादितो

१—तैत्तिरियकआरण्यके । २—नैयायिकाः ।

दंडादेः पृथगन्वयाद्यभावात् । न च तज्ज्ञानं विनाऽज्ञायमानत्वस्य तदर्थत्वान्नायं दोषः, दंडरूपज्ञानं विनैव दण्डाऽन्वयव्यतिरेकयोर्ज्ञायमानत्वादिति वाच्यं, एवं सति दंडज्ञानं विनाऽज्ञायमानान्वयव्यतिरेकप्रतियोगिनो दंडसंयोगस्यान्यथासिद्धिवारणादिति चेत् ?

अत्र वदन्ति—प्रथमपृथक्पदस्य स्वान्वयघटकाघटितार्थकत्वान्नायं दोषः, दंडरूपाद्यन्वयस्य दंडाद्यन्वयघटकसम्बन्धघटितत्वात् । न चैवं स्वजन्यव्यापारसम्बन्धेन दंडस्य हेतुत्वाद् दंडसंयोगस्य तेन तथात्वं न स्यादिति वाच्यं, स्वत्वघटितजन्यताभेदेन सम्बन्धभेदात् । वस्तुतः पृथगित्यादेस्तदन्वयादिभिन्नान्वयादिमत्त्वार्थकत्वेऽपि न क्षतिः, निरुक्तरूपेण दंडरूपाद्यन्वयस्य दंडाद्यन्वयाभिन्नत्वात् । केचित्तु—'येन पृथगन्वयव्यतिरेकवत यस्य तद्रहितस्ये'ति यथाश्रुत एव वाच्यम्, साहित्यं च पूर्ववृत्तित्वग्रहे विशेष्यतया विशेष्यताऽवच्छेदकतया वेत्याहुः । नन्वत्र रूपत्वादिना दंडरूपादेः कुतोऽन्यथासिद्धिरिति चेत् ? 'पूर्ववृत्तित्वमि'त्यस्याऽन्वयव्यतिरेकित्वमित्यर्थात्, न ह्यतिप्रसक्तेन रूपत्वादिनाऽन्वयव्यतिरेकः संभवतीत्येके । तच्चिन्त्यमित्यपरे—रूपत्वादिनापि स्वाश्रयेत्यादिसम्बन्धेनान्वयव्यतिरेकसम्भवात् । किन्तु अन्यत्र क्लृप्तेत्यादिनैव तेन रूपेणान्यथासिद्धिः । निःकृष्टे तत्रैव तत्संबन्धापेक्षया लाघवकृतावश्यकत्वस्याऽप्रवेशेऽपि कारणाल्पत्वकृतलाघवस्य प्रवेशादत्र कदाचिद्दंडेन सहापि चक्रादेः पूर्ववृत्तित्वग्रहसम्भवादन्यथासिद्ध्यापत्तेर्येन सहैवेत्यत्र एवकारः । तथा च तज्ज्ञानव्यतिरेकाऽप्रयुक्तव्यतिरेकप्रतियोगिग्रहविषयपूर्ववृत्तित्वकत्वमर्थः, अतो नेश्वरज्ञानमादायाऽतिप्रसंगः । यथोक्तविवक्षायां तु नायमाऽऽदेयः ।

[द्वितीयान्यथासिद्धिनिरूपणम्]

'अन्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वे ज्ञात एव यं प्रति यस्य पूर्ववृत्तित्वं गृह्यते तत्र तद्'द्वितीयम्, यथा घटादावाकाशम् । तस्य 'शब्दो द्रव्यहेतुको गुणत्वादि'त्यनुमानात्कार्यकारणभावलक्षणानुकूलतर्कसध्रीचीनात्सिध्यतः शब्दपूर्ववृत्तित्वं गृहीत्वैव घटादिपूर्ववृत्तित्वग्रहात् । शब्दस्य घटान्वयव्यतिरेकाननुविधायित्वान्न पूर्वान्यथासिध्यन्तर्भावशंका । संयोगादौ तु द्रव्यत्वेन पूर्ववृत्तित्वग्रहसंभवान्नान्यथासिद्धिः ।

अत्रेदं चिंत्यं—शब्दपूर्ववृत्तित्वग्रहं विनापि शब्दादेराकाशस्य घटादिपूर्ववृत्तित्वग्रहः संभवी । अष्टद्रव्यान्यद्रव्यत्वादिनाप्याऽऽकाशपदशक्तिग्रहसंभवात् । कथमन्यथा तत्र शब्दसमवायिकारणताग्रहः । किं च—यागादेः स्वर्गं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृहीत्वैवाऽपूर्वं प्रति पूर्ववृत्तित्वग्रहात्तं प्रति तस्यान्यथासिद्धिवारणायाऽन्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वानुपपादकं यस्य पूर्ववृत्तित्वं गृह्यत इति वाच्यम् ।

तत्रोपपादकत्वं न तदभावव्याप्याभावप्रतियोगित्वं, अपूर्वपूर्ववृत्तित्वं विनाप्यपूर्वे स्वर्गपूर्ववृत्तित्वात् । नापि तद्व्याप्यत्वं, एवं हि शब्दविशिष्टं प्रत्याकाशस्य हेतुतापत्तेः । नाप्यन्यद् दुर्वचत्वात् । अथायमस्यार्थो 'यदन्यं प्रति पूर्ववृत्तिताघटितरूपेण यस्य यं प्रति पूर्ववृत्तिता गृह्यते

तत्र तदन्यथासिद्धमि'ति । नन्वेवं तस्याऽष्टद्रव्यान्यद्रव्यत्वादिनाऽन्यथासिद्धिः कुतः ? 'अवश्य-क्लृप्तेत्यादित' इति चेत् ? आकाशत्वेनापि तत एव सास्तु ।

[तृतीयाऽन्यथासिद्धिनिरूपणम्]

'अन्यत्र क्लृप्तनियतपूर्ववर्त्तिन एव कार्यसंभवे तत्सहभूतं' तृतीयं, यथा पाकजगन्धं प्रति रूप-प्रागभावादि, यथा वा तद्घटादौ तद्रासभादि । दंडादिना चक्रादेर्मिथोऽन्यथासिद्धिव्युदासाय 'कार्य-संभवे' इत्युक्तम् । तथा चात्र ज्ञानज्ञाप्यत्वस्य पंचम्यर्थत्वाद्दंडमात्रस्य घटोत्पत्त्यव्याप्यत्वात्तन्निरासः । नन्वत्राऽपि गन्धप्रागभावमात्रस्य न पाकजगन्धोत्पत्तिव्याप्यत्वं, तस्य रूपप्रागभावाऽविनाभूतत्वात् । एतेन 'पृथगन्वयव्यतिरेकराहित्ये सत्यन्यत्र क्लृप्तनियतपूर्ववर्त्तिताकसहभूतमि'त्यर्थोपि निरस्तः, गन्धप्रागभावस्येव रूपप्रागभावस्यापि पृथगन्वयादिमत्त्वात् । एवं च पृथगित्यादिना स्वावच्छेद-कानवच्छिन्नेत्यादिविवक्षणमपि निरस्तं, गंधत्वावच्छेदेनाप्युभयोरन्वयव्यतिरेकसम्भवात् ।

अत्राहुः—'अन्यत्र क्लृप्तेत्यस्यावश्यक्लृप्तेत्यर्थः । अवश्यक्लृप्तश्चात्र गन्धप्रागभाव एव, गन्धरूपस्य प्रतियोगिन उपस्थितत्वेन त्वरितोपस्थितिकत्वलाघवात् । नन्वत्र सहभावः स्वबहिर्भावेन वाच्यः, अन्यथा स्वेनैव स्वान्यथासिद्धयापत्तेः, तथा च कारणाल्पत्वलाघवेन व्यापकधर्मावच्छि-न्नस्य स्वस्यैव व्याप्यधर्मावच्छिन्नत्वेन कथमन्यथासिद्धिरिति चेत् ? न, 'स्वाऽबहिर्भावेनापि अव-श्यक्लृप्तनियतपूर्ववर्तितावच्छेदकावच्छिन्नसहभावनिरूपकतावच्छेदकरूपेणान्यथासिद्धिरि'त्यत्र तात्पर्ये दोषानवकाशात् । न चैवं दण्डचक्रादेर्मिथोऽन्यथासिद्धिः, चक्रत्वादिनापि नियतपूर्ववर्त्तिताया आवश्यकत्वात् । ननु तद्घटादौ तद्रासभस्यापि कुतो नावश्यकत्वमिति चेत् ? घटत्वावच्छिन्नं प्रति क्लृप्तनियतपूर्ववर्त्तिसमाजादेव तत्संभवे तत्समनियत इव तत्रावश्यकल्पनानुदयात् ।'

[चतुर्थाऽन्यथासिद्धिनिरूपणम्]

"यमादायैव यस्यान्वयव्यतिरेकौ गृह्येते तेन तदन्यथासिद्धमि"ति चतुर्थं, यथा दंडादिना दंडत्वादि । न चाद्य एवास्यान्तर्भावः, दंडादेर्दण्डत्वादितः पृथगन्वयाद्यभावात्, यमवच्छेदकीकृत्य यस्यावच्छेद्यस्यान्वयव्यतिरेकग्रहस्तेनाऽवच्छेद्येन तस्यावच्छेदकस्यान्यथासिद्धिरित्यर्थात् । न वेह प्रथ-मान्तर्भावः, तत्र दंडादिनाऽवच्छेदकेन दंडरूपादेरवच्छेद्यस्यैवान्यथासिद्धेः । ननु दंडत्वस्य दंडघ-टितत्वात्तस्यावच्छेदकत्वे दण्डस्याप्यवच्छेदकत्वाद्दण्डत्वेनैव दण्डस्य कुतो नान्यथासिद्धिरिति चेत् ? 'यं पृथगन्वयव्यतिरेकशून्यमि'त्यस्य विवक्षितत्वात् । अत एव विनिगमनाविरहस्थले नान्यथासिद्धिः ।

'स्वजन्यस्य यं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृहीत्वैव स्वस्य तत्त्वग्रहस्तत्र स्वमन्यथासिद्धं', यथा घटं प्रति कुलालेन तत्पिता । साक्षादहेतोस्तस्य कुलाले घटजनकत्वे ज्ञात एव तद्द्वारा तस्य पूर्वभाव-ग्रहात् । अथैवं स्वजन्यभ्रमिं प्रति घटजनकत्वं गृहीत्वैव तद्द्वारा दण्डे घटपूर्ववृत्तित्वग्रहाद्दण्डोऽपि तथा तत्राऽन्यथा सिध्येत, अन्यथा कुलालेन कुलालपितापि न तथा स्यात्, तुल्ययोगक्षेमत्वा-

दिति चेत् ? अन्यं प्रति पूर्ववृत्तिताघटितरूपेण द्वितीयेनैव कुलालपितुरन्यथासिद्धिः । न चैवं दढ-दण्डत्वेनापि हेतुत्वं न स्यादिति वाच्यं, इष्टत्वात् । क्वचिद्दण्डाद् घटानुत्पादस्य व्याप्यत्वव्यतिरेक-प्रयुक्तत्वादिति दीधितिकृतः ।

नन्वनन्यथासिद्धत्वमन्यथासिद्धभेदः, इति द्रव्यत्वादिनाऽन्यथासिद्धस्य कपालस्य कथं घटहेतुत्वमिति चेत् ? न, अन्यथासिद्धिनिरूपकतानवच्छेदकनियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकरूपवत्त्वे तात्पर्यात् । अनवच्छेदकत्वं चावच्छेदकत्वपर्याप्त्यनधिकरणत्वं, तेन नान्यथाऽसिद्धिनिरूपकतावच्छेदक-कपालत्वाऽभिन्नैतत्कपालत्वेनैतद्घटं प्रत्यन्यथासिद्धिः । अनुपधायकहेतुसाधारण्याया'ऽवच्छेदके'त्यादि। धूमादौ रासभादेर्हेतुत्ववारणाय 'नियतपूर्ववृत्ती'ति । धूमत्वाद्याश्रया यावन्तः प्रत्येकं तत्तदव्यव-हितप्राक्कालावच्छेदेन तत्तदधिकरणे विशेषणतया वर्त्तमानस्याभावस्य कारणतावच्छेदकतत्तत्संब-धावच्छिन्नाभावप्रतियोगितानवच्छेदकरूपवत्त्वं तदिति मुकुलितार्थः । तेन कालतो नियतपूर्ववर्त्ति-नोपि रासभादेर्व्युदासः सुघटः । नचैवं धूमं प्रति वह्न्यभावस्य हेतुतापत्तिः धूमाधिकरणे वह्नि-रूपतदभावस्य विशेषणतयाऽवृत्तेरिति वाच्यं, विशेषणतयापि तस्य तत्र वृत्तेः 'वह्न्यभावो नास्तीति प्रतीतेस्तयैव निर्वाहात् । नचैवं नीलादौ नीलाभावादेर्हेतुत्वं न स्यान्नीलप्राक्काले नीलाधिकरणे सम्बन्धान्तरेण तदभावनीलस्यापि विशेषणतयैव वृत्तेरिति वाच्यं, प्रतियोगितावच्छेदकसंबन्धस्यैव विशेषणतात्वात् । तेनैव तदभावाभावव्यवहारात् । 'घटोऽस्ती'तिप्रतीतेः 'घटाभावो नास्ती'ति प्रतीतौ विशेषणतात्वावच्छिन्नसांसर्गिकविषयतयैव विशेषात्[1]........[ग्रन्थाग्रं २७२५ धारणया ।]

अपूर्णसमाप्तम्

[सम्पादकीयम्]

सम्पादितोऽयं विक्रमाष्टादशशतकालंकार—न्यायाचार्य—जैनशासनोद्योतकश्रीमद्यशोविजय उपाध्यायविरचितो मध्यमपरिमाणोपेतः श्रीस्याद्वादरहस्याभिधग्रन्थः शतत्रयाधिकमुनिगणाधिपश्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वरपट्टविभूषक—न्यायविशारदाचार्यश्रीमद्विजयभुवनभानुसूरीणां चरण-किङ्करेण प्रशिष्येण जयादिना सुन्दरेण ।

१. इतः परं मूलादर्शपत्रं रिक्तमेव ।

मध्यमस्याद्वादरहस्ये

शुद्धिपत्रकम्

पृष्ठपंक्त्यङ्कौ	अशुद्धं	शुद्धम्
२।८	०ग्रीत्वादि०	०ग्रीवत्वादि०
२।२६	०ततत्क्ष०	०तत्तत्क्ष०
३।८	मृद्न्द्रयं	मृद्द्रव्यं
१३।२-३	०वच्छेक०	०वच्छेदक०
१६।१०	०दतिवि०	तिवि०
२१।११	०न्नित्त्यवा०	०न्नित्यत्वा०
२१।२५	०व्याधि०	०व्यधि०
२३।२२	०भावित्स्य०	भावित्वस्य०
२५।५	०न्न्याय०	०न्याय०
२७।१	नील०	नीली०
२७।६	०जनकत०	०जनकता०
३२।२०	रंभता	रंभकता
३३।२६	कस्कि	कस्मिकं
४६।२५	उत्तरार्द्धस्य	पूर्वार्द्धस्य
४८।२०	०वैशिषिका०	०वैशेषिका०
५०।७	०रूषहे०	०रूपहे०
५०।१३	०द्वयय०	०द्वय०
६०।२७	०गृहीता०	अगृहीता०
६२।८	सानसं	मानसं
६३।३०	धर्मिंगा०	धर्मिग्रा०
६४।१६	पराघाण	पराघाए
६४।२९	०वातत्वम्'	०व तत्त्वम्'
६४।३०	णोति	श्रुणोति
६६।२१	व्यंगत्वे	व्यंग्यत्वे
६७।११	०तुं शक्यत्वात्	०तुमशक्यत्वात्
६८।२८	धर्मौद्य०	धर्माद्य०
६९।२८	परिणामः	परिमाणः
७१।२४	,,	,,
७२।९	केऽपि	कोऽपि
७२।११	०हेर्तु०	०हेतु०
७२।२२	२२	२१
७२।२५	गति	गतिं

श्रीवीतरागाय नमः

न्यायविशारद——न्यायाचार्य

। वाचकपुंगवश्रीमद्यशोविजयगणिगुम्फितम् ।

(बृहत्)

स्याद्वादरहस्यम्

सकलवाचककुलकोटीरहीरमहोपाध्यायश्री ५ श्रीकल्याणविजयगणिशिष्यपण्डितकपंडित श्री ५ श्रीलाभविजयगणिशिष्यमुख्यपंडित श्री जीतविजयगणिसतीर्थ्यशेखर पंडित श्री नयविजयगणिगुरुभ्यो नमः

(मङ्गलम्)

ऐंकारस्फारमन्त्रस्मरणकरणतो याः स्फुरन्ति स्ववाचः ।
स्वच्छा एताश्चिकीर्षुः सकलसुखकरं पार्श्वनाथं प्रणम्य ॥
वाचाटानां परेषां प्रलपितरचनोन्मूलने बद्धकक्षो
वाचां श्रीहेमसूरेर्विवृतिमतिरसोल्लासभाजां तनोमि ॥१॥
श्रीविजयदेवसूरिर्विराजते देवसूरिरिव विजयी ।
उपजीवन्ति यदीयां सहस्रशो धियमिमे विबुधाः ॥२॥
श्रीविजयसिंहसूरेः सहायकमुखते समाकलयन् ।
तत्पट्टोदयतरणेः परमततिमिरं निराकर्तुम् ॥३॥

इह हि निखिलकुवादिकुतर्कसंतमसच्छन्नं जगतः शुद्धनयालोकनमुन्मिमीलयिषवः परार्थैकरसिकाः श्रीहेमसूरयो यथावस्थितार्थव्यवस्थितिपीयूषाञ्जनशलाकामेव तत्प्रतिकारमधिगम्य तदर्थमुपदेशयाथात्म्यव्यक्तिविज्ञप्तिभंग्या भगवन्तं स्तोतुमुपक्रमन्ते स्म 'सत्त्वस्ये'त्यादिना—

[वीतरागस्तोत्र—अष्टमप्रकाशः]

सत्त्वस्यैकान्तनित्यत्वे कृतनाशाऽकृतागमौ ।
स्यातामेकान्तनाशेऽपि कृतनाशाऽकृतागमौ ॥१॥

[विप्रतिपत्तिस्वरूपविचारः]

अत्र 'सत्त्वमेकान्तनित्यं न वे'ति न विप्रतिपत्तिः, स्वमते एकान्तनित्यत्वकोट्यप्रसिद्धेः, किन्तु 'नित्यत्वमनित्यवृत्ति न वाऽनित्यत्वं नित्यवृत्ति न वे'त्यादिरूपा । न चैवमपि तद्भावाऽव्ययत्वरूपं नित्यत्वं परमतेऽप्रसिद्धमिति वाच्यम्, नित्यत्वव्यवहारविषयत्वेनैव तस्योपन्यासात् । वस्तुतस्त(दभा?)द्भावाऽव्ययत्वमपि ध्वंसप्रतियोगितानवच्छेदकरूपत्ववपर्यवसन्नमेवान्यथासिद्ध्यसिद्धिभ्यां

व्याघातात्, अतो नोक्ताऽप्रसिद्धिः। न चैवं गुरुधर्म्मस्य प्रतियोगितानवच्छेदकत्वादनित्यघटादौ ध्वंसप्रतियोगितानवच्छेदक–कम्बुग्रीवादिमत्त्वसत्त्वात् सिद्धसाधनम्, अवच्छेदकत्वत्वप्रकारकावच्छेदकत्वज्ञानस्यैव गौरवज्ञानप्रतिबध्यतया सांसर्गिकप्रतियोगितावच्छेदकत्वज्ञानस्य तदप्रतिबध्यत्वात्, गुरुधर्मस्यापि प्रतियोगितावच्छेदकत्वात्। **न च** गौरवज्ञाने सति कम्बुग्रीवादिमत्त्वे दण्डकार्य्यतावच्छेदकत्वमित्यवच्छेदकत्वत्वावच्छिन्नविशेष्यताकज्ञानस्याप्यनुदयादवच्छेदकत्वत्वावच्छिन्नविषयताकज्ञानस्यैव तथात्वात्सांसर्गिकविषयतातिरिक्तविषयतानिवेशे गौरवाद् गुरुधर्मे न तथात्वमिति **वाच्यम्**; तथापि प्रकारतावच्छेदकत्वज्ञानवत्प्रतियोगितावच्छेदकत्वज्ञानस्यानुभवविरोधेन तदऽप्रतिबध्यत्वात्। **वस्तुतो**ऽत्रावच्छेदकत्वमनन्तर्भाव्य 'ध्वंसाऽप्रतियोगित्वं ध्वंसप्रतियोगित्वसमानाधिकरणं न वे'त्यादिविप्रतिपत्तौ न काप्याशङ्का।

[एकान्तनित्यवादे कृतनाशदोषारोपः]

सत्त्वस्य=पदार्थत्वेनोभयमतसम्प्रतिपन्नस्य, 'उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकस्ये'ति व्याख्यानं तु स्वमतावष्टम्भेन शोभते परमते धर्म्मितावच्छेदकाऽनिश्चयात्। **एकान्तनित्यत्वे**=नित्यत्वाऽसम्भिन्ननित्यत्वे'ऽभ्युपगम्यमान'इति शेषः। **कृतनाशो**=घटादिपर्यायाणां कुम्भकारादिकृतानां सर्वथानाशः स्यादनित्यस्य नित्यत्वविरोधात्, घटादीनामनित्यत्वे च बहुवादिनामविवादात्। परमाणूनामाकाशादीनां च सर्वथा नित्यत्वं, स्थूलपृथिव्यादिचतुष्टयस्य तु सर्वथाऽनित्यत्वमिति हि परमतनिगर्वः। एतच्च प्रत्यक्षविरुद्धं, न हि कम्बुग्रीवत्वादिनेव मृत्त्वेनापि घटो नष्ट इति कश्चित् प्रत्येति, प्रत्युत पूर्वमयमेव मृत्पिंडस्तत्कम्बुग्रीवत्वादिनासीदिति सर्वोऽपि प्रत्यभिजानीते। न चेयं विशेषणाऽभावमेव विषयीकुरुते, लुङर्थाऽतीतत्वस्यान्वयस्य धात्वर्थ एव व्युत्पत्तिसिद्धत्वात्। कम्बुग्रीवत्वावच्छिन्नध्वंसप्रतियोग्यस्तित्ववति मृत्पिंडे घटाऽभेदस्याऽबाधितप्रत्यभिज्ञानात्। 'कुण्डली दण्डेनासीदि'ति प्रतीत्या विलक्षणाभावसिद्धेरपीष्टत्वात्।

यत्तु–'यदि ह्यतीतविशेषणावच्छेदेन विद्यमानस्यैव विशेष्यस्य ध्वंसः स्यात्तदा क्षणरूपातीतविशेषणावच्छिन्नत्वेन प्रतिक्षणं घटस्य विनाशः स्यादि'त्यभिदधे **मणिकृता,–तत्तु** तादृशक्षणभङ्गस्य दोषानावहत्वात्तदीयैरैव दूषितम्। **यदपि** 'कपालादिसमवेतनाशं प्रति कपालादिनाशस्य कारणत्वात्कथं कपालादिनाशादर्वागतीतविशेषणावच्छेदेनापि घटध्वंससम्भव' इति, **तदपि तुच्छं,** उत्पन्नकपालकदम्बकरूपस्य घटनाशस्य तदानीमनभ्युपगमात्। तत्तत्क्षणावच्छिन्नघटादिनाशस्य तु तत्तत्क्षणोत्तरसमयविशिष्टमृद्द्रव्यरूपस्याऽऽगन्तुकोपाधिजन्यत्वात् कपालनाशात्पूर्वं सम्भवे बाधकाऽभावात्।

कश्चित्तु–संसर्गाविच्छिन्नकिञ्चिद्धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्याभावस्यात्यन्ताभावत्वनियमान्न प्रागुक्तप्रतीतेर्विशेषणावच्छिन्नविशेष्यध्वंसविषयत्वमिति, **तत्तुच्छं,** यदुत्पत्तौ कार्यस्यावश्यं विपत्ति-

स्तस्यैव प्रध्वंसत्वाऽभ्युपगमात् । **ननु** 'यदुत्पत्तावि'त्यत्र सप्तम्यर्थः पूर्वकालत्वं, निमित्तत्वं वाऽनुपपन्नम्, कपालपालेरुत्पत्तेः प्रागुत्तरं वा घटविपत्तेरनभ्युपगमात्तदुत्पत्तिसमय एव प्रत्युत तदभ्युपगमात् । किञ्च, विपत्तिपदार्थस्याप्यत्राऽपरिचयस्तस्य प्रध्वंसातिरिक्तस्य वक्तुमशक्यत्वात्, न चोत्पन्नस्य यस्य यदुत्पत्तौ सत्यां योग्यानुपलब्धिः स तस्य प्रध्वंस इत्यत्र तात्पर्यम्, अयोग्यध्वंसेऽतिव्याप्तेः । **एतेन** 'विपत्तिव्यवहारव्याप्योत्पत्तिकत्वमपि तल्लक्षणं' **परास्तमि**ति **चेत्?** **मैवं**, 'यदुत्पत्त्यधिकरणे उत्पन्नस्य यस्यावश्यमभावः स तस्य प्रध्वंस इत्यर्थे दोषाऽभावात् । न चैवमवश्यंपदवैयर्थ्यं पूर्वोक्तान्नेऽतिव्याप्तिवारणाय व्याप्यत्वार्थकस्य तस्य साफल्यात् ।

तत्र **ऋजुसूत्रनये** उपादेयक्षण एवोपादानप्रध्वंसः । न च द्वितीयादिक्षणेष्वेवं ध्वंसस्याभावेन घटस्य पुनरुन्मज्जनापत्तिः, ध्वंससंतानाभावस्यैव तदापादकत्वात् । अत एव प्रागभावस्यापि पूर्विलतत्तत्क्षणरूपत्वेऽपि नादिमक्षणरूपप्रागभावोपमर्दनात्मकत्वेन द्वितीयक्षणस्य प्रतियोगित्वप्रसङ्गः, प्रागभावसन्तानोपमर्देनैव प्रतियोग्यात्मलाभात् ।

व्यवहारनये तु घटोत्तरकालवर्त्तिमृदादिस्वद्रव्यं घटप्रध्वंसः । घटपूर्ववर्तिनि मृदादिस्वद्रव्येऽतिव्याप्तिवारणाय 'घटोत्तरकालवर्ती'ति । घटोत्तरकालवर्त्तिन्यपि मृदादिसन्तानान्तरे तद्वारणाय 'स्वे'ति । समनियताभावस्त्वेक एवेति भावः । **एतेन** 'कपालस्यैव घटध्वंसरूपत्वे घटप्रागभावकालेऽपि 'घटो नष्ट' इति प्रतीतिः स्यादि'ति दूषणमनवकाशं **वेदितव्यम्**, विशिष्टकपालस्य प्रागसत्त्वात् । विशिष्टाऽविशिष्टयोः कथञ्चिद्भेदस्तु सुप्रतीत एव, क्षणभङ्गाद्यापत्तेः सर्वथा भेदपक्ष एव दूषकत्वाद् । न चैवं दुःखध्वंसस्याप्यात्मरूपत्वेनाऽजन्यत्वान्मोक्षस्याऽपुरुषार्थत्वापत्तिः, **स्याद्वादि**भिरात्मनोऽपि कथञ्चिज्जन्यत्वाऽभ्युपगमात् ।

अथैवं 'भूतले कपालकदम्बकमि'तिवद्'भूतले घटध्वंस' इत्येव प्रतीतिः स्यान्न तु 'कपाले कपालमि'तिवत् 'कपाले घटध्वंस' इति **चेत्? न**, प्रतीतिबलेन घटध्वंसत्वविशिष्टाधारतावच्छेदकत्वस्य कपालत्वेऽपि स्वीकारादिति सम्प्रदायपरिष्कारः । **नन्वेवं** भावरूपत्वे ध्वंसस्य निःप्रतियोगिकतापत्तिः, न चेष्टापत्तिः, 'घटो ध्वस्त' इत्यादितो 'ध्वंसप्रतियोगी घट' इत्यबाधितानुभवात् । **एतेना**भावव्यवहार एव सप्रतियोगिको न त्वभाव इति **निरस्तम्**, अनुभवव्यवहारयोः समानप्रकारकत्वेन कार्यकारणभावात्तदननुभवे तदव्यवहारप्रसङ्गाच्चेति **चेत्?**

[प्रतियोगिताविचारः]

किमत्र प्रतियोगित्वम्? न तावत्सहानवस्थाननियमरूपं विरोधित्वम्, अव्याप्यवृत्त्यत्यन्ताभावप्रागभावादिप्रतियोगितायामव्याप्तेः । **न** चैकदेशकालावच्छेदेनेति विशेषणान्नायं दोष इति **वाच्यम्**, अन्योन्याभावप्रतियोगितायां तथाप्यव्याप्तेः । "सम्बन्धान्तरेण वह्न्यभाववति सम्बन्धान्तरेण वह्नेर्वृत्तेस्तेन सम्बन्धेन तदभाववति तेनाऽवृत्तौ वक्तव्यायां तेनाऽसम्बन्धत्वोक्तौ

नायं दोषः। 'एकदेशकालावच्छेदेने'त्यस्य च दैशिकावच्छेदकतया तदभावशून्येनानवच्छिन्नत्वे सति कालिकावच्छेदकतया तदभावशून्येनानवच्छिन्नं यत् सम्बन्धित्वमित्यर्थान्न गोत्वाऽभावाद्यवच्छेदकाऽप्रसिद्धिप्रयुक्तोऽपि दोष" इति चेत् ? न, प्रागभावादिप्रतियोगितायाः सावच्छिन्नत्वेऽपि घटप्रागभावे घटप्रागभावाभावस्य घटप्रागभावरूपतया तत्प्रतियोगिताया व्याप्तेस्तदभावत्वविशिष्टाधिकरणतोक्तावपि गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्ताभाववति तस्याऽवृत्तेस्तत्प्रतियोगितायामव्याप्तेः।

अथ—'यद्धर्मावच्छिन्नाधिकरणतात्वावच्छिन्नाभावत्वं-यद्धर्मावच्छिन्नाभावत्वविशिष्टाधिकरणतावत्यनवच्छिन्नविशेषणतया वर्तमानस्याऽभावस्य प्रतियोगितानवच्छेदकं-तद्धर्मवत्त्वं तद्धर्मावच्छिन्नाभावप्रतियोगित्वे'ति निष्कर्षः। तेन न घटस्य पटाभाववदघटाऽवृत्तितया घटाधिकरणत्वगगनोभयाभावत्वेन मेयत्वेन वा घटाधिकरणत्वाभावस्य पटाभावव्यापकत्वेन च पटाभावप्रतियोगितापत्तिः। न वा घटभेदसम्बन्धिसंबन्धित्वस्यैव लाघवेन प्रतियोगितावच्छेदकत्वादेशतयाऽनवच्छेदकानवच्छिन्नत्वे सति कालतयाऽनवच्छेदकानवच्छिन्नघटभेदसम्बन्धिसम्बन्धित्वावच्छिन्नाभावाप्रसिद्धेर्घटे घटभेदप्रतियोगिताऽनापत्तिः। न वा सत्ताभाववति समवायेन वृत्तित्वाऽप्रसिद्ध्या सत्ताभावप्रतियोगितायामव्याप्तिः, स्वसम्बद्धाधिकरणाऽवृत्तितत्कत्वविवक्षायां च सत्ताभाववत्यभावतानियामकसमवायेन वृत्तित्वाऽप्रसिद्ध्या सत्ताप्रतियोगितायां सा। प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धेनाधिकरणतोक्तेरावश्यकत्वे व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नाभावप्रतियोगितायामव्याप्तिः परमवशिष्यते, सापि प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नीयत्वविशिष्टाधिकरणत्वीयविशेषणतया स्वाधिकरणत्वाभावविवक्षया निरसनीया इति **चेत् ?**

न, तथापि पृथिवीत्वे द्रव्यत्वाभावप्रतियोगितापत्तेः। नियमपदस्य व्याप्यत्वार्थकत्वेऽपि तत्र घटत्वाभावप्रतियोगित्वापत्तेः। **एतेन** 'यादृशसम्बन्धसामान्ये यद्धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिकत्वयदभावाधिकरणानुयोगिकत्वोभयाभावस्तद्धर्मवत्त्वं तद्धर्मावच्छिन्नतत्सम्बन्धावच्छिन्नतदभावप्रतियोगित्वे'ति **दीधितिकृतां** खंडशः प्रसिद्ध्या व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नाभावादिप्रतियोगिताऽव्याप्तिनिरासाय तन्निरुक्तिरपि **प्रत्याख्याता,** अव्याप्यवृत्त्यभावादिप्रतियोगितायामव्याप्तेश्च।

अथ 'यद्धर्मावच्छिन्नाधिकरणतात्वावच्छिन्नाभावत्वं स्वविशिष्टव्यापकतावच्छेदकयद्धर्मावच्छिन्नाभावत्वविशिष्टव्यापकतावच्छेदकमि'ति विवक्षायां नोक्तदोषः। व्यापकताघटकात्यन्ताभावादिप्रतियोगिताश्च विशिष्योपादेया इति पृथिवीत्वाधिकरणत्वाभावस्य विशिष्टपृथिवीत्वाभावत्वविशिष्टवह्निनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वत्वावच्छिन्नाभावाऽसम्भवेऽपि न क्षतिरिति **चेत् ? न,** तथापि तद्रसे तद्रूपत्वावच्छिन्नाभावस्य तद्रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगितापत्तेः। स्वसमानाधिकरणयद्धर्मावच्छिन्नेत्याद्युक्तावपि तत्र तद्रसघटान्यतरत्वावच्छिन्नाभावस्य तदवच्छिन्नप्रतियोगितापत्तेः। स्वावच्छिन्नाभावत्वप्रवेशे तु स्वविशिष्टेत्यादिदलवैयर्थ्यं, लाघवेन तत्सम्बन्धावच्छिन्नतद्धर्मावच्छिन्नाभा-

वस्य तद्धर्म एव प्रतियोगितेति फलितप्रसङ्गाच्च। नापि "अभावविरहात्मत्वं भावानां प्रतियोगिता" (न्या० कु०) इत्युदयनाचार्योऽपि चारुविचारचातुरीसमालोचनपूर्वमुदचोचरत्; यतोऽभावविरहत्वं यच्चभावाभावत्वं तदान्योन्याभावप्रतियोगितावच्छेदकयोरप्रसक्त्यतिप्रसक्ती। यदि पुनरभावज्ञानप्रतिबन्धकज्ञानविषयत्वं तत्, तदा घटव्याप्ये घटाभावप्रतियोगित्वापत्तिः। न च स्वाभावेत्युक्त्या तद्व्युदासः तथा सति स्वस्यैव तथावक्तव्यतापातात्। 'स्वस्याभाव' इत्यत्र षष्ठ्यर्थप्रतियोगित्वाऽपरिचयाच्च। तत्सम्बन्धावच्छिन्नत्वविषयतावच्छिन्नतद्धर्मनिष्ठविषयतावच्छिन्नावच्छिन्नत्वविषयतावच्छिन्नविषयतानिरूपिताभावत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपिताभावीयविशेषणतानिष्ठसांसर्गिकविषयतानिरूपितविशेष्यताकज्ञानप्रतिबन्धकतावच्छेदकीभूततत्सम्बन्धावच्छिन्नसांसर्गिकविषयतानिरूपकप्रकारतायाः तथात्वे तु 'प्रमेयं नास्ती'ति प्रतीतेः प्रमात्वापातात्। तस्मात् प्रतियोगित्वं प्रतियोगिस्वरूपमभावस्वरूपमस्तु वा यत्किञ्चिदेतत्, तथापि तव घटाभावाभाव इव भावरूपे नाशे न सप्रतियोगिकत्वसम्बन्ध इति **प्रतियोगिताविचारः**॥

[ध्वंसस्वरूपनिरूपणम्]

स्यादेतत् 'घटोत्तरकालवृत्ती'त्यत्र घटोत्तरत्वं यदि घटनाशाधिकरणत्वं तदात्माश्रयः। यदि तु तदधिकरणक्षणध्वंसाधिकरणत्वं तदा द्वितीयादिक्षणेष्वेव घटध्वंसापत्त्या ऋजुसूत्रप्रवेशः, क्षणध्वंसस्य दुर्वचत्वञ्च। **एतेन** यावद्घटाधिकरणक्षणध्वंसाधिकरणत्वमपि **परास्तम्**; घटाधिकरणभिन्नत्वमित्युक्तावपि चरमसमयोत्पन्नकर्मव्यक्तिमादाय तदुत्तरं तद्ध्वंसव्यवहाराऽनापत्तिः, प्रागभावेऽतिव्याप्तिश्च। **एतेन** तदुत्तरकालवृत्तित्वमित्यस्य तदधिकरणत्वाभाववैशिष्ट्यावच्छेदेन वृत्तित्वमित्यर्थकत्वमपि **प्रत्याख्यातं**, घटप्रागभावानधिकरणत्वे सति घटानधिकरणत्वस्य तथात्वे तु प्रागभावलक्षणस्य ध्वंसानधिकरणत्वे सति घटानधिकरणत्वगर्भपूर्वकालवृत्तित्वघटिततयाऽन्योन्याश्रय इति। **अत्रोच्यते** स्वद्रव्यमेव ध्वंसः सर्वत्रानुगतत्वात्। 'घटो ध्वस्त' इत्यादौ तु घटस्य स्वद्रव्ये पूर्वाऽज्ञातमप्युत्तरकालवृत्तित्वं संसर्गतया भासत इति काऽऽत्माश्रयादि? न चैवं ध्वंसप्रागभावपदयोः पर्यायत्वापत्तिः, एकव्यवहारजनकत्वाभावात्। 'ध्वंसवान्' इति शाब्दबोधोत्तरं 'प्रागभाववान्न वे'ति संशयस्त्वनिष्ट एवेति। **एवं च—**

दृष्टस्तावदयं घटोऽत्र नियतं दृष्टस्तथा मुद्गरो,
दृष्टा कर्परसंहतिः परमतोऽभावो न दृष्टोऽपरः
तेनाभाव इति श्रुतिः क्व निहिता किं वात्र तत्कारणं,
स्वाधीना कलशस्य केवलमियं दृष्टा कपालावली ॥१॥ इति **व्याख्यातम्**।

अथ 'मुद्गरपाताद्विनष्टो घट' इति तावदनुभूयते, तत्र घटोत्तरकालो वा मृद्द्रव्यं वा न तज्जन्यं, तं विनैव स्वहेतुसमाजात्तदुत्पत्तेरिति **चेत्? न,** 'मुद्गरपातावधिकस्वोत्तरकालवृत्तिस्वद्रव्यपरिणामी

घट' इति बोधाकारत्वात् । प्रमाणार्पणात्तु द्रव्यपर्यायोभयात्मकः प्रध्वंसः, अन्ततो विनिगमनाविरहेण घटोत्तरकालस्यापि तथात्वात् प्रतीतिसाक्षिकत्वाच्च । अत एव "ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि सम्भवविहीणो । उप्पादो वि य भंगो, ण विणा धोव्वेण अत्थेण" ॥ [प्र० सार २–८] इत्यनेन सर्गस्थितिसंहाराणां नान्तरीयकत्वं प्रत्यपादि । कपालकदम्बकसर्ग एव हि घटसंहारो घटसंहार एव च कपालकदम्बकसर्गः, तत्सर्गसंहारावेव च मृदः स्थितिः, सैव च तत्सर्गसंहारौ । भावस्य भावान्तराभावस्वभावेनाभावस्य च भावान्तरभावस्वभावेन, अन्वयस्य व्यतिरेकमुखेन व्यतिरेकाणां चान्वयानुल्लंघनेन प्रकाशनादिति **स्याद्वादरत्नाकर**मीमांसामांसलधियामास्वादसुन्दरो विचारः । इति **ध्वंसस्वरूपनिरूपणम्** ॥

स्यादेतत्—घटत्वेन घटध्वंसस्येवात्मत्वादिनात्मादिध्वंसाभावादेकान्तनित्यत्वमात्मादेः स्यादिति **चेत् ? मैवम्**, ध्वंसप्रतियोगित्वे सति ध्वंसाऽप्रतियोगित्वेनैवैकान्तत्वापायात् । इयांस्तु विशेषो–यदात्मत्वादिनात्मादेर्नित्यत्वं तद्भावाव्ययत्वात्, घटत्वादिना घटस्य तु नाऽतथात्वादिति । मनुष्यत्वादिना त्वात्मादेरपि ध्वंसोऽनिवारित एवेति **तत्त्वम्** ॥

ननु तद्भावाव्ययत्वं ध्वंसप्रतियोगितानवच्छेदकरूपवत्त्वमिति कम्बुग्रीवादिमत्त्वेन घटस्य नित्यत्वं स्यादिति **चेत् ? न**, गुरुधर्मेऽप्यवच्छेदकत्वस्य व्यवस्थापितत्वात् । वस्तुतो ध्वंसप्रतियोगित्व–तदप्रतियोगितयोः संयोगतदभावयोरिव समावेशाय शाखामूलयोरिव घटत्वद्रव्यत्वयोरवच्छेदकत्वमतो न काप्याशङ्का । **अथ** कपालनाशादेः सामान्यतः कपालादिसमवेतनाशं प्रत्येव कारणत्वात्प्राचि पक्षे घटत्वेन घटध्वंस आकस्मिक इति **चेत् ? न**, घटपरिणतकपालनाशस्यैव घटनाशत्वात् । घटत्वावच्छिन्नस्वाधिकरणतासम्बन्धत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकघटाभाववद्वैशिष्ट्यावच्छेदेन कालवृत्तित्वघटितस्य घटनाशत्वस्यार्थसमाजसिद्धत्वेन कार्यतानवच्छेदकत्वाच्च ।

एवं चातिरिक्तनाशकल्पने तदनुरुद्धानन्तकार्यकारणभावकल्पनगौरवमपि बाधकं बोध्यम् । तदनुपस्थितिदशायां क्लृप्तस्याप्यतिरिक्तत्वस्यानन्तरं तदुपस्थितिरूपबाधकापोद्यत्वात् ।

[अकृतागमदोषारोपः]

तथा **'अकृतागमः'**, पर्यायाणामपि नित्यानामेव सतामागन्तुकत्वात्, अन्यथा पर्यायवतोऽप्यनित्यत्वापत्तौ नित्यत्वपक्षहानेः । **अथ** घटत्वादेरेव कपालादिजन्यतावच्छेदकत्वात्तस्य च परमाणुरूपस्वद्रव्याऽवृत्तित्वान्नायं दोष इति **चेत् ? न**, 'एतानि कपालान्येव घटतया परिणतानी'ति प्रतीत्याऽवयवावयविनोः स्यादभेदसिद्धेः तेनैव परिणम्यपरिणामकभावात् । न चैवं 'वह्निपरिणतोऽयस्पिंड' इति प्रतीत्याऽयस्पिंडस्यापि वह्न्यभेदापत्तिस्तदानीमिष्टत्वात् । तदिदमुक्तम् "परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयत्ति पण्णत्तं" ति । इयांस्तु विशेषो–यत् स्वावयवावयविनोरेकप्रदेशभावेनाऽभेदोऽनयोः पुनरेकावगाहताभावेनेति ।

१—न भवो भंगविहीनो भंगो वा नास्ति सम्भवविहीनः । उत्पादोऽपि च भंगो न विना ध्रौव्येनार्थेन ॥
२—'परिणमति येन द्रव्यं तत्कालं तन्मयमिति प्रज्ञप्तम्' । [इतिसंस्कृतम्]

[अन्योन्याभावस्याऽव्याप्यवृत्तित्वव्यवस्थापनं न्यायमतेन]

नन्वेवमन्योऽन्याभावस्याऽव्याप्यवृत्तित्वं स्यादिति **चेत्? स्यादेव।** कथमन्यथाऽतिरिक्तभेदवादिनोऽपि पक्वदशायां 'घटेऽयं न श्याम' इत्यादिशाब्दी प्रतीतिः? न हीयं श्यामात्यन्ताभावमेवावगाहते, अव्ययनिपातातिरिक्तनामार्थप्रकारतानिरूपितात्यन्ताभावत्वावच्छिन्नविशेष्यतया नङ(ञ्)पदजन्यशाब्दबोधे सप्तमीसमभिव्याहृतनञ्पदजन्यपदार्थोपस्थितेर्विशेष्यतया हेतुत्वादत्र च तदभावात्। **अथात्र** सप्तमीं विनापि नञोऽभाववल्लाक्षणिकतयाऽत्यन्ताभावावच्छिन्नविशेष्यतया शाब्दबोधो निर्बाधः, भेदत्वानवच्छिन्नविशेष्यताया अतिप्रसञ्जिकाया अतथात्वेनात्यन्ताभावत्वावच्छिन्नविशेष्यताया एव कार्य्यतावच्छेदकसम्बन्धत्वात्, अत्यन्ताभावत्वावच्छिन्नविषयतया शाब्दबोधं प्रति तु पदार्थोपस्थितेरपि तथैव हेतुत्वमावश्यकमन्यथातिप्रसङ्गात्, तथा च सप्तमीसमभिव्याहृतत्वमपि हेतुतावच्छेदककोटौ न निविशतेऽनावश्यकत्वादिति नोक्तदोष इति **चेत्? न,** अभावत्वप्रकारकनञ्पदशक्तिग्रहादभावत्वेनैवाभावोपस्थितेरभावत्वेनैव शाब्दबोधात् संसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वादेरन्वयबललभ्यत्वेन परमत्यन्ताभावत्वस्य शाब्दाबोधान्तःप्रवेश इति।

अथाभावत्वप्रकारकनञ्पदशक्तिग्रहाहितसंस्कारेण संसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वांशे उद्बुद्धेनाऽत्यन्ताभावत्वप्रकारकोपस्थितिरेवात्यन्ताभावत्वप्रकारकशाब्दबोधजननीति चेत्? न, तदंशेऽनन्तोद्बोधककल्पनामपेक्ष्य क्लृप्तशाब्दबोधजनकतावच्छेदककोटौ सप्तमीसमभिव्याहृतत्वनिवेशस्यैवोचितत्वात्, तत्रापि सप्तमीसमभिव्याहारस्यैव नियततदुद्बोधकत्वकल्पनौचित्येन कथमितरत्तं विना तथा धीः? **एतेनाऽखण्डोपाधिरूपात्यन्ताऽभावत्वान्योन्याभावत्वयोर्नञ्पदशक्यतावच्छेदकत्वमतेऽपि** 'घटो न श्याम' इत्यादितोऽत्यन्ताभावत्वप्रकारकोपस्थितिः **परास्ता,** अन्यथा 'घटो न घट' इत्यस्यापि प्रसङ्गात्। **अव्ययनिपातातिरिक्तत्ववन्मत्वर्थप्रत्ययप्रकृत्यतिरिक्तनामार्थप्रकारकात्यन्ताभावबोध एव सप्तम्यास्तन्त्रत्वाद् 'न संयोगवानि'त्यादौ संयोगात्यन्ताभावबोधः सुघट एवेत्यप्यतिमन्दम्,** 'घटो न श्याम' इत्यत्र श्यामपदस्य श्यामत्वविशिष्टे लाक्षणिकत्वात्तत्रापि तद्बोधानापत्तेः, **स्फुटगौरवाच्च।**

किञ्च, मतुबर्थविशेषणत्वेनान्वितस्य संयोगादेर्विशेषणत्वेनाभावेऽन्वयो दुर्घटो निराकांक्षत्वात्। तद्विशेष्याऽविशेषणकतद्विधेयकशाब्दबोधे तद्वृत्तपदसमभिव्याहृतपदजन्यतदितराऽविशेषणकतदुपस्थितेर्हेतुत्वात्। तद्विशेष्याविशेषणकतद्विधेयकत्वञ्च तद्विधेयतानिरूपितप्रकारताऽनिरूपिततद्विधेयतानिरूपितोद्देश्यताकत्वं, नाऽतो 'नीलघटवद्भूतलमि'त्यत्र नीलविशेष्यस्य घटस्य विशेषणत्वेऽपि क्षतिः।

वस्तुतः 'कपिसंयोगवान्ने'त्यादिसमभिव्याहारस्य संयोगवद्विधेयकाभावोद्देश्यकबोध एव हेतुत्वस्य क्लृप्तत्वात्संयोगविधेयकाभावोद्देश्यकबोधहेतुत्वकल्पने गौरवमेव। **एतेन** 'नीलघटवद्भू-

तलमि'त्यतो भूतले नीलविशेष्यविशेषणकनीलविधेयकबोधापत्त्या न प्रागुक्तहेतुहेतुमद्भावः सम्भवी'-त्युक्तावपि न क्षतिः, अनुमितिविशेषे परामर्शविशेषवच्छाब्दबोधविशेषे समभिव्याहारविशेषस्य हेतुत्वेनानतिप्रसङ्गात् ।

स्यादेतत्–'इदानीं घटो न श्यामः' इत्यत्र नञो वैधर्म्यमर्थस्तत्र च वृत्तिमति भिन्ने च खंडशो वृत्तिरिति श्यामत्वविशिष्टं वृत्तिमति विशेषणावच्छेदककालावच्छिन्नाधेयतया वृत्तिमान्, भिन्ने तत्रैव चैतत्कालादिकमप्यन्वेतीति श्यामत्वविशिष्टवृत्तिमद्भिन्नैतत्कालीनधर्मवानिति ततो बोधः । एवं 'शाखायां न कपिसंयोगी'त्यत्र कपिसंयोगविशिष्टं वृत्तिमति विशेषणावच्छेदकदेशावच्छिन्नाधेयतया वृत्तिमान् भिन्ने तत्रैव च शाखादिकमप्यन्वेतीति कपिसंयोगविशिष्टवृत्तिमद्भिन्नशाखावच्छिन्नधर्म्मवानिति ततो बोधः । तथा चान्योन्याभावस्य व्याप्यवृत्तित्वमेवोचितम् । अवच्छेदकाऽविशेषितप्रतियोगिमत्ता ज्ञानस्यैव तद्वत्ता, ज्ञानप्रतिबन्धकत्वादिति ।–**मैवम्**, एवं सति 'घटो न श्याम इति वाक्याद् 'घटः श्यामो न वे'ति संशयाऽनिवृत्तिप्रसङ्गात् । श्यामप्रकारकसंशयस्य श्यामाभावप्रकारकनिर्णयनिवर्त्यत्वात् । दृश्यते च ततस्तादृशवैधर्म्ये तदभावव्याप्यवत्ताज्ञानविधुराणामपि तत्संशयनिवृत्तिः ।

किञ्चैवं श्यामात्यन्ताभावस्याप्यव्याप्यवृत्तित्वं न स्याल्लाघवेन श्यामाभावत्वावच्छेददेनैवावच्छेदकाविशेषितश्यामाऽवृत्तित्वकल्पनौचित्यात् । 'घटे न श्याम'इत्यत्रापि श्यामस्य स्वावच्छेदककालावच्छिन्नस्वविशिष्टाधेयतासम्बन्धेन वृत्तिमत्यन्वयाऽबाधेन नञो वैधर्म्यार्थकत्वसम्भवात् । 'अन्यत्र भेदवत्प्रकारकबोधेऽप्यत्र तद्विशेष्यकबोधे समभिव्याहारविशेषस्य नियामकत्वात्ततोऽत्यन्ताभावत्वप्रकारिका प्रतीतिरानुभविकी'ति चेत् ? 'न श्याम'इत्यतोऽन्योन्याभावत्वप्रकारिका प्रतीतिरपि किन्न तथा ? प्रतिबन्धकत्वाभिमतव्याप्यवृत्तिधर्म्मवत्ताज्ञानेऽप्यव्याप्यवृत्तित्वज्ञानस्योत्तेजकत्वकल्पनावश्यकत्वाच्च नोक्तलाघवगन्धोऽपि । अपि चैवं श्यामात्यन्ताभावस्यैव श्यामान्योन्याभावरूपतया लाघवम् । तस्य तावद्व्यक्तिनिष्ठान्यतरत्वावच्छिन्नभेदात्मकत्वे तावद्व्यक्तित्वनिष्ठान्यतरत्वावच्छिन्नात्यन्ताभावात्मकत्वे वाऽतिगौरवात् । न चैवं 'श्यामो न श्याममि'ति प्रतीत्यापत्तिस्तद्वाक्याच्छ्यामत्वावच्छिन्नान्योन्याभावस्यैव लाभात् ।

एतेन 'संयोगिभेदस्य द्रव्यभेदात्मकत्वकल्पनमेवोचितं, अन्यथा नानासंयोगेषु तदभेदत्वकल्पनापातात्, तथा च सुष्ठूक्तं भेदस्याऽव्याप्यवृत्तित्वं, व्याप्यवृत्त्यभेदवति तद्भेदासम्भवादि'त्यपि **निरस्तम्**, अनुगतसंयोगाभावाभाव एव तदभेदत्वकल्पनाच्च । स्वाभावाभावः प्रतियोग्येवेति व्याप्तौ लाघवस्यैव नियामकत्वेनाऽननुगतप्रतियोगिस्थले तदतिरेकस्यैव न्याय्यत्वात् । **यत्तु** 'स्वाभावाभावस्य प्रतियोगिरूपत्वे 'घटाभावो नास्ती'त्यादिप्रतीतेरभावीयविशेषणतया तदवगाहिन्या अनिर्वाहात्तदतिरेकसिद्धिरि'ति, **तदसत्**, क्लृप्तप्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्ध एव तदभावीयविशेषणतात्वकल्पनेन तन्निर्वाहात् । संयोगिभेदाभावत्वं क्लृप्तसंयोगवृत्तिसंयोगा-

भावाभावत्वान्नातिरिच्यत इत्यप्याहुरिति **नूतननैयायिकानुसृतः** पन्थाः । इत्यन्योन्याभावाऽव्याप्यवृत्तित्वव्यवस्थापनं **न्यायनयेन** ।

[जैनमतेऽन्योन्याभावस्वरूप–तदव्याप्यवृत्तितानिरूपणम्]

अथ स्वनयेन तद् व्यवस्थापयामः । अस्माकं तु भेदो वैधर्म्यान्नातिरिच्यते, क्लृप्तेनैवोपपत्तावतिरिक्तकल्पनाऽयोगात् । **न च** पटत्वाद्यनन्तधर्म्मेषु घटभेदत्वकल्पनापेक्षयाऽतिरिक्त एव तत्र तत्त्वकल्पनौचित्यम् , **तथापि** पटत्वादिना विनिगमनाविरहादतिरिक्तद्भेदभेदादिधाराकल्पने गौरवाच्च । इत्थं च भेदत्वमतद्व्यावर्त्तकत्वम् , तच्चानुवर्त्तकत्ववत् स्वभावत एवेति प्राचां वचो व्याख्यातम्, स्वभावत इत्यस्य स्वधर्म्मत इत्यर्थकत्वात् । **न चैवमपि** 'स्थाणुः पुरुषो न वे'ति संशयानुपपत्तिस्तस्य स्थाणुत्वरूपपुरुषभेदग्रहात्मकत्वादिति **वाच्यम्**, तत्र स्थाणुत्वस्य स्वरूपतोग्रहेऽपि दोषप्राबल्यात्तद्वृत्तिभिन्नत्वेनाऽग्रहात् , पुरुषवृत्तिभिन्नत्वेन तत्तद्धर्म्मग्रहस्यैव पुरुषतादात्म्यसंशयनिवर्त्तकत्वात् । तथा च श्यामवैधर्म्यं रक्तत्वादिकमेव तद्भेदः पर्य्यवस्यति । तस्य चाऽव्याप्यवृत्तित्वम्=अवच्छिन्नतादात्म्ययोगित्वं लाघवात् , न तु स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावाऽप्रतियोगित्वं, त्रैकालिकतादात्म्यपरिणामनिवृत्तेरेवात्यन्ताभावत्वेन तदात्मनि तदत्यन्ताभावाऽयोगाच्च ।

नन्वेवं श्यामदशायां घटे न रक्तमिति प्रयोगो न स्यात् सप्तमीसमभिव्याहृतनञात्यन्ताभावस्यैव बोधात् , तस्य रक्तप्रागभावादिविषयकत्वे पुनरन्तरा श्यामे रक्ततादशायामपि तदापत्तिः । अत एव न तस्य प्रतियोगितामात्रेण रक्तविशिष्टाभावावगाहित्वमपि । तादृशतदवगाहिज्ञानस्य रक्तवत्ताज्ञानाऽप्रतिबध्यत्वात् । **नन्वेवं** ध्वंसप्रागभावयोरेव रक्तत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वमव्याप्यवृत्त्यस्तु तथा च रक्ततादशायां प्रागभावादौ तदभावादेव न तथाधीरिति **चेत् ? न**, अनन्तध्वंसप्रागभावादिषु रक्तत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व–तदव्याप्यवृत्तित्वकल्पनापेक्षया क्लृप्तात्यन्ताभावस्यैव तत्र सामयिकसंबन्धकल्पनौचित्यमिति **चेत् ?**

अत्र **वदन्ति** । परेषां घटेन सह रक्तत्वाभावसम्बन्धस्तावद्रक्तत्वाभावस्वरूप एव, घटादेरननुगतत्वात्सम्बन्धान्तराऽयोगाच्च । तस्य च सामयिकत्वेऽनित्यत्वापत्तिः । **अथ** न रक्तत्वाभावमात्रमेव तत्सम्बन्धस्तथा सति पटीयरक्तत्वाभावेन रक्तेऽपि घटे तदभावव्यवहारप्रसङ्गात् , किन्तु विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यतावच्छेदकावच्छिन्नस्यैव तस्य तत्त्वं, तद्योग्यतावच्छेदकं चात्र प्रतियोगिदेशान्यदेशत्वम् । तथा चात्र प्रतियोगिदेशान्यत्वस्य सामयिकत्वं निर्बाधमिति **चेत् ? न**, प्रतियोगिदेशत्वघटकसम्बन्धगवेषणयानवस्थानादाकाशादिदेशाऽप्रसिद्धेश्च ।

अथ यथा वायौ रूपसमवायसत्त्वेऽपि समवायसम्बन्धावच्छिन्नरूपाधारताभावाद्वायौ रूपमिति न धीः तथान्तरा श्यामे घटे रक्ततादशायां रक्तत्वात्यन्ताभावविशेषणतासत्त्वेऽपि विशेषणता-

संबन्धावच्छिन्नतदाधारताभावादयं न रक्त इति न प्रतीतिरिति **चेत्? इन्त** तर्हि घटादौ तादृशाधारताया रक्तप्रागभावादौ रक्तत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वस्य वाऽव्याप्यवृत्तित्वमित्यत्र किं विनिगमकम्? 'इदानीं घटे न रक्तमि'ति प्रत्ययस्य तु एतत्कालीनरक्तत्वावच्छेदेन घटवृत्तिभिन्नत्वावगाहित्वादेव व्यवहारबलेन रूपवति रूपात्यन्ताभावसिद्धिर्निरसनीया। न च रूपधारावारणाय जन्यरूपत्वावच्छिन्नं प्रति रूपत्वावच्छिन्नाभावस्य हेतुत्वेन तत्सिद्धिः, व्यक्तिस्थानीयापत्तेः प्रामाणिकत्वेन प्रागभावस्य विशिष्य हेतुत्वावश्यकत्वात् घटपूर्ववृत्तिस्वद्रव्यत्वेन घटं प्रति हेतुत्वाऽसम्भवेऽपि तत्कपालत्वादिना तथात्वसम्भवात्।

नन्वेवं गुणगुणिनोस्तादात्म्ये तयोर्जन्यजनकभावो न स्यादभेदे तदसंभवात्। **अत एव** 'नीलघटपदयोः शाब्दसामानाधिकरण्यनिर्वाहकतया गुणगुणिनोरभेदसिद्धिरि'**त्यपास्तम्**। तादात्म्येन स्वार्थान्वितार्थशाब्दबोधजनकत्वरूपस्य तस्य नीलपदे नीलवल्लक्षणादिनाऽपि निर्वाहात्। लक्षणादिप्रतिसन्धानं विना तादृशशाब्दबोधस्यानिष्टत्वात्। अन्यथा 'वासो नील' इति प्रयोगापत्तेः। 'गुणे शुक्लादयः पुंसी'[**अमर० १-५-१७**]त्यनुशासनात्, अत्र गुणे शुक्लादिपदानां शुक्लत्वाद्यवच्छिन्नस्ववृत्तिज्ञानविशेष्यत्वसम्बन्धेनाऽन्वयात्। शुक्लत्वादिविशिष्टवृत्तिमत्त्वेन ज्ञातानामेव शुक्लादिपदानां पुंलिंगकार्यदर्शनात्। अत एव 'शुक्लं वास' इत्यादौ शुक्लपदस्य शुक्लवति लक्षणयैव विशेष्यलिङ्गगामित्वम्। न चैवं तस्याऽच्प्रत्ययान्तत्वेनापि क्लीबत्वानुपपत्तिः, इष्टत्वात्तत्राजन्तपदस्यैव क्लीबत्वात्। अत एव 'शुक्लोऽस्यास्तीति शुक्लमि'त्येव तन्निरुक्तिः। अत्र मुख्यविशेष्यतया शुक्लत्वादिविशिष्टवृत्तिज्ञानजन्यशाब्दबोधे शुक्लत्वाद्यवच्छिन्नमुख्यविशेष्यताकवृत्तिज्ञानजन्यपदार्थोपस्थितेस्तयैव हेतुत्वम्। न चैवमजन्तत्वादिस्थलेऽतिप्रसङ्गः, सामान्यत एव मुख्यविशेष्यतया शाब्दबोधं प्रति विशेषणत्वेनान्वयतात्पर्याभावापेक्षणात्। न चैवं 'घटस्य शुक्लमि'त्यादितोऽपि शुक्लत्वाद्यवच्छिन्नमुख्यविशेष्यताकशाब्दबोधापत्तिः, असाधुत्वज्ञानविरहदशायामिष्टत्वादित्यन्यत्र विस्तरः।

यत्त्वेवं सति शुक्लपटशब्दयोरेकार्थत्वे 'शुक्लः पट' इति सहप्रयोगो न स्यात्, स्याच्च घटादेरिव तद्रूपादेस्त्वाचमपि, 'पटमानये'त्युक्ते यत्किञ्चिच्छुक्लानयनं च व्युत्पन्नस्य स्यात्, स्याच्चाऽपटः पट इति वदशुक्लः पट इति वचो विरोधग्रस्तं, पाकेन श्यामरक्तविनाशोत्पादाभ्यां घटस्य तौ स्यातां, घटसत्त्वे वा तयोस्तौ न स्याताम्। **अथ** शुक्लत्वादिजातिभेदान्नेमे दोषा इति **चेत्?** न, शुक्लत्वादेर्द्रव्यवृत्तित्वेऽन्धस्य त्वचा द्रव्यत्वग्रहवद्रूपत्वग्रहस्यापि प्रसङ्गात् जातित्वाचं प्रत्याश्रयत्वाचस्यैव नियामकत्वादिति प्रत्यज्ञायि **मणिकृता–तन्न**, आश्रयत्वाचस्य नियमतः पूर्वमऽसम्भविनो जातित्वाचाऽहेतुत्वात्, रूपत्वाद्यन्यतमभेदस्य विषयतया त्वाचहेतुत्वेनाऽनतिप्रसङ्गाच्च। अथ भेदाभेदाभ्युपगमे न सर्वथाऽभेदपक्षसम्भावितप्रसरः प्रागुक्त दोष इति **चेत्?**

नाऽवच्छेदकभेदं विनैकत्र भेदाभेदयोर्विरोधात् । तदुक्तं—मणिकृता 'तस्यैव तत्राभावोऽवच्छेदकभेदेन वर्त्तते, ज्ञायते च यथा संयोगाभावः । श्यामावच्छिन्नस्य तस्यैवान्योन्याभावस्तत्रैव रक्तावच्छिन्ने तदन्योन्याभावाभावश्च श्यामावच्छेदेन' । तदिहापि नीलस्यान्योन्याभावो घटत्वावच्छेदेनेति नीलाद् घटस्य भेदोऽस्तु । अभेदस्तु नीलान्योन्याभावाऽभावरूपो घटे न, घटत्वावच्छेदेनैव विरोधात्, एकावच्छेदेन भावाभावयोरेकत्रावृत्तेरज्ञानाच्च । नाप्यवच्छेदकान्तरेण घटत्वावच्छिन्ने घटे तदभावात्तदज्ञानेऽपि 'नीलो घट' इत्यनुभवाच्चेति चेत् ? अत्र वदन्ति—भेदाभेदस्तावद्‌गुणगुण्यादिविशिष्टप्रतीतिनियामकत्वेनानुभवबलेन च जात्यन्तररूप एव सिद्ध्यति । तदुक्तं—'अन्योन्यव्याप्तिभावेन भेदाभेदपक्षस्य जात्यन्तरात्मकत्वादि'ति । अन्योन्यव्याप्तिभावश्च मिथःशबलाकारानुभावकत्वं, तेन घटभिन्ने पीते श्यामाऽभेदस्य, श्यामभिन्ने पटे घटाभेदस्य च व्यभिचारेऽपि न क्षतिः । तत्तत्सन्तानपर्यवसायित्वेन व्याप्यव्यापकभाव इत्यपि केचित् । एवं च 'येनाकारेण भेदस्तेन भेद एवे'त्यादिवाग्भंग्यापि न बिभीषिका स्याद्वादिनां, 'तेन भेद एवे' त्यस्यार्थशून्यत्वादेवकारेणाऽभेदप्रतिषेधाऽसम्भवाद् भेदस्याऽभेदानुविद्धत्वात् । एवकारस्य यत्किञ्चिदन्यार्थकत्वे तु न तत्र विप्रतिपद्यामहे । तथा च पराभिप्रेतभेदतदभावानभ्युपगमान्न तादृशावच्छेदकभेदानुपलब्धिदोषो, भेदाभेदस्य स्वत एव भिन्नरूपकुक्षिभरितया च नातिप्रसङ्ग इति ।

युक्तं चैतद्—विलक्षणभेदाभेदत्वेनैव गुणगुण्यादिसम्बन्धत्वात् । घटत्वश्यामत्वादिपर्यवसन्नभेदाभेदत्वेन तथात्वाऽसम्भवात् । एकान्तभेदेऽवयवेष्ववयवी किं देशेन समवेयात्कार्त्स्न्येन वा ? नाद्योऽवयवातिरिक्तदेशानुपदेशात् । न द्वितीयः, प्रत्यवयवसमवेतावयवबहुत्वप्रसङ्गात् । अथाऽवयवेष्वयवी समवैत्येव, देशेन कार्त्स्न्येन वेत्यत्र पुनरापादकाभाव अन्यथा भवतामप्यवयवेष्ववयवी किं(किं)देशेनापृथग्‌ भवेत्, कार्त्स्न्येन वा ? आद्येऽवयवातिरिक्तदेशाऽनिरुक्तिः । द्वितीये प्रत्यवयवाऽपृथग्भूतावयविबहुत्वप्रसक्तिरिति तुल्यः पर्यनुयोग इति इति चेत् ? न, अस्माकमभेदनयाद् बहुत्वेऽपि भेदनयादैक्यात्, परेण तु स्वप्नेऽपि तथानभ्युपगमात्, समवायस्यैवाऽसिद्धौ तात्पर्याच्च । तथा हि—'गुणादिसाक्षात्कार इन्द्रियसम्बन्धजन्यः, जन्यसाक्षात्कारत्वात्, दण्डीति साक्षात्कारवदि'त्यनुमानं न समवायं साधयितुं क्षमते वैशद्यवद् ज्ञानं प्रति योग्यताविशेषस्य हेतुत्वात्, चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वात् ।

[चक्षुरप्राप्यकारिताव्यवस्थापनम्]

अथ चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वमेव न क्षम इति चेत् ? श्रुणु ।

प्रसङ्गसङ्गतमथ प्रथमानविशुद्धधीः चक्षुरप्राप्यकारित्वं ब्रूते न्यायविशारदः ॥१॥

तथा हि, जन्यसाक्षात्कारत्वावच्छिन्नं प्रतीन्द्रियसम्बन्धत्वेन तावन्न हेतुता, इन्द्रियसम्बन्धत्वस्यैकस्याऽसम्भवात् । एतेन चक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति चक्षुःसम्बन्धत्वेन हेतुताऽपि परास्ता ।

अथ द्रव्यचाक्षुषत्वाद्यवच्छिन्नं प्रति चक्षुःसंयोगत्वादिना विशिष्यैव हेतुता । तदुक्तं **मणिकृता**—प्रत्यक्षविशेषे इन्द्रियार्थसंनिकर्षविशेषो हेतुरननुगत एवेति **चेत्**? न, चक्षुःसंयोगस्यापि परमाण्वाकाशादौ व्यभिचारेण चाक्षुषं प्रति हेतुत्वाऽयोगात् । 'महत्त्वसमानाधिकरणोद्भूतरूपस्यापि तत्र सहकारित्वान्नायं दोष' इति **चेत्**? **न**, उद्भूतरूपसमानाधिकरणमहत्त्वत्वेन सहकारित्वे विनिगमकाभावात् । **अथ** पाकेन रूपनाशक्षणेऽपि घटादिचाक्षुषोत्पत्तिरेवोद्भूतरूपविशिष्टमहत्त्वस्यैव द्रव्यचाक्षुषहेतुत्वे विनिर्गमिकेति **चेत्**? **न**, तत्र रूपनाशक्षण एव चाक्षुषम्, न तु तदुत्तरोपजायमानरूपोत्तरमित्यस्य कोशपानप्रत्यायनीयत्वात् ।

अथ महत्त्वोद्भूतरूपयोः पृथगेवाऽस्तु कारणता । महत्त्वजन्यतावच्छेदकं च जन्यद्रव्यसाक्षात्कारत्वम् । अत एवात्मसाक्षात्कार एवात्मनि महत्त्वे मानम्, उद्भूतरूपजन्यतावच्छेदकं च द्रव्यचाक्षुषत्वमिति **चेत्**? **तथापि** चक्षुर्गोलकपरिकलिताऽञ्जनाद्यप्रत्यक्षं किमधीनम्? 'योग्यताभावाधीनमि'ति **चेत्तर्हि** पाटच्चरविलुंठिते वेश्मनि यामिकजागरणवृत्तान्तानुमरणम् । भित्त्याद्यन्तरिताऽप्रत्यक्षस्यापि योग्यताविरहेणैवोपपत्तौ व्यवहितार्थाऽप्रकाशकत्वान्यथानुपपत्त्या चक्षुःप्राप्यकारित्वसाधनमनोरथस्य दूरप्रोषितत्वात् ।

स्यादेतत् । भित्त्यादिव्यवहितार्थस्य न स्वरूपयोग्यत्वम् । कालान्तरे तस्यैव प्रत्यक्षसम्भवात् । किन्तु भित्त्यादेश्चक्षुःप्राप्तिविघातकतया विरोधित्वादेव न तदन्तरितार्थग्रहणम् । एवमतिसान्निध्यस्यापि दूरत्ववद्दोषत्वेन प्रतिबन्धकत्वान्न नयनाञ्जनादिलौकिकचाक्षुषम् । **यत्तु**—विजातीयचक्षुःसंयोगत्वेन हेतुत्वादेव न दूरस्थलौकिकचाक्षुषमिति, **तन्न**, सति विशेषदर्शनादौ दूरस्थस्यापि लौकिकचाक्षुषदर्शनात् । **मैवं**, अननुगततत्तद्दोषाणां तत्तत्प्रत्यक्षप्रतिबन्धकत्वकल्पनापेक्षया सामान्यतः सूक्ष्मव्यवहितार्थप्रत्यक्षे ज्ञानावरणकर्म्मविपाकोदयविशेषस्यैव प्रतिबंधकत्वकल्पनौचित्यात् ।

वस्तुतश्चक्षुषः प्राप्यकारित्वे शाखाचन्द्रमसोर्युगपद् ग्रहणानुपपत्तिः । **अथ** क्रमिकत्वमेव तज्ज्ञानयोः, यौगपद्यप्रत्ययस्य शतपत्रशतपत्रीवेधव्यतिकरेण भ्रमत्वादिति **चेत्**? **न**, तथा सति ततः 'साक्षात्कारोमी'त्यनुव्यवसायस्य तयोरनुपपत्तेः, तदनुव्यवसायसमये शाखाज्ञानस्य नष्टत्वात् । **न च** शाखाचन्द्रयोः क्रमिकज्ञानाहितसंस्काराभ्यां जनितायां समूहालम्बनस्मृतावेवानुभवत्वारोपात्तथानुव्यवसायो यथा पञ्चावधानस्थले इति **वाच्यम्**, उपेक्षात्मकतज्ज्ञानतस्तादृशस्मृत्यसम्भवात् । तव लौकिकसन्निकर्षजन्यज्ञानस्यैव विषयतया 'साक्षात्कारोमी'त्यनुव्यवसायजनकत्वाच्च । **यत्तु** स्फटिकादिकमुपभिद्य नयनरश्मिप्रसरणं प्रत्यभिज्ञाभिज्ञानां दूरभ्युपगममिति, **तत्तु** विकटकपाटसंपुटसंघटितमपवरकमुपभिद्य मृगमदसन्दोहसमागमसमसमाधानमिति **कश्चित्** । **वस्तुतो** मृगमदसंसर्गारब्धसुगन्धिद्रव्याण्येव बहिरनुभूयन्तेऽन्यथा बंहीयसा कालेन बंहीयसा वायुना तदवयवानां भूयसामपगमे तद्गुरुत्वप्रच्यवापाताद् । तथा च स्फटिकादिनापि प्रतिबन्धान्नयनरश्मीनां कथं बहिर्निर्गमः? अत एव काचकूपिकादितस्तच्छायद्रव्यान्तरारम्भोऽपि तत्र तत्र व्यावर्णितः ।

अपि च नयनस्य तैजसत्वाऽसिद्धया तद्रश्मय एव कुतस्त्याः ! न च 'चक्षुस्तैजसं, रूपादिषु मध्ये रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् , आलोकवदि'त्यनुमानाच्चक्षुषस्तैजसत्वसिद्धिः, न चाऽञ्जनेन व्यभिचारस्तस्य चाक्षुषप्रयोजकत्वेऽपि तदजनकत्वादिति वाच्यम् , अप्रयोजकत्वात्, अनुद्भूतरूपानुद्भूतस्पर्शतेजोऽन्तरकल्पने गौरवाच्च । अत एवेन्द्रियत्वं जन्यसाक्षात्कारत्वावच्छिन्नजनकतावच्छेदकः पृथिव्याद्यवृत्तिरेव जातिविशेष इति यौगैकदेशिनः । तेषामपि चक्षुःसंयोगत्वेन हेतुतासिद्धचैव चक्षुःप्राप्यकारित्वसाधनाभिकांक्षा सम्पूर्येत, सैव तु नास्त्यत्र । 'तद्धेतोरेवाऽस्तु किं तेने'ति न्यायाच्चक्षुःसंयोगत्वावच्छिन्ननियामकादेव चाक्षुषदेशविषयप्रतिनियमसम्भवात् ।

एतेन "योग्या चेद् योग्यता वः सपदि जनयितुं ज्ञानमक्ष्णोऽनपेक्षः,
कस्मादस्माकमाकस्मिक इव न तदा हन्त वस्तूपलम्भः ।
आयासं कः प्रकुर्यादनणुमणिविभापूरिते गेहदेशे,
प्रद्योतार्थी प्रदीपं प्रकटयितुमलं तैलसम्पूरणादौ ॥१॥ अपि च

स्वनयननिकटोपटंकिनोऽर्थाः पटु विकसन्ति न जातु तत्प्रतीपाः,
जगति विचरतीह योग्यतेयं शिव शिव वञ्चन चातुरीधुरीणे ॥२॥" इत्यादि निरस्तम् ।

यतः–योग्यता वस्तुनो बोधे, स्मृता प्रतिनियामिका ।
उपधानं पुनस्तस्य चक्षुरुन्मीलनादिना ॥३॥

यदाभिमुख्यं नियमाय कर्म्मणो, न नाम संयोगनियामकं धियः ।
इहास्मि नास्मिन्नियमे स्पृहावहः कृतांतकोपस्तु तवैव केवलम् ॥४॥

यत्र यत्र परिसर्प्पति चक्षुः तत्र तत्र किल वेदनजन्म ।
गौतमीयसमये तदिदानीं प्राप्यकारिणि न चक्षुषि साक्षि ॥५॥

अनन्तनयनविषयसंयोगानां तत्तद्देशादिष्वनन्ततज्जनकत्वानाञ्च कल्पनायां महागौरवात् नयनक्रियाभिमुख्यस्य रूपादावपि सम्भवे बाधकाभावाद् द्रव्यतत्समवेतादिसाधारणचाक्षुषं प्रत्येकहेतुत्वे लाघवाच्च । 'लोहोपलस्य लोहाकर्षकत्वमिवाऽप्रत्यासन्नस्यापि चक्षुषश्चाक्षुषजनकत्वमि'–त्यप्याहुः, तेषामपि सम्बन्धविशेषाश्रयणमावश्यकमन्यथातिप्रसङ्गात् ।

तथा चैवं प्रयुञ्जते 'नयनं योग्यदेशावस्थिताऽप्राप्तार्थपरिच्छेदकम् , प्राप्तिनिबन्धनानुग्रहोपघातशून्यत्वात् , मनोवदि'ति । वनस्पति–सुरालोकनादिना नयनानुग्रहोपघातोदयाद्व्यभिचारवारणाय 'प्राप्तिनिबन्धने'ति विशेषणम् । तदुपघातस्य प्राप्तिनिमित्तकत्वे नयनस्य जलानलसंयोगेन क्लेददाहापत्तेः । अथ मनसोऽपि घटादिनाऽलौकिकज्ञानादिप्रत्यासत्तिसत्त्वात् साध्यविकलो दृष्टान्त इति चेत् ? न, संयोगप्रत्यासत्त्या परिच्छेदकत्वाभावस्यैव सिसाधयिषित-

त्वात् । न चात्ममानसत्वावच्छिन्नं प्रति संयोगेनैव मनसो हेतुत्वान्न किञ्चिदेतदिति वाच्यं, पूर्वं तदप्राप्यकारित्वं प्रसाध्य दृष्टान्तत्वाभिप्रायात् । एवञ्च मनस इव चक्षुषस्तत्तदुपयोगसाचिव्यात्तदा तदा तत्तदर्थग्राहकत्वं स्वभावादेवेत्यपि प्राञ्चः ।

"स्वप्राचीस्थपुरुषसाक्षात्कारे स्वप्रतीचीवृत्तित्वसम्बन्धेन विजातीयद्रव्यत्वेनास्तु भित्त्यादीनां प्रतिबन्धकता । प्रतिबन्धकतावच्छेदकसम्बन्धाननुगमश्च न दोषाय । तावत्सम्बन्धपर्याप्तप्रतियोगितावच्छेदकताकविलक्षणाभावस्यैकस्य कारणतास्वीकारात् । तथा च भित्त्यादीनां प्रतिबन्धकत्वादेव न तदन्तरितार्थग्रहणमिति किं योग्यतये"ति कश्चित् । तन्न, पृथिवीत्वादिना साङ्कर्येण विजातीयद्रव्यत्वेन तथात्वाऽसम्भवात् व्यवहितेयोगिचाक्षुषानुरोधेन योग्यताया अवश्याश्रयणीत्वाच्च । एतेन स्फटिकत्वाद्यभावकूटविशिष्टद्रव्यत्वेनोक्तसम्बन्धेनास्तु प्रतिबन्धकत्वमित्यप्यपास्तम् । ननु किञ्चिदवच्छेदेन तमःप्रच्छन्नेऽपि भित्त्यादौ यदवच्छेदेन चक्षुःसंयोगस्तदवच्छेदेनालोकसंयोगादेव चाक्षुषदर्शनाच्चक्षुषःप्राप्यकारित्वं सेत्स्यतीति चेत् ? एतन्निपुणतरमन्धकारवादे प्रतिविधास्यामः ।

एवञ्च 'शाखाभिमुखेन चक्षुषा विटपिनो मूलावच्छिन्नसंयोगग्रहाभावादव्याप्यवृत्तिचाक्षुषं प्रति चक्षुःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नसमवायसम्बन्धावच्छिन्नाधारतायाः सन्निकर्षत्वस्यावश्यकल्पनीयतया चक्षुषःप्राप्यकारित्वमायास्यतीत्यपि प्रतिविधेयप्रायमवधेयम् । तदानीं चक्षुरभिमुखदेशाविष्वग्भावाऽभावादेव संयोगादिचाक्षुषानुदयात् । केचित्तु 'चक्षुषःप्राप्यकारित्वे पृथुतरग्रहणानुपपत्तिः, न ह्यणुना चक्षुषा पृथुतरद्रव्यसंयोगसम्भवो'त्याहुः । "रूवं पुण पासई अपुट्ठं त्वि"[आ. नि. ५] त्याद्यागमोऽप्यत्रार्थे साक्षीति दिग् । इति चक्षुरप्राप्यकारिताव्यवस्थापनं प्रासङ्गिकम् ॥

[समवायसिद्धिनिरसनम्]

अथ प्रकृतं प्रस्तुमः ॥ 'गुणजातिक्रियाविशिष्टबुद्धयो विशेषणसम्बन्धविषयाः, विशिष्टबुद्धित्वाद्दण्डीति बुद्धिवदि'त्यनुमानमपि न समवायसाधने पटीयः, स्वरूपसम्बन्धेनार्थान्तरत्वात् । न च 'पक्षीभूतबुद्धेरनुगतसम्बन्धविषयत्वे लाघवात् कत्रैक्यस्येव पक्षधर्मताबलात्सम्बन्धैक्यस्य सिद्धौ समवायसिद्धिः', तद्बुद्धेस्तदविषयत्वेऽप्यतिलाघवेन तदसिद्धिप्रसङ्गात् । न च गुणगुण्यादिविशिष्टबुद्धेः समूहालम्बनवैलक्षण्यनिर्वाहकतया तत्सिद्धिः, अत एव विशिष्टबुद्धित्वहेतुरप्यतद्व्यावृत्तिधीजनकबुद्धित्वपर्य्यवसायितयैव कार्य्यकारणभावलक्षणानुकूलतर्कसध्रीचीन इति वाच्यम् , योग्यताविशेषाश्रयणं विना तवोपायसहस्रेणापि समूहालम्बनविशिष्टबुद्ध्योर्विशेषाऽसम्भवात् । 'घटरूपसमवाया' इति समूहालम्बनेऽपि समवायस्य विषयत्वात् । अथ स्वरूपतो भासमानेन वैशिष्ट्येन विशिष्टबुद्धेः समूहालम्बनाद्विशेषो, न ह्युपदर्शितसमूहालम्बने समवायस्य स्वरूपतो भानं किन्तु समवायत्वेनेति चेत् ? न, 'दण्डवान् दण्डसंयोगवान् पुरुष' इत्यत्रापि

संयोगस्य स्वरूपतो भानात् । **अथात्र** दण्डविषयतानिरूपितसांसर्गिकसंयोगविषयतानिरूपित-पुरुषत्वावच्छिन्नविशेष्यताकत्वाभावादेव न तादृशविशिष्टबुद्धित्वमिति **चेत्**? **न,** निरूपितत्वादेरनतिरेके उक्तातिप्रसङ्गतादवस्थ्यात्, अतिरेके तु साक्षात् ज्ञानगतप्रकारिताविशेषेणैव तद्विशेषौचित्ये **नव्यमत**प्रवेशात् ।

किञ्च, समवायस्यापि समवायान्तरस्वीकारेऽनवस्था, स्वस्मिन् स्वस्य स्वीकारे आत्माश्रयः, प्रथमे द्वितीयस्य – द्वितीये प्रथमस्योररीकारे पुनरन्योन्याश्रयः, प्रथमे द्वितीयस्य – तत्र तृतीयस्य – तत्र च प्रथमस्याभ्युपगमे चक्रकमिति तत्र स्वरूपस्यैव सम्बन्धत्वौचित्ये किन्न गुणगुणिनोरपि तथाऽभ्युपगमः । तदिदमभिसन्धायोक्तमन्यत्र स्तुतिकृतैव "इहेदमित्यस्ति मतिश्च वृत्तावि" ति । **अथ** लाघवबलाद् गुणगुण्यादीनामेकः सम्बन्धः सिध्यत् धर्मिग्राहकमानेन स्वतः सम्बन्धस्वभाव एव सेत्स्यतीति **चेत्**? हन्त तर्हि 'ह्रदे वह्निर्नास्ती'ति प्रतीतेरभावादिसाधारणैकवैशिष्ट्यसिद्धौ दत्तः समवायाय **जलाञ्जलिः** ।

एतेन 'गुणगुण्यादिस्वरूपद्वये सम्बन्धत्वमतिरिक्तसमवाये वेति विनिगमनाविरहादप्यन्ततः समवायसिद्धिः, न च वैशिष्ट्येऽपि तथा, तत्राभावस्यैवानुगतत्वेन सम्बन्धत्वौचित्यादि'त्य**पास्तम्** । तथाप्यनुगतजात्यादिसाधारणसमवायाऽसिद्धेश्च । **अथ** समवायेन जन्यभावत्वावच्छिन्नं प्रति द्रव्यत्वेन हेतुत्वात्तत्सिद्धिः, न च स्वरूपसम्बन्धेनैवास्तु तथात्वम्, स्वरूपाणामननुगतत्वादिति **चेत्? न,** वैशिष्ट्यसम्बन्धेन जन्यमात्रं प्रत्येव द्रव्यत्वेन तत्त्वौचित्यात् । **अथ** प्रतियोगितया घटादिसमवेतनाशं प्रति स्वप्रतियोगिसमवेतत्वसम्बन्धेन घटादिनाशस्य हेतुत्वात्समवायसिद्धिः । स्वप्रतियोगिवृत्तित्वेन तथात्वे घटादिवृत्तिध्वंसध्वंसापत्तेः । घटादिकालीनसंयोगादिध्वंसे व्यभिचारवारणाय 'प्रतियोगितया' । स्वप्रतियोगिसमवेतत्वस्वाधिकरणत्वोभयसम्बन्धेन नाशवन्नाशत्वावच्छिन्नस्य हेतुत्वावश्यकतया सत्तादौ तदापत्त्यभावेन सत्त्वेन नाशहेतुत्वाऽकल्पनात् । **न च** द्वित्रिक्षणस्थायिघटादिसमवेतनाशे स्वप्रतियोगिसमवेतत्वेनैव तथात्वात्प्रतियोगितया नाशत्वावच्छिन्नं प्रतितादात्म्येन सत्त्वेन हेतुत्वान्न ध्वंसध्वंसापत्तिरिति **वाच्यम्**, तत्रापि स्वप्रतियोगिसमवायिकारणकत्वेनैव तथात्वेऽनतिप्रसङ्गादिति **चेत्? न,** उक्तहेतुतावच्छेदकेऽक्लृप्तसमवायनिवेशापेक्षया क्लृप्तसत्त्वनिवेशस्यैवोचितत्वात् ।

[वैशिष्ट्यवादः]

किञ्च, रूपाभावमहत्त्वाभावान्यद्रव्यवृत्तिचाक्षुषं प्रति चक्षुःसंयुक्तमहदुद्भूतरूपवद्वैशिष्ट्यस्यैव हेतुत्वौचित्यम् । रूपाभावमहत्त्वाभावचाक्षु(षे)षं*प्रति चक्षुःसंयुक्तमहद्वैशिष्ट्यस्य तादृशोद्भूतरूपवद्वैशिष्ट्यस्य च पृथक्कारणत्वात्* । रूपाभावान्यद्रव्यवृत्त्यभावचाक्षुषे चक्षुःसंयुक्तोद्भूतरूपवद्विशेषणता, महत्त्वाभावान्यद्रव्यवृत्त्यभावचाक्षुषे चक्षुःसंयुक्तमहत्त्ववद्विशेषणता, महत्समवेतचाक्षुषे चक्षुःसंयुक्तमहदुद्भूतरूपवत्समवायश्च हेतुरिति कल्पनाऽपेक्षयोक्तस्यैव युक्तत्वात् ।

* **वस्तुतो** द्रव्यवृत्तिचाक्षुषं प्रति चक्षुःसंयुक्तचाक्षुषवैशिष्ट्यस्यैव हेतुत्वं, वैशिष्ट्यानभ्युपगमे तु महत्समवेतचाक्षुषं प्रति चक्षुःसंयुक्तचाक्षुषसमवायस्य, द्रव्यवृत्त्यभावचाक्षुषं प्रति चक्षुःसंयुक्तचाक्षुषविशेषणताया हेतुत्वे गौरवात्* । 'द्रव्यजात्यन्यचाक्षुषे महदुद्भूतरूपवद्भिन्नसमवेतत्वेन प्रतिबन्धकत्वात् समवायसिद्धिरि'ति तु मन्दम् । द्रव्यान्यसच्चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति महदुद्भूतरूपवद्भिन्नविशिष्टत्वेनैव तत्त्वसम्भवात् । **यत्तु**—भूतलपटाभाववैशिष्ट्यसत्त्वात्पटकालेऽपि पटाभावधीप्रसङ्गः, **न च** तदानीमधिकरणस्वाभाव्यात् पटाभावाभावाधिकरणत्वादेव नायमिति **वाच्यम्**, स्वभावभङ्गप्रसङ्गादिति—**तन्न**, पटसत्त्वे पटाभाववैशिष्ट्यसत्त्वेऽपि तदवच्छिन्नतदाधारताऽभावादेवोक्तप्रसङ्गाभावात् । इति **वैशिष्ट्यवादः** ॥

अस्माकं तु न समवायो न वा वैशिष्ट्यं, कथञ्चिदनुगमव्याावृत्तिमद्भिः स्वरूपैरेव तत्तत्कार्यनिर्वाहात् । इत्थं च विशेषणसम्बन्धनिमित्तकत्वं साध्यीकृत्य पूर्वोक्तानुमानमप्यनादरणीयं, वैलक्षण्यस्य जातिरूपस्य स्मृतित्वानुमितित्वादिना साङ्कर्यात् । विषयितारूपस्य च समवायाऽसिद्ध्या दुर्वचत्वात् । सत्यलौकिकविशिष्टप्रत्यक्षत्वस्यैव कार्यतावच्छेदकत्वेन तदवच्छिन्नं प्रति विशेषणसम्बन्धत्वेन हेतुत्वं स्वरूपसम्बन्धेनार्थान्तरत्वात्, अन्यथा वैशिष्ट्यस्य दुर्निवारत्वात्, विशेषणसम्बन्धत्वस्यैकस्याभावेनैतत्कार्य्यकारणभावस्य विशिष्यविश्रामाच्च । इति **समवायनिरासः** ॥

[भेदाभेदवादः]

नन्वभेदसंसर्गेणाऽन्वितपदार्थबोधकपदकसमासस्यैव कर्म्मधारयत्वात् 'नीलोत्पलमि'—त्यादौ नीलोत्पलयोर्भेदाभेदस्य संसर्गत्वे कर्म्मधारयानुपपत्तिः, अन्यथा 'घटरूपमि'त्यत्रापि तत्प्रसङ्गादिति **चेत्? मैवं**, कर्म्मधारये हि तादात्म्यमेव संसर्गो न तु भेदाभावः, 'प्रमेयाभिधेयमि'त्यत्र तद्बाधात् । तच्च 'नीलोत्पलमि'त्यत्र नीलपदस्य नीलवत्परतया निराबाधम् । **न चैवं** 'घटकलश'इत्यत्रापि कर्म्मधारयप्रसङ्गस्तत्र पदसारूप्याभावेनैकशेषाऽनवकाशात्, **वस्तुत** एकशेषस्य द्वन्द्वापवादकत्वाद् 'घट घट' इत्यत्रापि तत्प्रसङ्ग इति **वाच्यम्**, तत्र पदार्थयोर्निराकांक्षत्वेनानन्वयात । न चोक्तं कर्म्मधारयलक्षणमपि ज्यायः, 'राजपुरुष' इत्यादितत्पुरुषेऽतिप्रसङ्गादिति दिक् ।

एतेन 'घटस्य रूपमि'त्यादौ षष्ठीप्रयोगदर्शनाद्धर्म्मधर्म्मिणोर्भेद एव युक्त इत्यप्य**नास्थितं**, तत्र सम्बन्धत्वेनाऽविष्वग्भावस्यैव भानात्, सम्बन्धत्वस्यैव षष्ठीपदशक्यतावच्छेदकत्वात्, तत्राविष्वग्भावातिरिक्तत्वप्रवेशे गौरवात्, तादात्म्येन प्रातिपदिकार्थयोरन्वये समानविभक्तिकत्वादेर्नियामकादेव 'घटस्य नील'इत्याद्यापत्त्यभावात् । इयांस्तु विशेषो यद्धर्मिधर्मभावाद्यपेक्षयैव द्वयोर्भेदाभेदः, प्रतिस्वं प्रतिस्विकरूपेण केवलाभेदो, गोत्वाश्वत्वाऽऽदिना तु केवलभेद इति । न चैवमेकान्ताऽनुप्रवेशोऽभेदसम्भिन्नभेदवत्त्वाभ्युपगमेनैव तदपायात् । इत्थं चैतदवश्यमंगीकर्तव्यं,

* चिह्नद्वयान्तरालद्वयपाठो यशोविजयोपाध्यायैः स्वहस्ताक्षरैः प्रक्षिप्तो मूलादर्शे ।

कथमन्यथा स्याद्भिन्नं चाऽभिन्नं चेत्यत्र स्यात्पदं नाऽनतिप्रयोजनमि'ति ध्येयम् ।

अथ भेदाभेदस्यापि कथञ्चिदभेदरूपत्वात्'कपाले घट' इत्यादावाधाराऽऽधेयभावप्रतीतिर्न स्यादिति चेत्? न, भेदाभेदत्वेन तस्य वृत्तिनियामकत्वात् । 'घटाभावे घटो नास्ती'त्यादावपि घटाभावत्वेन धर्म-धर्मिभावविवक्षयैव निस्तारः । सर्वथा तदात्मनः पुनराधाराऽऽधेयभावोऽसम्भवी स्वप्नेऽपि तथाऽप्रत्ययात् । धर्माऽविष्वग्भूतो धर्म्येव तदाधारता, तेन न धर्मधर्मिणोर्भेदाऽभेदाऽविशेषेऽपि धर्म्येव धर्म्माधारो न तु धर्म्मास्तथेत्यत्र नियामकानुसरणवैयग्र्यम् । तत्तत्प्रतियोगिकत्वविशिष्टतत्तत्सम्बन्धस्य तथात्वे तु एकत्रैव भूतले घटपटादिप्रतियोगिभेदेनाऽव्याप्यवृत्तिनानाधारतापत्तेर्धर्मिणश्चाऽनाधारत्वे धर्मा एव वस्त्विति **तथागत**प्रवादसाम्राज्यापत्तेः धर्म्माधारतयैव परं धर्मिणः कल्पनादिति **दिग्** ।

नन्वेवमपि भवतु भेदाभेदो जात्यन्तररूपः, परमसावेकत्राऽन्योन्याभावतदभावप्रतीतिव्यंग्यस्तयोश्चैकत्राऽवच्छेदकभेदं विना प्रतीत्यनुपपत्तिरित्युक्तमेवेति **चेत्? न,** घटत्वैकद्रव्यत्वयोरेव तदवच्छेदकयोः सम्भवात् । यदवदाम स्तुतौ—

"एकत्र वृत्तौ हि विरोधभाजोर्येषामवच्छेदकभेदयाञ्चा ।
द्रव्यत्वपर्यायतयोर्विभेदं विजानतां सा कथमस्तु वस्तु" ॥ इति ।

नीलभेदो घटत्वावच्छेदेन, नीलाभेदस्तु नीलवद्भिन्नभेदावच्छेदेन । न च तदज्ञानेऽपि 'नीलो घट' इत्यभेदानुभवात् न तस्य तदवच्छेदकत्वं, घटत्ववत्तस्य योग्यत्वात् नियमतो ग्रहसम्भवात् ।

अस्तु वा तदग्रहेऽप्यवच्छेदकौदासीन्येनैव नीलाभेदधीः । न सा घटत्वावच्छेदेन नीलभेदग्रहप्रतिबद्धचा । तद्धर्मावच्छेदेन तद्वत्ताधियस्तद्धर्म्मावच्छेदेनैव तदभाववत्ताधीविरोधित्वात् । तद्धर्म्मातिरिक्तधर्म्माऽनवच्छेदेनेत्यस्य प्रवेशे गौरवादिति **यौक्तिकाः** ।

केचित्तु-भेदोऽन्योन्याभावोऽभेदस्तु धर्म्मान्तरमित्यभ्युपगच्छन्ति । अत्र तादृशाभेदस्य व्यवहाराऽनौपयिकत्वं यत्कैश्चिदुद्घुष्टं तदसम्बद्धं, 'प्रमेयमभिधेयमि'त्यादौ तस्यैव शरणीकरणीयत्वात् ।

दिगम्बरमतानुयायिनस्तु भेदाऽभेदो भेदविशिष्टाऽभेद एव, सम्बन्धता तु तयोरुभयत्वेन रूपेण । न चोभयत्वमप्येकविशिष्टाऽपरत्वमिति विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहः, अविशिष्टयोरपि गोत्वाऽश्वत्वयोरुभयत्वप्रत्ययात्, तस्यातिरिक्तधर्मत्वात् । युक्तञ्चैतत्, अतिरिक्तभेदाऽभेदस्य भेदविशिष्टाऽभेदस्य च तद्व्यञ्जकत्वकल्पनायां गौरवात् । न च भेदाऽभेदयोरेकत्र विरोधो, यतो न हि वयं यत्र यस्य यो भेदस्तत्र तस्य तदभावमभ्युपेमः किन्त्वन्यमेवेति । तथाहि; भेदो द्विविधः—पृथक्त्वरूपोऽन्यत्वरूपश्च । तत्र पृथक्त्वं प्रविभक्तप्रदेशत्वरूपम् । अन्यत्वं पुनरतद्भाव इति । यदुक्तं प्रवचनसारे "[1]पविभत्तपदेसत्तं, पुढत्तमिति सासणं हि वीरस्स । अण्णत्तमतब्भावो, ण तब्भवं भवदि कहमेगं" ॥ ति ।

१–प्रविभक्तप्रदेशत्वं पृथक्त्वमिति शासनं हि वीरस्य । अन्यत्वमतद्भावो न तद्भवन् भवति कथमेकम् ॥

यत्तु—पृथक्त्वमप्यन्योन्याभाव एवेत्यभिदधे **दीधितिकृता–तदसत्**, एवं सति 'घटः पटात् पृथगि'तिवद् 'घटरूपात् पृथगि'तिप्रत्ययप्रसङ्गात् । न चैवं प्रतीयते, यदवोचाम–

"[1]अण्णं घडाउ रुवं ण पुढोत्ति विसारदाण ववहारो ।
भेदा उणो पुढत्तं, भिज्जदि ववहारबाधेणं" ति ॥

तथा च पृथक्त्वस्य व्यावर्त्तकत्वाऽविशेषेऽप्यन्योन्याभावाद्वैलक्षण्यमेवेति तत्त्वम् । किञ्चैवं परेषां रक्ततादशायां घटे श्याममेदतदपृथक्त्वधियौ कथमिव समगंसाताम् । न पृथगित्यस्य तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नभेदाभाववानित्यर्थकत्वे ततः श्यामत्वावच्छिन्नपृथक्त्वसंशयाऽनिवृत्त्यापत्तिः । 'पृथक्त्वं गुणविशेष' इति **प्राचां नैयायिकानाम**पि वचोऽविचारितरमणीयं, तत्साधकस्य पृथक्त्वव्यवहारस्य गुणादावपि जागरुकत्वात् । 'घटः पटात् पृथगि'त्यादिव्यवहारस्य क्लृप्तेनाऽन्योन्याभावेनैवोपपत्तावतिरिक्तपृथक्त्वस्य तत्र नानाविधावधिज्ञानव्यंग्यत्वादेश्च कल्पने गौरवम् । **एतेना**त्मेतरद्रव्यसाक्षात्कारत्वापेक्षया लघुन आत्मपृथक्त्वसाक्षात्कारस्यैवोद्भूतरूपकार्यतावच्छेदकत्वौचित्यादतिरिक्तपृथक्त्वसिद्धिः **इत्यपास्तमिति तु नव्याः** । तत्तु प्रागेव दूषितम् ।

अतद्भावश्च तत्त्वेनाप्रतीयमानत्वम्, तदवृत्तिधर्मवत्त्वमिति यावत् । न चातद्भावातिरिक्तोऽन्योन्याभावोऽस्ति, तस्य तुच्छत्वादतिरिक्ताभावसम्बन्धस्य स्वयं सम्बद्धत्वस्वभावावश्यकत्वे द्रव्येण सममभावादेरेव स्वतः सम्बन्धौचित्यादित्य**ाहुः** ।

अत्रेदमस्माकमाभाति । प्रविभक्तप्रदेशत्वमित्यत्र बहुव्रीह्याश्रयणे परमाणवः कुतोऽपि न पृथग्भवेयुः । एवं कर्मधारयाश्रयणे देशस्कन्धयोरपि स एव दोषः । स्कन्धाश्रितपरमाणूनामेव प्रदेशपदवाच्यत्वात्परमाणूनामपि पृथक्त्वं न घटेत । **अथ** प्रदेशपदस्याविभागिद्रव्यांशपरत्वे 'श्वेतो धावती'त्यादाविवाऽऽवृत्त्योभयसमासाश्रयणेनोभयथाऽन्वयात्तदन्यतरत्वस्य तल्लक्षणतया पर्यवसानमिति **चेत्** ? किं तर्हि प्रदेशेषु प्रविभक्तत्वम् ? न तावदन्यत्वम्, एकद्रव्यस्यैव प्रदेशानां तादृशत्वात् । नापि पृथक्त्वं, तस्य प्रविभक्तस्कन्धकत्वरूपतयाऽन्योन्याश्रयात् ? तथाहि, प्रदेशानां प्रविभक्तत्वसिद्धौ प्रविभक्तप्रदेशत्वरूपं स्कन्धानां पार्थक्यं सिध्यति, सिद्धे च स्कन्धानां प्रविभक्तत्वे प्रविभक्तस्कन्धकत्वरूपं प्रदेशानां पार्थक्यं सिद्ध्यतीति ।

अथ 'पृथक्त्वं जात्यन्तररूपमेवे'ति **चेत्तर्हि** भेदाभेद एव तादृशः किमिति नास्थीयते ! धर्मिधर्मोभयभासकसामग्र्या एव तद्भासकत्वेन व्यञ्जकगवेषणविश्रामात् । **इत्थं च** 'पृथक्त्वव्यवहाराऽसाधारणकारणं तदि'त्य**प्यपाकृतं**, कारणतावच्छेदकरूपपरिचयं विना तादृशनिर्वचनाऽसम्भवाच्च । **यत्तु** "विभिन्नाश्रयाऽऽश्रितत्वमेव पार्थक्यम्, विभिन्नाश्राश्रयाः स्कन्धानां देशा इव देशानां स्कन्धा अपि सम्भवन्ति, 'तन्तौ पट' इति व'त्पटे तन्तव' इति प्रतीतेरप्यबाधितत्वात् ।

[1]–अन्यद्घटाद्रूपं न पृथगिति विशारदानां व्यवहारः । भेदात्पुनः पृथक्त्वं भिद्यते व्यवहारबाधेन ॥

अन्यत्र रूपादिप्रतियोगिकत्वविशिष्टाऽविष्वग्भावस्याऽऽधारतात्वेऽप्यत्राऽविष्वग्भावमात्रस्यैव तथात्वकल्पनात्, तादृशप्रतीतेर्बलवत्त्वात् । तदुक्तं परेणापि– "संविदेव हि भगवती वस्तूपगमे नः शरणमिति" परमाणूनामपि शुद्धस्य स्वस्यैव स्वाश्रयत्वम्, भाविभूताऽऽश्रयसम्भवेनैव वा तदाश्रितत्वमक्षतम् । अन्यथा द्रव्यादिचतुष्टयस्य सार्वत्रिकत्ववचनव्याघाताऽऽपातादिति । **तच्चिन्त्यम्**, अत्यन्तविभिन्नानामप्याकाशादिरूपैकाश्रयसम्भवेन भेदाभेदसम्बन्धावच्छिन्नाश्रयताविवक्षणे स्फुटदोषात् । नापि 'तत्प्रदेशैः सहैकत्वपर्यायाऽनापन्नत्वं तद्,' एकत्वस्याऽपृथक्त्वपर्यवसायित्वात् ।

ऋजवस्तु सार्वजनीनप्रतीतिस्वारस्यादेव भेदाऽभेदयोरवच्छेदकभेदं विनापि न विरोधः । यथाहि सामान्यतो भावस्य प्रतियोगिव्यधिकरणत्वे क्लृप्तेऽपि संयोगाद्यभावेऽतथात्वप्रतीतेः स नियमस्त्यज्यते, तथा भावाभावयोरेकत्रवृत्तावबच्छेदकभेदनियमोऽप्येकत्र भेदाभेदयोरबाधितानुभवबलादत्र त्यज्यते । अत एव न सङ्कर–व्यतिकर–संशया–नवस्था–दृष्टहान्यदृष्टकल्पनाः । **भेदश्चेदमस्माद्भिन्नमिति प्रतीतिनियामको व्यावृत्तिविशेषः** । स चैकद्रव्यगुणपर्यायेष्वप्यभेदकरम्बितः सम्भवति । अयम्भावः–यथाहि सूत्रग्रथितमुक्ताफलानामपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वं हारत्वं सूत्रमुक्ताफलाधारतावच्छेदकम्, तथा द्रव्यगुणपर्यायाणां तादृशं द्रव्यत्वमपि तथा । यथा च हारत्वसूत्रत्वमुक्ताफलत्वावच्छेदेन शुक्लत्वप्रतीतिस्तथा द्रव्यत्व–गुणत्व–पर्यायत्वावच्छेदेन सत्त्वप्रतीतिरपि । यथा च शुक्लत्वाद्यवच्छिन्ने हारत्वाद्यवच्छिन्नभेदस्तथा सत्त्वत्वाद्यवच्छिन्ने द्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नभेदोऽपि । तदुक्तम् "सद्दव्वं सच्च गुणो, सच्चेव य पज्जओत्ति वित्थारो । जो खलु तस्स अभावो सो तदभावो अतब्भावो ।। "त्ति । **विस्तारः**=भेदनयार्पितप्रातिस्विकतत्तद्धर्मावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपिताः प्रकारताः ।। इति **भेदाभेदवादः** ।

अन्ये तु सत्त्वस्य=पदार्थस्य, एकान्तनित्यत्वे=सर्वथैकस्वभावत्वे, कृतस्य नाशो=निःप्रयोजनत्वं स्यात् । कृतस्य नाशश्च 'सविशेषणे ही'त्यादिन्यायात् कृतिनाश एव पर्यवस्यति । एकान्तनित्ये कृत्या प्रागसतः सत्त्वरूपोपकारानाधानादन्यथा स्वभावभेदप्रसङ्गादिति भावः । तथाऽ**कृतागमः** स्वभावभेदापत्तिभियाऽऽकस्मिकार्थक्रियाकारित्वं प्रसज्येतेत्याहुः । **अपरे** तु कृतपदमत्र भाव'क्त'प्रत्ययान्तमिति कृतस्य कुम्भकारादिप्रयत्नस्य नाश उपधानाऽव्याप्यत्वम्, अकृतस्य कुम्भकारादिप्रयत्नाऽभावस्यागमोऽनुपधानाऽव्याप्यत्वं च स्यातां, वस्तुनः सर्वथा नित्यत्वात्, तथा च व्यवहारबाध इति भावः ।

[साङ्ख्याभिमतसत्कार्यवाददूषणम्]

अत्रेदं विभाव्यते–**सांख्यैर्हि** सदेव वस्त्वनुमन्यते । तदुक्तं "असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसम्भवाऽभावात् । शक्तस्य शक्यकरणात्, कारणभावाच्च सत्कार्यमिति" ।।[सां. का. ९]। असदकरणादसतः कर्तुमशक्यत्वात्सदेव कार्यं, सत एव सत्करणस्वाभाव्यात् । न च सदित्यस्य 'पूर्वकालवृत्ती'त्यर्थकत्वे प्रागभावघटितपूर्वत्वाऽप्रसिद्धिः, तदघटितस्यापि तस्य सम्भ-

वात् । ननु त्रैकालिकाऽसतः शशविषाणादेः कार्यत्वं मास्त्विति तावन्नियम्यतां, न तु प्रागसतोऽपीति चेत्? कः किमाह? प्राक् सत एव दुग्धादेर्दध्यादिपरिणामदर्शनादत्यन्ताभेद एव कार्यकारणभावात्, समवायस्य निरस्तत्वात् । अत एवाहोपादानग्रहणादिति, उपादानेन=परिणामिकारणेण, ग्रहणात्=सम्बन्धादपि सत्कार्यम् । न ह्यसतः सम्बन्धोऽस्ति । 'असम्बद्धस्यैव करणमस्ति'तिनिरसितुमाह सर्वसम्भवाभावादिति । असम्बद्धत्वाऽविशेषे हि सर्वे सर्वस्माद्भवेयुः, न चैवमिष्टमिति । तथाशक्तस्य जनकत्वेऽतिप्रसङ्गात् शक्तस्य जनकत्वं वाच्यम्, शक्तिश्च कार्यस्य प्रागसत्त्वे नियता न स्यादितोऽपि कारणात्प्राक्कार्यस्य सत्त्वमुपेयम् । तथा कारणाऽभावात् स्वभिन्नोपादानाऽनुपादेयत्वादपि सत्कार्यम् । किञ्चाऽसत्कार्यवादे तदीयाऽनन्तप्रागभावादिकल्पने गौरवमिति ।

तदयुक्तं–यतो घटश्चेत्कारणव्यापारात्प्रागप्यस्ति तर्हि तदानीं तदुपलम्भप्रसङ्गः । अथाऽनाविर्भावान्नोपलभ्यत इति चेत्? कोऽयमनाविर्भावः? [१]उपलब्ध्यभावो वा? [२]अर्थक्रियाकारिरूपाभावो वा? [३]व्यञ्जकाभावो वा? [४]योग्यत्वाभावो वा? [५]कालविशेषविशिष्टत्वाऽभावो वा? [६]जिज्ञासाऽभावो वा? [७]तिरोधानं वा? [८]अन्यद्वा? नाद्यो यस्यैवाक्षेपस्तेनैवोत्तरदाने घट्टकुटीप्रभाताऽऽपातात् । अथ घटानुपलब्ध्याक्षेपे संस्थानाद्यनुपलम्भस्योत्तरत्वमिति चेत्? न, संस्थानज्ञानस्य संस्थानिज्ञानात्पूर्वं नियतमनपेक्षणात् । तस्यापि प्राक् सत्त्वे उपलब्धेरापाद्यत्वात्, असत्त्वे च वक्ष्यमाणदोषाऽनुषङ्गादिति (१) ।

न द्वितीयः, अर्थक्रियाकारिरूपस्य प्रागसत्त्वेऽसत्कार्यवादापातात् (२) । अत एव न तृतीयोऽपि, प्राथमिकोपलब्धौ कुविन्दादिसमुदायस्य उपलब्धिमात्रे वा विजातीयसंयोगस्य कारणत्वेऽपि तयोः प्राक्सत्त्वावश्यकत्वात् । 'आविर्भूतयोरेव तयोस्तथात्वमि'ति चेत्? नाविर्भावस्यापि सदसद्विकल्पग्रासात् । विजातीयसंयोगाद्याविर्भावस्य प्राक् सत्त्वेऽपि तेन समं तस्य सम्बन्धो नास्ती'त्यप्यसमीक्षिताऽभिधानम्, तद्दोषाऽनतिवृत्तेः ।

एतेन 'विषयिताविशेषसम्बन्ध एव घटत्वादेर्विजातीयसंयोगजन्यताऽवच्छेदकताऽवच्छेदकोऽस्तु, अनन्ततत्प्रागभावप्रध्वंसाद्यकल्पनलाघवादि'त्यपि परास्तम्, तदभावेऽपि घटत्वविनिर्मुक्तविषयिताकघटसाक्षात्कारापत्तेश्च । न च स्वाश्रयविषयतासम्बन्धस्य तथात्वान्नेयमापत्तिस्तस्यातिप्रसङ्गित्वेन तत्र लौकिकत्वानिवेशे कार्यतावच्छेदके वा जन्यत्वानिवेशे गौरवात् । किञ्च, घटादेः कुम्भकारादिव्यंग्यत्वे जन्यत्वव्यवहारो निरालम्बनः स्यात्, अन्यथा तरुणतरणिकिरणनिकराभिव्यज्यमाने घटे तज्जन्यत्वव्यवहारापत्तेः ।३।

नापि तुरीयः, महत्त्वसमानाधिकरणोद्भूतरूपवत्त्वादिरूपायाश्चाक्षुषादियोग्यतायाः प्रागुक्तदिशा प्रागपि सत्त्वात् ।४। नापि पञ्चमः, कालविशेषस्य करणत्वेनाऽनतिप्रसंग एककारणपरिशेषाऽऽपत्तेः । विशेषस्याप्यागन्तुकोपाधिरूपस्य सदसद्विकल्पग्रासाच्च (५) । नापि षष्ठः

सत्यामपि जिज्ञासायां कारणव्यापारात्प्राक्कार्यानुपलम्भात् । जिज्ञासाया ज्ञानमात्रं प्रत्यहेतुत्वाच्च जिज्ञासितबोधं प्रति जिज्ञासाया हेतुत्वेऽपि तां विना तत्राऽजिज्ञासितबोधापत्तेश्च ।६।

नापि **सप्तमो**ऽनाविर्भावस्यैव तिरोधानपदार्थत्वेऽप्यापि नियतनिर्वचनाऽपरिचयात्; अन्यस्याभ्युपगन्तुमशक्यत्वात् ।७। **नाप्यष्टमो**ऽनिर्वचनात् ।८। तस्मात्प्रागसदेव कार्यं सामग्रीसमवधानात्संपद्यते । न च प्रागभावादिकल्पने गौरवं, प्रामाणिकत्वादिति **योगा** संगिरन्ते ।

सांख्यः सत्कार्यवादं सदसि निगदतु स्कन्धमास्फाल्य तावत्,
स्वैराऽसत्कार्यवादी प्रलपतु स पुनस्तावदेवात्र **योगः** ।
यावद् दुर्वादिवृन्दद्विरदमदभिदा केसरिक्रीडनैक-
प्रागल्भ्याभ्यासभाजो जिनसमयविदो ध्यानमुद्रां भजन्ते ॥१॥

वासनामथ मुञ्चन्तु समये **सांख्ययोगयोः** सदसत्कार्यवादाय प्रयते सावधानधीः ।२।

[सदसत्कार्यवादस्थापनम्]

तथाहि–युगपत्प्रवृत्ताभिर्यथा पर्यायनिष्पादिका व्यतिरेकव्यक्तीस्तास्ताः संक्रामतो द्रव्यस्य सद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भावस्तथा क्रमप्रवृत्ताभिर्व्यतिरेकव्यक्तिभिः पर्यायनिष्पादिकाभिस्ताभिस्ताभिर्युगपत्प्रवृत्ता अन्वयशक्तीः संक्रामतो द्रव्यस्याऽसद्भावनिबद्धोऽपि, **द्रव्यार्थिकेन** सर्वस्य सत एव **पर्यायार्थिकेना**ऽसत्त्वात् । तदुक्तमन्यत्रापि–"**एवंविधं सहावे दव्वं दव्वट्ठपज्जयट्ठेहिं सदसब्भावणिबद्धं पादुब्भावं सदा लहदि**"त्ति । यथा च व्यतिरेकव्यक्तयो यौगपद्यप्रवृत्तिमासाद्यान्वयशक्तित्वमापन्नाः पर्यायान् द्रव्यीकुर्युस्तथाऽन्वयशक्तयोपि क्रमप्रवृत्तिमासाद्य तत्तद्व्यतिरेकव्यक्तित्वमापन्ना द्रव्यं पर्यायीकुर्युः, वस्तुनो द्रव्यपर्यायोभयात्मकत्वात् । यदुक्तं "**द्रव्यं पर्यायवियुतं, पर्याया द्रव्यवर्जिताः । क्व कदा केन किंरूपा दृष्टा मानेन केन वा ।**" इति ।

न चाऽतोद्रव्यपर्याययोर्वैयुत्याभावसिद्धावपि तादात्म्याऽसिद्धिः, परिशेषात्तेन तत्सम्बन्धसिद्धेः । '**स्थासकोस-कुशूलादिपर्याया एव वस्तु न पुनस्तदतिरिक्तं मृद्द्रव्यं समीक्षामहे**' इति **ताथागताः** । तदसत्–यतो यदुत्पादविनाशाभ्यां न यदुत्पादविनाशौ, तत्ततो भिन्नं, यथा घटात् पटः । न चोक्तपर्यायविनाशोत्पादाभ्यां मृद्द्रव्यस्य ताविति तेभ्यस्तद्व्यतिरेकसिद्धेः । रूपान्तरेण द्रव्यनाशोत्पादयोः पर्यायनाशोत्पादपर्यवसायित्वात् अन्यथाऽबाधिततत्प्रत्यभिज्ञाऽनुपपत्तेः तयोरन्यतरस्माद्विविच्य वस्त्वन्तराऽवीक्षणस्य चोभयत्र तुल्ययोगक्षेमत्वात् । न चान्वयिनो वीक्षणं मिथ्या, कदाचिदन्यथादर्शनाऽसिद्धेः । तदुक्तं "**यो ह्यन्यरूपसंवेद्यः, संवेद्येताऽन्यथा पुनः । स मिथ्या न तु तेनैव यो नित्यमवगम्यते**" ॥ इति ।

"यदाऽऽद्यंतयोरसन्, मध्येऽपि तत्तथैव, यथा मरुमरीचिकादौ जलादि । न सन्ति च कुशूलकपालाद्यवस्थयोर्घटादिपर्यायाः, इति द्रव्यमेवादिमध्याऽन्तेषु सत्, पर्यायाः पुनराकाशकुसुमैकवंशप्रभवा अपि भ्रान्तैरितरथा प्रतीयन्ते । तदुक्तं–"आदावन्ते च यन्नास्ति, मध्येऽ-

प्यस्ति हि तत्तथा । वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिता ॥"—इत्यपि कपिचेष्टितप्रायं परेषां प्रलपितम् । क्वचिदसत्त्वेन वस्तुनोऽसत्त्वे मृद्द्रव्येऽसतोऽद्रव्यस्याऽसत्त्वापत्तेः । 'तत्रैवाऽसतस्तत्रैव सत्त्वं निर्बीजमि'ति **चेत् ? न**, हेतुसमाजस्य तद्बीजत्वात् । न च द्रव्यतया सदसदेव कार्यं प्राक् नाप्य(?पि)सत्कार्यवादे कार्योत्पत्तेः प्राक्कार्योपलम्भापत्तिः, येन रूपेण सत्त्वं तेन रूपेणोपलम्भस्येष्टत्वात् । न चैवं विषयस्य नानारूपभेदेन नानाहेतुत्वकल्पने गौरवं, योग्यतयैव प्रतिनियमात्तद्धेतुत्वाऽकल्पनात् । नाप्येकत्र सत्त्वाऽसत्त्वयोर्विरोधो, रूपभेदेन तत्समावेशात् ।

अथैवं घटाभावदशायां भूतले घटस्यापि सदसत्त्वापत्तिरिति **चेत् ? न**, भूतलत्वेन घटसत्त्वस्य दुर्वचत्वात्, तादृशरूपान्तरस्य च दुर्लभत्वात् । **अथ** यस्मिन् सत्यग्रिमक्षणे यस्य सत्त्वं यद्व्यतिरेके चाऽसत्त्वं तत्तस्य जन्यम्, न चेदं सदसत्कार्यवादे सम्भवि हेतुसत्त्वे कार्यसत्त्वसम्भवेऽपि तद्व्यतिरेकेण तद्व्यतिरेकाऽसम्भवादिति **चेत् ? न**, साध्यत्वेन यदभिमतं तत्प्रतियोग्यनुयोगिभावसम्बन्धाश्रयो यः प्रागभावस्तन्नाशकस्वस्वव्याप्यस्वाभावेतरसकलसमवधाने यत्सत्वे यत्सत्त्वं यद्व्यतिरेके च यद्व्यतिरेक इत्येतावतो विवक्षाऽवश्यकी । अन्यथा परस्य दुःखप्रागभावस्य प्रायश्चित्ताऽसाध्यतापत्तेस्तथापि तादृशसम्बन्धाश्रयघटप्रागभावनाशकयावत्समवधाने रासभसत्त्वे घटसत्त्वं तादृशसम्बन्धाश्रयघटनाशकोक्तयावत्समवधाने च रासभाऽसत्त्वे घटसत्त्वमिति घटे रासभकार्यतापत्तिः ।

न च 'यादृशसम्बन्धाश्रययत्किञ्चित्पदार्थनाशकोक्तयावत्समवधाने यत्सत्त्वे यत्सत्त्वं तादृशसम्बन्धाश्रयतन्नाशकोक्तयावत्समवधाने तद्व्यतिरेके तद्व्यतिरेक' इति विवक्षणान्नोक्तापत्तिरत एवान्वयव्यतिरेकदलद्वयघटनापीति **वाच्यं**, लाघवेन नाशकत्वमप्रवेश्य तादृशसम्बन्धाश्रययत्किञ्चित्पदार्थस्वस्वव्याप्यस्वाभावेतरयावत्कारणसमवधान इत्यादेर्वाच्यत्वे नाशकत्वपर्यन्तमप्रवेश्य स्वस्वव्याप्येतरसकलकारणसमवधाने यद्धर्मावच्छिन्नसत्त्वे यद्धर्मावच्छिन्नसत्त्वं यद्धर्मावच्छिन्नव्यतिरेके च यद्धर्मावच्छिन्नव्यतिरेकस्तद्धर्मावच्छिन्नं तद्धर्मावच्छिन्नजन्यमित्यत्र पर्यवसितेऽपि सप्तम्यर्थप्रयुक्तत्वस्य स्वरूपसम्बन्धविशेषरूपत्वे कार्यत्वस्यैव तथात्वौचित्यात्, तादृशस्यैव लघुनस्तस्य जन्यभावत्वादिना नाशत्वाद्यवच्छिन्ननिरूपितकारणताघटकत्वौचित्यात् । **अस्माकं** तु परिणामविशेष एव कार्यत्वं, तच्च सदसत्कार्यवाद एव सम्भवति, सर्वथा सतः सर्वथाऽसतो वा परिणम्यपरिणामकभावाऽभावात् । **अत एव** सामग्र्या आद्यक्षणसम्बन्धरूपफलाधानानुपपत्त्या तन्नैरर्थक्यमपि **प्रत्याख्यातं**, तद्धर्मविशिष्टाऽऽद्यक्षणसम्बन्धरूपफलस्य निरपायत्वात् ।

'अभूत्वा भावित्वं कार्यत्वमि'ति तु सहस्रशो दूषितमाकरे । न ह्यभावोत्तरभावयोगित्वं तदर्थः, समयसम्बन्धस्य भावपदार्थत्वेऽतिप्रसङ्गात् । उत्पत्तेस्तदर्थत्वे तु पूर्वदलवैयर्थ्यापातात् ।

अभावपदस्य प्रागभावपरतया क्त्वार्थे तदाश्रये भावयोगित्वस्य विशिष्टे वैशिष्ट्यमिति रीत्याऽन्वयात्प्रागभावप्रतियोगित्वस्य पर्यवसितस्य तस्य प्रागभावेऽव्याप्तेश्च ।

[प्रागभावविषये मीमांसकमतिः]

अत्र **मीमांसका**नुयायिनः—प्रागभाव एव मानाभावः । न च 'घटो भविष्यती'त्याद्यध्यक्षमेव तत्र मानं तस्य वर्त्तमानकालानन्तरकालोत्पत्तिविषयत्वात् । **न च**ोत्पन्न—पुनरुत्पादवारणाय तादात्म्येन कार्यत्वावच्छिन्ने प्रतियोगितया प्रागभावत्वेन हेतुत्वात्तत्सिद्धिरिति **वाच्यं**, जन्यद्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नं प्रति द्रव्यत्वावच्छिन्नाऽभावादेर्हेतुत्वात्, अव्याप्यवृत्तिकार्ये समानावच्छेदकतया तदभावस्य हेतुत्वेनाऽदोषात्, निर्विकल्पकत्वस्य कार्यताऽनवच्छेदकत्वे चतुर्थक्षणे निर्विकल्पकापत्तेरसम्भवात् ।

वस्तुतः सामग्रीसमयध्वंसाधिकरणध्वंसाऽनधिकरणत्वे सति सामग्रीसमयध्वंसाधिकरणत्वस्यैवोत्पत्तिव्याप्यत्वं नान्यादृशस्य सामग्र्यव्यवहितोत्तरत्वस्याऽप्रयोजकत्वादिति न द्वितीयादिक्षणेषु तदापत्तिः । **यत्तु**—लाघवेनाऽभावांशमप्रवेश्य जन्यत्वावच्छिन्नं प्रत्येव प्रतियोगित्वेन हेतुत्वात्प्रागभावसिद्धिरिति, **तदसत्**, अत्यन्ताभावेन तदजनने व्यभिचारात्, प्रतियोगिनो नाशहेतुत्वस्यान्यत्र दूषितत्वाच्च । **ननु** शततन्तुषु भाविनः पटस्य द्विचतुरादितन्तुसंयोगेनोत्पत्त्यापत्तिवारणाय तत्पटप्रागभावव्याप्ययावत्संयोगत्वेन तत्पटत्वावच्छिन्नहेतुत्वात्प्रागभावसिद्धिरिति **चेत् ? न**, तत्पटव्याप्ययावत्संयोगत्वेन हेतुतया तदापत्तिवारणात् । वस्तुतः कालिकसम्बन्धेन चरमसंयोगस्य विशिष्य हेतुत्वादेव न कालिकातिप्रसङ्ग इति ।

ननु—"तथापि देशनियमाय प्रागभावसिद्धिः, शततन्तुकपटनाशेन यत्र पञ्चाशत्तन्तुकपटद्वयोत्पत्तिस्तत्र पञ्चाशत्तन्तूनां, यत्र च शततन्तूनां युगपत्संयोगैः शततन्तुकोत्पत्तिस्तत्र तावत्संयोगानां विशिष्य हेतुत्वे गौरवात् । **न चाद्ये** चरमसंयोगशततन्तुकनाशयोः स्वसमानाधिकरणान्यतमत्वसंसर्गेण, अन्त्ये च तावत्संयोगमात्रवृत्तिजात्या तत्कालावच्छिन्नान्यतमत्वसंसर्गेण हेतुत्वान्नोक्तापत्ती इति **वाच्यम्**, आकाशाद्युदासीनमादायान्यतमत्वस्य नानात्वात् । **अत एव** बहुत्वविशेषस्य हेतुत्वमपि **परास्तं**, अवयविपरिमाणार्थमतीन्द्रियस्येश्वराऽपेक्षाबुद्धिजन्यस्य तस्य वाय्वादौ सम्भवतोऽप्याकाशादिकमादाय नानात्वात् । न च 'तत्कालावच्छिन्नतद्घटाद्यवच्छिन्नविशेष्यतयाऽनतिप्रसक्तस्योपादानप्रत्यक्षस्य विशिष्य हेतुत्वादुक्तदोषोद्धारः,' इच्छाकृतिभ्यां विनिगमनाविरहात् । **न च** ज्ञानेच्छाकृतिव्यासक्तावच्छेदकतावत्त्वेन समवेतत्वसम्बन्धेनेश्वरविशिष्टत्वेन वा त्रयमनुगमय्यैकमेव हेतुत्वमिति **वाच्यं**, तादृशावच्छेदकताकल्पने गौरवात्, नित्यज्ञानादिमत्त्वरूपेश्वरत्वस्य नानात्वाच्च । **न चात्रे**श्वरो न विशेषणं किन्तूपलक्षणमिति **वाच्यं**, तथाप्युक्तबहुत्वविशेष–संयोगविशेषाभ्यां प्रत्येकं विनिगमनाविरहात् । न च प्रागभावेऽपि किन्नैष इति **वाच्यं**, धर्मिग्राहकमानेन तस्य कारणत्वेनैव सिद्धेरिति"—**चेत् ?**

अत्राहुः–उपादानप्रत्यक्षस्योक्तसम्बन्धेन हेतुत्वेन कल्पतेनैवोपपत्तावतिरिक्तकल्पनाऽनौचित्यम् । अतिरिक्तप्रागभावतत्कारणत्वानन्ततत्सम्बन्धादिकल्पने गौरवादिति । अस्तु वावच्छिन्नसमवेतत्वेन तत्तद्व्यक्तिविशिष्टत्वावच्छिन्ने तत्तद्व्यक्तित्वेन, तत्क्षणवृत्तिकार्ये च तत्पूर्वक्षणत्वेन हेतुत्वादुक्तदोषोद्धारः, इति न प्रागभावसिद्धिः ।

केचित्तु–"तत्तत्पटादिहेतुः कश्चिदनादिभाव एवाऽस्तु तस्याऽभावत्वे प्रतियोग्यनुयोगिभावकल्पने गौरवात् । न चानादेर्भावस्य नाशाऽनुपपत्तिस्तादृशाभावस्येव तादृशभावस्यापि नाशसम्भवात् । तन्नाशश्च पटादिरूपो वाऽतिरिक्तो वेत्यन्यदेतत् । न च ध्वंसप्रतियोगित्वे सति सत्त्वस्य समवेतत्वस्य वा द्रव्यजन्यतावच्छेदकत्वात्तस्याऽनादित्वानुपपत्तिः, जन्याभावप्रतियोगित्वापेक्षया लघुनो जन्यत्वस्यैव तत्कार्यतावच्छेदकताघटकत्वात् । 'ध्वंसत्वमखण्डोपाधि'रिति **चेत् ?** जन्यत्वमेव किं नेदृशम् ? **एतेन** जन्यभावस्य नाशं प्रति हेतुत्वात्कार्यघटितरूपेणान्यथासिद्धेर्जन्यत्वस्य ध्वंसप्रतियोगित्वरूपस्याऽनिवेश्यतया प्रागभावप्रतियोगित्वरूपस्यैव तस्य निवेशात्प्रागभावतदभावत्वसिद्धिरि'**त्यपास्तम्**, अतिरिक्तभावयोगित्वरूपतन्निवेशौचित्याच्चे"–**त्याहुः । तन्न**, अतिरिक्तभावयोगित्वस्य तज्जन्यत्वात्मकस्य प्रतियोगित्वाऽपेक्षया गुरुत्वात् । 'निरूपकत्वरूपस्याप्रतियोगित्वतुल्यत्वे भावत्वाऽभावत्वाभ्यां विनिगमनाविरहेण तस्याऽनिर्वाच्यत्वमेवास्त्वि'ति **चेत् ? न**, तत्र द्रव्यादिसप्तकभेदकल्पनाऽनौचित्यात् ।

महोपाध्यायस्तु–'नानामिथ्याज्ञानवासनानामदृष्टजनकत्वकल्पनमु[म]पेक्ष्याऽऽद्यतत्त्वज्ञानप्रागभावस्य तद्धेतुत्वौचित्यात्प्रागभावसिद्धिरि'**त्याह** । तत्रायं महतोऽभिप्रायः, आद्यत्वं हि न स्वसमानाधिकरणतत्त्वज्ञानप्रागभावनाशाऽवृत्तित्वं येन स्वत्वस्य नानात्वेन पुरुषभेदेन कारणता भिद्येत, किन्तु सामानाधिकरण्यकालिकोभयसम्बन्धेन तत्त्वज्ञाननाशविशिष्टान्यत्वमनुगतमेव तत् । **न चोक्त**नानावासनासु तत्त्वज्ञाननाश्यतावच्छेदकतया तत्त्वज्ञानाऽऽहित-दृढतरवासनानाश्यतावच्छेदकतया वा सिद्धया जात्यैवाऽदृष्टहेतुत्वमस्तु, अवच्छेदकलाघवादिति **वाच्यम्**, तादृशजातितन्नाशकत्वादिकल्पने गौरवात् ।

नन्वेवमस्तु तत्त्वज्ञानं तत्र प्रतिबन्धकमेवेति **चेत् ? न**, तत्त्वज्ञानकालेऽपि घटावच्छेदेन तदभावसत्त्वात्, प्रतियोगिव्यधिकरणतदभावस्य हेतुत्वे गौरवात् । **ननु** तत्कालावच्छिन्नाऽदृष्टावच्छिन्नविशेष्यतयेश्वरीयाणां हेतुत्वेनैवाऽनतिप्रसंग इति **चेत् ? न**, एवं सत्येककारणपरिशेषापातात् । अदृष्टं प्रत्यदृष्टप्रागभावहेतुतयैवाऽनतिप्रसंग **इत्यप्याहुः** ।

अदृष्टस्यानतिरेके तु यत्किञ्चिदेतत् । वेगादिक्रियया शाखाद्यवच्छेदेनैव संयोगजननात्समानावच्छेदकत्वप्रत्यासत्त्या तन्नियामकप्रागभावसिद्धिर्नानावच्छेदकानां विशिष्य हेतुत्वे गौरवात् । 'एकशाखाऽवच्छेदेन नानासंयोगेषु नानाप्रागभावानां बहूनां हेतुत्वे गौरवात् शाखाद्यव-

च्छिन्नसंयोगे शाखात्वादिनैव हेतुत्वं युक्तमि'ति **चेत् ? न,** तथाप्यवच्छेदकतया संयोगमात्रं प्रति क्रियादेः स्वजन्यप्रतियोगिकप्रागभावावच्छेदकत्वसम्बन्धेन हेतुतयापि तत्सिद्धेः । 'अन्यजन्यीयप्रागभावस्याऽन्याऽसम्बन्धत्वान्नातिप्रसङ्ग'इति **चेत् ? न,** आभिमुख्यसम्बन्धेन तत्तत्क्रियाया एव तत्तदवच्छिन्नसंयोगनियामकत्वात् । अननुगतस्वत्वघटितसम्बन्धेन तवापि नानाहेतुत्वावश्यकत्वात् । 'अनन्तप्रागभावकल्पनापेक्षया तत्रैकाभिमुख्यसम्बन्धकल्पनैवोचिते'त्यप्याहुः । 'स्वभावत एव संयोगादेः प्रादेशिकत्वनियम' इत्यपि **कश्चित्** ।

'तद्देशावच्छिन्नसंयोगावच्छिन्नविशेष्यतयेश्वरीयाणां तन्नियामकत्वमि'त्यन्ये । 'नीलाभावादिषट्कस्य चित्ररूपं प्रति हेतुत्वे गौरवाच्चित्रप्रागभावस्यैकस्यैव चित्ररूपहेतुत्वौचित्यात्तत्सिद्धि'रिति **चेत् ? न,** पाकेन भवि चित्रे नीलादिमति घटे तदापत्तिवारणाय कार्यसहभावेन चित्रेतररूपाभावस्यैव चित्रहेतुत्वात् । प्रागभावपदप्रयोगविषयस्तु प्रतियोगिदेशप्रतियोगिपूर्वकालवृत्तित्वविशिष्टाऽत्यन्ताभाव एव , पूर्वत्वं च तदनधिकरणत्वे सति तद्ध्वंसाऽनधिकरणत्वादिकं प्रागभावाऽघटितमिति न कोऽपि दोष इत्याहुः ।

[प्रागभावविषये स्याद्वादिमतम्]

वयं तु ब्रूमः । पटपूर्वकालवृत्तित्वविशिष्टाः पटवत्तन्तवस्तद्देशपटवत्तन्तुत्वमेव वा पटप्रागभावपदप्रयोगविषयो न पुनरतिरिक्ताभावः, क्लृप्तेनोपपत्तावतिरिक्तकल्पने गौरवात् । उपादानकारणत्वं तु तन्तुत्वेनैव, न तु विशिष्टतन्तुत्वेन, गौरवात् । तदुत्तरसमयपरिणामे च तत्पूर्वसमयस्य नियामकत्वान्नातिप्रसङ्ग इति **दिग्** ।

ननु तथापि सत्त्वाऽसत्त्वाभ्यामनिर्वाच्यमेवास्तु वस्त्विति **चेत् ? न,** अनिर्वाच्यपदेनैव तस्य निर्वाच्यत्वात् । अयुगपदर्पणया सदादिपदादपि तद्बोधस्याऽनुभविकत्वात् । अनिर्वचनीयख्यातेः **सप्रपञ्चमाकरे** निरस्तत्वाच्चेति किमतिप्रसक्ताऽनुप्रसक्त्या ।

स्यादेतत्–संयुक्ताणुद्वयादिकमेव द्व्यणुकादिकं, अतिरिक्ताऽनंताऽवयव्यादिकल्पने गौरवात् । अणुकत्वादिघटकविजातीयसंयोगानां तु द्रव्यसाक्षात्कारत्वावच्छिन्नं प्रति हेतुत्वम् । न च विजातीयसंयोगं विनापि गुणादौ द्रव्यसाक्षात्कारोदयाद्व्यभिचारो द्रव्यनिष्ठलौकिकविषयतायाः कार्यतावच्छेदकसम्बन्धत्वेन तदुद्धारात् । **एतेन** द्रव्यसाक्षात्कारत्वस्य तत्कार्यतावच्छेदकत्वे मूर्त्तसाक्षात्कारत्वादिना विनिगमनाविरहः, स्वाश्रयविषयितासम्बन्धं कार्यतावच्छेदकतावच्छेदकीकृत्य द्रव्यत्वादेस्तथात्वेऽपि मूर्त्तत्वादिना स एव दोष' **इत्यपास्तम्** , उक्तसम्बन्धेन जन्यसाक्षात्कारत्वस्यैव तत्कार्यतावच्छेदकत्वात् । **अत एव**'द्रव्यत्वापेक्षया द्रव्यसाक्षात्कारत्वं गुरु, न तथाऽवयवादिकल्पना, गौरवं तु फलमुखत्वान्न दोष' इत्यपि **निराकृतं**, जन्यद्रव्यत्वजन्यसाक्षात्कारत्वयोस्तुल्यत्वात् ।

इत्थं च–"द्रव्यमात्रं सर्वथा नित्यमस्तु । **न चैवं** तन्तूनामेव पटत्वा'त्तन्तौ पट'इति प्रत्ययो न स्यादिति **वाच्यं,** फलबलेन विलक्षणसंयोगवत्त्वरूपपटत्वादिर्विशिष्टाधारताऽवच्छेदकत्वस्य विलक्षणसंयोगवत्त्वरूपतन्तुत्वे स्वीकारात् । अत एव न तन्तु–पटपदयोः पर्यायतापि, विलक्षणसंयोगवत्त्वरूपशक्यतावच्छेदकभेदात् । 'तन्तुसंयोगात्पट उत्पन्न' इति प्रतीतिस्तु भ्रम एव । 'पट उत्पन्न' इत्यादिप्रतीतिस्तु पटत्वादिघटकसंयोगोत्पादमात्रमवगाहते । पट इत्यत्रैकत्वं पुनरौपचारिकम् । 'तन्तुः पट' इति प्रतीतिस्तु 'वृक्षा वनमि'तिवदेव नोदेति । 'पटस्तन्तव'इति प्रतीतिस्त्वेकत्वधर्मितावच्छेदककबहुत्वप्रकारिका सतीच्छाविशेषमपेक्षते । 'एकत्र द्वयमि'ति न्यायेन तदन्वयबोधापादने शब्दाऽसाधुत्वमेव वेति" **पूर्वपक्षसंक्षेपः** ।

अत्रोच्यते । जन्यसाक्षात्कारजनकतावच्छेदकसंयोगवृत्तिजात्यन्तरकल्पने परस्य **गौरवं,** मनोऽन्यमूर्त्तरूपसमवायिकारणकार्यताऽवच्छेदकतया जन्यद्रव्यत्वघटकसंयोगमात्रवृत्तिजात्यन्तरस्याऽऽवश्यकतया तस्यास्तत्स्थानाभिषेकाऽनौचित्यात् । अन्यथाऽऽकाशादौ जन्यद्रव्यत्वघटकसंयोगापत्तेर्दुर्निवारत्वात् । किञ्चोक्तवैजात्यवदवयवसंयोगस्यात्मन्यसम्भवाद् व्यभिचार इति विजातीयैकत्वस्यैव तद्धेतुत्वौचित्यमिति । किञ्च पटत्वस्य विजातीयसंयोगरूपत्वे तन्निर्विकल्पकाऽसम्भवेनाऽऽद्यपटत्वविशिष्टप्रत्यक्षानुपपत्तिस्तन्त्वादिभेदग्रहं विनाऽनुभूयमानपटत्वादिप्रतीत्यपलापाऽऽपत्तिश्च । अपि चैवं दण्डादौ घटसाधनताज्ञानेन प्रवृत्तिर्न स्यात् ।

अथ विजातीयसंयोगत्वमेव घटत्वं, युक्तं चैतत्, कथमन्यथा घटत्वस्य जातित्वं, मृत्त्व–स्वर्णत्वादिना सांकर्यात् ! **न च** कुलालादिजन्यतावच्छेदकतया मृत्त्वस्वर्णत्वादिव्याप्यतन्नानात्वमेव युक्तं, अनुगतधीस्तु कथञ्चित्सौसादृश्याद्, घटपदं त्वक्षादिपदवन्नानार्थकमिति **वाच्यम्,** कुम्भकारादेर्विजातीयकृतिमत्त्वेन तत्त्वे घटत्वस्यैकत्वौचित्यादिति **चेत्? न,** एवं सत्यपि घटवति भूतले **'संयोगेन घटो नास्ती'**ति प्रतीतेः प्रमात्वापाताद्, **'घटः पटसंयुक्त'** इति प्रतीतेरप्रमात्वापाताच्च ।

वस्तुतोऽवयवाऽवयविनोरभेदेऽपि यौक्तिक एव भेदः, समवायिस्थानीयतादात्म्यस्य भेदानुल्लङ्घित्वात् । **न च** तदात्मैव तदात्म्यमिति तत्स्थानीयमेव(त)न्न तु समवायिस्थानीयमिति **वाच्यम्,** सर्वथा तदात्मनस्तद्रूपत्वेऽपि कथञ्चित्तदात्मनः समवायिस्थानीयस्यैव युक्तत्वात्परमार्थतो भेदाभेद एव समवायस्थानीय इति प्रागुक्तं युक्तमिति दिग् ।

[सत्त्वस्याऽनित्यत्वपक्षे दोषाविर्भावः]

अथाऽनित्यत्वैकान्तपक्षेऽपि दोषमाविर्भावयन्ति–**स्यातामिति । एकान्तनाशे**=नित्यत्वाऽसम्भिन्ननाशे, **कृतस्य नाशो**=ऽकृततुल्यता । **बौद्धमते** हि वस्तुनः सर्वस्य क्षणिकत्वादुत्पत्तिसमनन्तरमेव घटस्य नाश इति जलाहरणादिफलाऽभाजनीभूतस्य तस्य सञ्जातलघुप्रोषितपारदे-

शिकसप्रणयप्रणयिरिरंसाऽऽतुरप्रणयिनीमनोविनोदसोदरत्वात् । तथाऽ**कृतस्यागमः**=फलकालो-पस्थितिः । यद्वि कुम्भकारादिना घटादिकं निरमायि तेन तु दुर्जनमनःप्रणयपरंपरावत्तदानीमेव दध्वंसे, तथा च जलाहरणादिक्रियासु व्याप्रियमाणेन तेनाऽकृतेनैवोपस्थातव्यमिति दूषणद्वयमिदं बौद्धबुद्ध्युपनीतकाकुव्याकुलीकरणप्रवणं प्रसज्येतेति भावः ।

इदमप्यत्र विचार्यते—किं क्षणभिदेलिममेव भुवनमन्यादृशं वा ?

[क्षणिकवादिबौद्धपूर्वपक्षः]

तत्र **बौद्धः**—"मुद्गरादिसमवधानदशायां घटादेर्यन्नश्वरस्वरूपं वरिवर्ति तत्प्रागप्यवर्तिष्ट न वा ? **आद्ये**ऽनायासेनैव सिद्धा क्षणभङ्गुरता, नश्वरस्वभावस्योत्पत्तिसमनन्तरमेव नाशसम्भवात् । **अन्त्ये** स्वभावहान्यापत्तिः । किञ्च, तत्तत्क्षणावच्छेदेन तत्तद्घटादेः प्रध्वंसाऽप्रतियोगित्वकल्पनामपेक्ष्य तत्तत्क्षणानां तत्तद्घटध्वंसाऽनाधारत्वकल्पनामपेक्ष्य वा तत्तत्क्षणावच्छेदेन तत्तद्घटादेः प्रध्वंसप्रतियोगित्वस्य तत्तत्क्षणानां तत्तद्घटध्वंसाऽऽधारत्वस्य वा कल्पनैव लघीयसी । न चैवमुत्पत्तिक्षणेऽपि नाशप्रसङ्गः, असतो नाशाऽयोगात् । **वस्तुत**स्तत्तत्क्षणेष्वेवास्तु घटत्वपटत्वादिकम् । न च संकरो, वासनाकृतविशेषेण तन्निरासात् । अत एव न स्थितिकाले 'घट उत्पन्नो, घटो ध्वस्त' इत्यादिप्रतीतिः, विशिष्टोत्पाद–ध्वंसयोर्विशेषणसत्त्वविरुद्धत्वात् । न च 'स एवायं घट' इत्यभेदप्रत्यभिज्ञा क्षणिकत्वे बाधिका, तस्यास्तज्जातीयाभेदविषयकत्वात् । किञ्च नित्यस्य सतो वस्तुनः सर्वदाऽर्थक्रियाकारित्वापत्तिः, स्वतः सामर्थ्याऽसामर्थ्याभ्यां परोपकाराऽनवकाशात् । 'स्वतः समर्थमपि तत्कारणान्तरसहकृतमेव कार्यमुपदधाती'ति **चेत् ? न**, कार्यानुपधानसमये सामर्थ्ये मानाऽभावात्, कुर्वद्रूपस्यैव कारणत्वात् । सामग्र्या उपधायकत्वे तत्रापि सामग्र्यन्तरपरम्परापेक्षणेऽनवस्थाप्रसङ्गात् । यावत्कारणसमवधानरूपायास्तस्या अपेक्षया कुर्वद्रूपस्यैवोपधानव्याप्यत्वौचित्याच्च । तस्माद्वस्तुनो दूरयुक्तिमार्गयियासुनः क्षणविश्राम एवोचित"—इति ।

[क्षणिकवादनिरसनम्]

तदतिजरत्तरं, विनाशस्वभावशालित्वेन क्षणिकत्वे स्थितिस्वभावशालित्वेन नित्यत्वस्याप्यापत्तेः । 'स्थितिप्रत्ययो भ्रान्तो, विनाशप्रत्ययः पुनः प्रमे'ति तु निजप्रणयिनीमनोविनोदमात्रं, उभयत्र तुल्ययोगक्षेमत्वात् । तस्मात्पर्यायात्मना सर्वमनित्यं सदपि द्रव्यात्मना नित्यमेवेत्यकामेनापि प्रतिपत्तव्यम् । न च ध्वंसप्रतियोगित्वाऽकल्पने तदभावकल्पनमवलम्ब्य **गौरवमुद्भाव्यमतिप्रसङ्गात्** । वासनायाश्च ध्रुवत्वे नामान्तरेण द्रव्यमेवाऽभ्युपेतवान् भावान् कृतान्तञ्च कोपितवान् । अध्रुवत्वे तु किमनयाऽजागलस्तनायमानया ? कुर्वद्रूपत्वेन तु न कारणता, तस्य घटोत्पत्तेः प्रागपरिचयादिष्टसाधनताज्ञानविलम्बाद् घटार्थिनो दण्डादौ प्रवृत्त्यनापत्तेरिति **दिग्** ।

अथ 'जन्यस्य सतो नाशसामग्रीसत्त्वान्नाश एव सम्भवी, तत्र द्रव्यनाशं प्रति निमित्तेतरकारणनाशत्वेन कारणता, क्वचित्समवायिकारणनाशात्, क्वचिदसमवायिकारणनाशाच्च कार्य-

नाशादन्यथा व्यभिचारादिति **प्राञ्चः**। **तन्न**, तयोः कारणतावच्छेदकसम्बन्धभेदेन कारणताभेदाऽऽवश्यकत्वात्, कपालसंयोगादेरपि किञ्चित्कार्यं प्रति निमित्तत्वात्, तत्तद्द्रव्यनिमित्तेतरत्वदानेऽननुगमाच्च। **न च** द्रव्यनाशत्वावच्छिन्नं प्रति स्वप्रतियोगिनिमित्तेतरकारणप्रतियोगिकत्वसम्बन्धेन नाशवन्नाशत्वेन हेतुत्वे नाऽननुगम इति **वाच्यं**, तथापि द्व्यणुकादिनाशं प्रति परमाणुद्वयसंयोगादीनां विशिष्याऽन्वयव्यतिरेकानुविधानात्, सामान्यत एव द्रव्यनाशत्वावच्छिन्नं प्रति विजातीयसंयोगनाशत्वेन कारणत्वकल्पनौचित्यात्। कारणीभूतनाशप्रतियोगिसंयोगे वैजात्यञ्च जन्यद्रव्यजनकतयैव सिद्धं निवेश्यम्। **न चा**ऽवश्यस्वीकार्यैर्घटादिजनकतावच्छेदककपालसंयोगादिनिष्ठजातिविशेषैरेवोपपत्तौ सामान्यतो जन्यद्रव्यजनकतावच्छेदकजातौ मानाऽभाव इति **वाच्यं**, संयोगविशेषेण द्रव्यान्तरं जनयत्सु कपालेषु कपालत्वस्यैवाऽस्वीकारात्।

द्व्यणुकादिलक्षणकिञ्चिदवयवापगमात् खण्डकपालोत्पत्त्योत्तरकाले ततो घटजननसम्भवात् घटत्वावच्छिन्नं प्रति सामान्यतः कपालत्वेन हेतुत्वे बाधकाभावात् द्रव्यान्तरजनककपाले घटप्रागभावाभावादेव न घटोत्पत्ति'रित्य**न्ये**। 'अस्तु घटादिजनकतावच्छेदको जातिविशेषः संयोगे, तथापि जल–ज्वलन–पवनादिजनकतावच्छेदकजातौ मानाऽभावस्तादृशजात्याश्रयजलादिसंयोगे सति जलाद्युत्पत्तौ विलम्बाऽभावादि'त्य**परे**। न च संयोगकर्मजन्यतावच्छेदकजातिभ्यामभिघातत्वनोदनात्वाभ्यां च परापरभावानुपपत्तेस्तत्र मानाऽभावः, तासामेतद्व्याप्यत्वोपगमात्। न च विनिगमकाभावः द्रव्यजनकतावच्छेदकजातेर्नोदनात्वादिव्याप्यत्वे हि तदाश्रयजन्यद्रव्ये जातिविशेषो वाच्यः, सोऽपि विशेषो घटत्व-पटत्वादिना संकरभिया तद्व्याप्यः स्वीकार्यः, इत्यनन्तकार्यकारणभावापत्तेरभिघातत्वाऽऽदीनां नानात्वे च कर्मादिनिष्ठतज्जन्यतावच्छेदकजातिचतुष्टयमात्रस्यैव कल्पनादि**त्याहुः**।

अथ कपालादिसमवेतरूपनाशत्वादिकं कपालादिसमवेतगुणनाशत्वादिकं वा न कपालनाशादिजन्यतावच्छेदकं पाकविभागादितोऽपि रूपसंयोगादीनां नाशेन व्यभिचारात्। किन्तु कपालनाशविशिष्टप्रतियोगिकनाशत्वं तथा, वैशिष्ट्यञ्च स्वप्रतियोगिसमवेतत्वकालिकोभयसम्बन्धेन बोध्यं, तेन कपालनाशाऽप्रतियोगिन्यपि कालिकेन कपालनाशविशिष्टतन्तुरूपनाशस्य कपालनाशं विनापि च विभागादितः स्वप्रतियोगिसमवेतसंयोगादिनाशस्य जायमानत्वेऽपि न **क्षतिः**। **वस्तुतः** प्रतियोगितया स्वप्रतियोगिसमवेतत्वस्वाधिकरणत्वोभयसम्बन्धेन नाशवन्नाशत्वावच्छिन्नं प्रति स्वप्रतियोयोगिसमवेतत्वसम्बन्धेन द्रव्यनाशत्वेनैव हेतुत्वं, न कपालनाशत्वादिना, गौरवात्। इति कपालादिसमवेतरूपादिनाशवद्घटादिनाशोऽपि समवायिकारणनाशादेवेति **चेत्? न**, सामान्यतोऽसमवायिकारणनाशस्य हेतुत्वे क्लृप्ते कपालादिनाशोत्तरमसमवायिकारणनाशे सत्येव घटादिनाश इति कल्पनान्निरधिकरणस्य घटादेः क्षणमात्रमिव क्षणद्वयमप्यवस्थितौ बाधकाभावात्।

अत्र केचित्—विजातीयसंयोगनाशस्य द्रव्यनाशत्वं न जन्यतावच्छेदकं, मूर्त्तनाशत्वभूतनाशत्वादिना विनिगमनाविरहात्, किन्तु स्वाश्रयसमवेतत्व कालिकोभयसम्बन्धेन स्वविशिष्टप्रतियोगिकनाशत्वमेव तथेति घटादेस्तेन सम्बन्धेन स्वाऽविशिष्टत्वान्न विजातीयसंयोगनाशनाश्यत्वं अन्यथा कपालरूपादेरपि तथात्वापत्तेरित्याहुः । तच्चिन्त्यं मूर्त्तनाशत्वस्यैव लघुनो विजातीयसंयोगनाशजन्यतावच्छेदकत्वात् , न चोक्तदोषाऽनुद्धारः, सम्भवति क्लृप्ताऽगुरुविशेषधर्मे सामान्यधर्मस्य कार्यताद्यनवच्छेदकत्वादित्येके ।

वस्तुतस्तु विजातीयसंयोगनाशस्य स्वप्रतियोगिकनाशत्वमेव कार्यताऽवच्छेदकम् । **न च** संयोगनाशत्वेनैवास्तु हेतुत्वं, उक्तसम्बन्धनिवेशेऽनतिप्रसङ्गादिति **वाच्यं**, तथा सति तुरीतन्तुसंयोगनाशादपि पटनाशापत्तेः । इत्थञ्च सर्वत्राऽसमवायिकारणनाशादेव कार्यनाश इति । युक्तं चैतदन्यथा परमाण्वादिषु पूर्वपूर्वाऽसमवायिकारणनाशसत्त्वाऽऽपादितद्व्यणुकादिक्षणिकत्वपरिहाराय तत्तद्द्रव्यनाशं प्रति तत्तत्संयोगनाशानां विशिष्याऽनन्तकार्यकारणभावकल्पने महद्गौरवात् । याभ्यां तन्तुभ्यां कपालाभ्यां वा संयोगविशेषेण न खण्डपटादिरारब्धस्तत्रैव सामान्यकारणताऽवकाशात् । यदि तु नाश्यनिष्ठतयैव नाशकत्वकल्पनौचित्यं तदापि द्रव्यीयत्वविशिष्टप्रतियोगितया नाशत्वावच्छिन्नं प्रति स्वप्रतियोगिजन्यतया विजातीयसंयोगनाशस्य हेतुत्वे न दोषो, द्रव्यीयत्वविशिष्टप्रतियोगिताया एव मूर्त्तीयत्वविशिष्टत्वात् ।

इत्थं च द्रव्यनाशत्वाद्यवच्छिन्नं प्रति स्वप्रतियोगिजनकत्वसम्बन्धेन स्वविशिष्टविजातीयसंयोगनाशत्वेन हेतुतया विनिगमनाविरहोऽपि **निरस्त** इति **दिग्** । विजातीयरूपादिनाशे च विजातीयतेजःसंयोगादिकं हेतुरिति जन्यमात्रं सर्वथाऽनित्यमेवेत्येकान्तोऽपि न कान्तः, घटादिपर्यायाणामपि द्रव्यार्थतया ध्रुवत्वात् । प्रतियन्ति हि लोका अपि 'घटत्वेन घटो नष्टः, न तु मृत्त्वेने'ति । उपादानोपादेययोर्भेदाभेदस्तु निपुणतरमुपपादित एवेति किमित्याम्रेडितविस्मरणशीलताऽऽयुष्मत इति ।

श्रीहेमसूरिवाचामाचामति चातुरीपरविचारम् ।व्याख्याताऽऽद्यश्लोकस्तां परिचिनुते **यशोविजयः**॥१

सत्केवलप्रकाशेन भुवनाभोगभास्वते । भद्रंकराय भक्तानां वामेयाय नमो नमः ॥२॥

[आत्मनित्यत्वशंका]

ननु भवतु कदाचिद् बाह्यवस्तुनो नित्याऽनित्यत्वं, प्रमातुस्तु नित्यत्वमेव युक्तं तस्याऽनित्यत्वे मानाऽभावात् । न चाऽनित्यज्ञानाद्यभेदात्तस्य तथात्वं, तथा सति दुःखाभेदाद्दुःखध्वंसस्याऽप्यात्मध्वंसरूपत्वात्तदर्थिनो यमनियमादौ प्रवृत्तिर्न स्याद् दुःखध्वंसत्वस्य चरमदुःखध्वंसत्वस्य वा काम्यताऽवच्छेदकत्वे दुःखध्वंसे आत्मध्वंसाऽभेदज्ञाने तत्साधनीभूतयमनियमादौ बलवदनिष्टाऽननुबन्धीष्टसाधनत्वस्य ज्ञातुमशक्यत्वात् । **न चाऽऽ**त्मत्वावच्छिन्नध्वंसत्वमेव चार्वाकादिमतप्रसि-

द्धमनिष्ठताऽवच्छेदकं विजातीयसुखत्वमेव वा काम्यतावच्छेदकमिति न दोष इति **वाच्यं**, तथापि 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे(तै०आ०)ति श्रुत्या नित्यसुखादिनैव सममभेदबोधात्तस्य नित्यत्वस्यैवौचित्यात् । अनित्यसुखादेरविद्यानिबन्धनत्वेनाऽऽत्मानुपादेयत्वात् । न च सुखत्वावच्छिन्नं प्रति धर्मत्वेन हेतुत्वान्नित्यसुखाऽनुपपत्तिः, उक्तश्रुतिबलान्नित्यसुखसिद्धौ जन्यसुखत्वाऽवच्छिन्नं प्रत्येव तद्धेतुत्वात् ।

वस्तुतो विजातीयधर्मत्वेन विजातीयसुखत्वावच्छिन्नहेतुत्वान्न धर्मत्वेन सुखत्वावच्छिन्नहेतुता । **अथ** श्रुतिबोधिततत्तत्कर्म्मणामेव स्वजन्याऽदृष्टसम्बन्धेन विजातीयसुखत्वाद्यवच्छिन्ने हेतुता युक्ता न तु प्रागुक्ता विजातीयसुखं प्रति विजातीयधर्मतत्कर्मणोर्विजातीयधर्मं प्रति तत्कर्मणश्च हेतुतात्रयकल्पने गौरवादिति **चेत् ? न**, लाघवेनोक्तहेतुत्वे क्लृप्ते फलमुखगौरवस्याऽदोषत्वात् । विजातीयाऽदृष्टद्वारा तत्तत्कर्मणो हेतुत्वमित्यपि **केचित्** । न चादृष्टवैजात्ये मानाऽभावः, 'मयाऽश्वमेधः कृत' इत्यादिकीर्त्तननाश्यतावच्छेदकत्वेनैव तत्सिद्धेः । न हि तत्तददृष्टत्वं तन्नाश्यतावच्छेदकं, गौरवात् । न च स्वाश्रयजन्यताविशेषसम्बन्धेनाश्वमेधत्वादिघटितं तथा, स्वाश्रयजनकताविशेषसम्बन्धेन विजातीयसुखत्वघटितेन विनिगमनाविरहप्रसङ्गात् । **ननु** तवापि 'मयाश्वमेधवाजपेयौ कृतौ, मया वाजपेयज्योतिष्टोमौ कृतावि'त्यादिकीर्त्तननाश्यतावच्छेदकजातिसिद्धौ साङ्कर्यमिति **चेत् ? न**, प्रत्येकनाश्यतावच्छेदकावच्छिन्नयोरेवोक्तसमूहालम्बननाश्यत्वात्, अन्यथा तज्जातीयनाशकात्ततः प्रत्येकनाश्यनाशापत्तेर्दुर्निवारत्वात् ।

इत्थञ्च "समूहालम्बनहरिगङ्गास्मरणजन्याऽपूर्वस्य गङ्गास्मृतिकीर्त्तनान्नाशे हरिस्मृतेरपि फलं न स्यात् । तज्जन्याऽपूर्वयोरेकस्य नाशेऽप्यपरस्य सत्त्वे गङ्गास्मृतेरपि फलं स्यादि"ति **परास्तं**, स्वकीर्त्तननाश्यतावच्छेदकजातिमदपूर्वसम्बन्धेन गङ्गास्मृतेरसत्त्वे तत्फलोत्पत्त्यसम्भवात् । **यत्तु** कीर्त्तनस्याऽदृष्टनाशकत्वे गौरवादुक्तदोषोद्धाराय च कीर्त्तनाऽभाववत्कर्मत्वेनैव हेतुता युक्तेति, **तन्न**, कर्म्मवत्कीर्त्तनाभावत्वेन हेतुत्वे विनिगमनाविरहात् । **अथ** 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते'त्यादिना ज्योतिष्टोमादेः श्रुत्या स्वर्गसाधनत्वस्यैव बोधान्न तस्योक्तहेतुतावच्छेदकत्वमिति **चेत् ?** तर्हि 'धर्मः क्षरति कीर्त्तनादि'त्यादिना कीर्त्तनादेर्धर्मनाशकत्वस्यैव बोधात्तथात्वं किं न रोचयेः ? अन्यथा तत्र विषयत्वसामानाधिकरण्योभयसम्बन्धेन कीर्त्तनाभाववत्कर्मत्वेनाऽपूर्वं प्रत्येव हेतुताऽस्तु किमनन्तपण्डाऽपूर्वकल्पनयेति **दिग्** ॥

किञ्च, भावकार्यत्वावच्छिन्नं प्रत्युपादानप्रत्यक्षत्वेनैव कारणत्वाल्लाघवाज्जगद्धेतुतया सिध्यन्नित्योपादानप्रत्यक्षरूपादीश्वराज्जीवानामपि 'एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्मे(छा०उप०–६।२।१)'त्यादि श्रुत्याऽभेदबोधादात्मनो नित्यत्वमेव यौक्तिकम् । **एतेना**ऽऽनन्दशब्दस्याऽजहत्पुल्लिंगतया नपुंसकत्वे लिङ्गव्यत्ययकल्पनमप्रमाणिकमिति **निरस्तं**, नित्यज्ञानाऽभिन्नाऽऽनन्दाऽभेदस्यैवाऽऽत्मनि यौक्तिकत्वात् । **न च** 'आनन्दं ब्रह्मणो रूपं, तच्च मोक्षे प्रतिष्ठितमि'ति भेदबोधकश्रुतिसद्भावा-

दुपचरितार्थत्वमेव पूर्वोक्तश्रुतेरिति **वाच्यं**, 'राहोः शिर' इत्यादौ षष्ठ्या अभेदेऽपि दर्शनात् । अत्राऽभेदप्रकारकबोधाल्लक्षणैव श्रुतौ तु सा न युक्तेति **चेत् ?** न, सुब्विभक्तौ लक्षणाऽनभ्युपगमात् । अन्यथा व्यत्ययानुशासनवैयर्थ्यात् ।

अथ विभक्त्यन्तरार्थे विभक्त्यन्तरस्य लक्षणाया निषिद्धत्वज्ञापकं व्यत्ययानुशासनं, अत एव 'घटं जानाती'त्यादौ द्वितीयाया विषयित्वे लक्षणा नाऽनुपपन्ना । कृद्योगे षष्ठ्यनुशासनं, च द्वितीयाया असाधुत्वज्ञापकमपि, अन्यथा 'भारतस्य श्रवणमि'त्यादौ कर्मत्वे षष्ठ्यतिरिक्तविभक्तेर्लक्षणाया निषिद्धत्वेऽपि शक्त्यैव द्वितीयया तद्बोधप्रसंगात् । निष्ठादिवर्जनं च निष्ठायां तत्साधुत्वज्ञापकम्, कृत्ययोगे विकल्पविधानं च निष्ठायां शेषषष्ठ्यसाधुत्वज्ञापकमिति **चेत् ? न,** तथापि भेद एव षष्ठीत्यनियमात्तत्र सम्बन्धत्वप्रकारकबोधेनाप्युपपत्तेः । इत्यत आचचक्षिरे **"आत्मनी"ति—**

आत्मन्येकान्तनित्ये स्यान्न भोगः सुखदुखयोः ।
एकान्ताऽनित्यरूपेऽपि न भोगः सुखदुखयोः ॥२॥

आत्मन्येकान्तनित्ये—सर्वथा ध्वंसाऽप्रतियोगिनि अभ्युपगम्यमान इति शेषः । **सुखदुःखयोर्भोगः**—साक्षात्कारो न स्यात् । **यद्यपि** भोगपदं सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारे रूढमिति पुनः "सुखदुःखयो" रित्युपादाने पौनरुक्त्यं, **तथापि** [1]"विशिष्टवाचकानामि'त्यादिन्यायाद्भोगपदमत्र साक्षात्कारमात्रपरं द्रष्टव्यम् । **न च** शक्यादनन्याऽर्थे कथं लक्षणा ? शक्यसम्बन्धाभावादिति **वाच्यम्**, तत्राप्यभेदसम्बन्धस्य जागरुकत्वात् । अत एव जिधातोः 'प्रजयती'त्यादौ प्रकृष्टजये लक्षणा ।

ननु सम्बन्धितावच्छेदकभेदं विनाऽभेदग्रहो दुःशकः, 'घटो घटः, नीलघटो घट' इत्यादौ तदग्रहात् । अत एव 'प्रजयती'त्यत्र जिधातोः शक्त्योपस्थिते जयत्वावच्छिन्ने लक्षणयोपस्थितेन प्रकृष्टत्वावच्छिन्नेनैव सममभेदबोधो यौक्तिकः, युगपद्वृत्तिद्वयाऽऽपातस्य **मणिकृता**मिष्टत्वात् । अस्तु वा तत्र प्रोत्तरजित्वादिना शक्तत्वाद् प्रकृष्टजयस्य शक्त्यैव बोधः । **न** चैवमुपसर्गस्य द्योतकत्वं न स्यादिति **वाच्यं,** औपसन्दानिकशक्तेरेव द्योतकत्वात् । न च जिपूर्वप्रत्वादिनापि शक्तत्वे विनिगमनाविरहः, धातुभिन्नाऽर्थस्याऽऽख्यातार्थभावनायामन्वयाऽव्युत्पत्तेर्विनिगमिकात्वादिति **चेत् ? न,** विभिन्नधर्मावच्छेदेनाऽभेदग्रहस्याऽन्ततो मनसापि सम्भवादन्यथा सामान्यवाचकपदानां विशेषपरत्वं कुत्रापि न स्यात् । 'विशिष्टवाचकानामि'त्यादिन्यायेन विशेषणवाचकविशिष्टवाचकपदयोर्विशेषणांशे सम्भूयैकाऽन्वयबोधजनकत्वमेव व्युत्पाद्यत इत्य**प्याहुः** ।

ये तु वदन्ति—भोगत्वं चाक्षुषादिसामग्रीप्रतिबद्धयतावच्छेदककुक्षिप्रविष्टतया सिद्धो जातिविशेष एव, भोगान्यमानसत्वावच्छिन्नं प्रति तत्प्रतिबन्धकत्वात् । **न च** स्वसमवायिलौकिक-

१–'विशिष्टवाचकानां पदानां सति विशेषणवाचकपदसमवधाने विशेष्यार्थमात्रपरत्वं' इति न्यायात् ।

विषयितया भोगान्यमानसप्रतिबन्धकतावच्छेदकीभूतसुखदुःखवृत्तिजातिविशेषवदन्यमानसत्वादि-क्रमेव मानसाऽन्यसामग्रीप्रतिबध्यतावच्छेदकं, सुखदुःखवृत्तिजातिविशेषवत्प्रतिबध्यतावच्छेदक-मपीदमेव, तेन न तत्प्रविष्टतया भोगत्वसिद्धिरिति **वाच्यम्,** अनया दिशा साक्षात् सुखादि-वृत्तिजातिः प्रतिबध्यतावच्छेदककोटौ प्रवेश्या, साक्षात्मानसवृत्तिजातिर्वा स्वसमवायिलौकिक-विषयतासम्बन्धेन प्रतिबन्धकतावच्छेदककोटौ प्रवेश्येत्यत्र विनिगमकाऽभावात्''–इति, **तन्मते** तज्जात्यवच्छिन्नस्यैव भोगपदेन बोधनात् 'सुखदुःखयोरि'त्यस्य न पौनरुक्त्यम् ।

[आत्मनित्यत्वपक्षे सुखदुखभोगानुपपत्तिः]

अथ प्रकृतयुक्तीः प्रस्तुमः । एकान्तनित्यो भवन्नात्मा सुखदुःखे युगपद् भुञ्जीयात्, क्रमेण वा ? **नाद्यो,** विरोधात् । न **द्वितीयः,** स्वभावभेदेन सर्वथानित्यत्वहानेः । **अथ** यथा प्रदीपो घटादीन् प्रकाशयन्नपि न घटादिस्वभावः, तथा सुखदुःखे भुञ्जानोऽपि जीवो न तत्स्व-भावः, इति क्रमिकतद्भोगपक्षेऽपि न स्वभावभेद इति **चेत् ? न,** स्वभावो हि स्वद्रव्यगुणपर्या-याऽनुगतं स्वरूपास्तित्वं, तच्च सादृश्याऽस्तित्वेनैकीभवतोऽप्यन्यस्माद्भेदप्रतीतिमाधत्ते । तथा चात्मनः स्वभावभूतयोः सुखदुःखयोर्गुणयोः क्रमभोगे विभिन्नकालभोगत्वरूपविरुद्धधर्माऽध्या-सात् स्वभावभेदः कस्य पाणिना पिधेयः ! प्रदीपस्य घटादिस्तु स्वद्रव्याद्यन्यतराऽन्यत्वान्न स्वभावः । घटपटादिक्रमप्रकाशमाश्रित्य च तेनाऽपि स्वभावभेदः समाश्रयणीय एव ।

न च गुणगुण्यादीनां स्वभावेन न सम्बन्धित्वं किन्तु समवायेनैवेति **वाच्यं,** तद्वति तद्वृत्तीनामेकसम्बन्धस्यैवौचित्यात् । न चैवं रक्तादीनां स्फटिकस्वभावतापत्तिर्वस्तुतस्तेषां तद-वृत्तित्वात् परम्परया तद्वृत्तित्वेन तदशुद्धस्वभावत्वस्य चेष्टत्वात् । **अथैवमपि** ध्वंसाऽप्रतियो-गित्वरूपमात्मनः सर्वथा नित्यत्वमक्षतमेवे'ति **चेत् ? न,** सुखादेरात्मस्वभावत्वे तद्ध्वंसप्रतियोगि-त्वस्याऽऽत्मन्यपि पर्यवसानात् । यदि नाम ध्वंसः कश्चिदतिरिच्येत तदैव परः पर्यनुञ्जीत यत् सुखादेरेव ध्वंसो न पुनस्तदाश्रयस्येति । वयं पुनरन्ततः सुखाद्युत्तरत्वविशिष्टमात्मान-मेव तन्नाशमभ्युपेमः । तदुत्तरत्वं च यद्रूपेण तद्रूपवदभिन्नत्वं च ध्वंसप्रतियोगित्वमिति । युक्तं चैतत्–'अहं सुखवानभूवमि'त्यादिप्रतीतेः सुखवति ध्वंसप्रतियोगित्वोल्लेखित्वात् ।

[आत्माऽनित्यत्वपक्षे दूषणम्]

अथाऽनित्यत्वपक्षेऽपि दोषमाविर्भावयन्ति स्म–**'एकान्तानित्यरूपेऽपी'**ति–निगदसिद्ध-मिदम् । **अयम्भावः**–एकान्ताऽनित्यस्य सत आत्मनः सुखदुःखयोर्युगपद्भोगो विरुद्धत्वादेव नाभिमतः । क्रमभोगपक्षे तु क्षणिकत्वपक्षो बालतरलाक्षीकटाक्षतरलस्तत्क्षणध्वंसाधिकरणसमय-स्यैव क्रमपदार्थत्वात् । क्षणिकस्य तु जातमात्रस्यैव विनाशादुत्तरक्षणाऽननुवृत्तेः । **एतेन** 'प्रवृत्तिविज्ञानोपादानमालयविज्ञानसन्तान एवात्मा, स च पूर्वपूर्वविज्ञानोपादेयः प्रतिसमयोत्पदिष्णु-

रन्य एवे'ति मतमपास्तम्, कर्त्तुर्भोगसमयपर्यन्तमनवस्थानात्, अन्यकृतस्याऽन्येन भोगेऽतिप्रसङ्गात्, कालरूपसन्तानकर्तैक्यस्याप्यन्यसाधारण्यात् सर्वकालानुगतैकाऽतिरिक्तसन्तानाभ्युपगमे फलतो नित्यात्मन एवाऽभ्युगमापाताच्चेति ॥२॥

द्वैतीयिकः किल(ः)श्लोकः, प्रस्तुतेऽत्र जिनस्तवे । व्याख्यापद्धतिमानिन्ये यशोविजयधीमता ॥१॥

अत्रैव पक्षद्वये दूषणान्तरं क्रमशोऽतिदेशयन्ति स्म "पुण्यपाप" इत्यादिना 'क्रमाक्रमाभ्यामि'त्यादिना च ।

> पुण्यपापे बन्धमोक्षौ, न नित्यैकान्तदर्शने ।
> पुण्यपापे बन्धमोक्षौ नाऽनित्यैकान्तदर्शने ॥३॥
> क्रमाक्रमाभ्यां नित्यानां युज्यतेऽर्थक्रिया न हि ।
> एकान्तक्षणिकत्वेऽपि युज्यतेऽर्थक्रिया न हि ॥४॥

[नित्यात्मवादे पुण्यपापयोरसङ्गतिः]

एकान्तनित्यात्मवादिमते हि पुण्यपापयोरसम्भवः । ते हि "यागब्रह्महत्यादीनां क्षिप्रभंगुराणां स्वर्गनरकादिकं प्रति श्रुतिबोधितकारणतायाः फलपर्यन्तव्यापारव्याप्ततया तत्र व्यापारस्याऽन्यस्याऽसम्भवात्परिशेषाददृष्टसिद्धिः । न च यागादिध्वंसेनैव निर्वाहः, तस्य फलाऽनाश्यत्वात्, फलसन्तानस्य कदाचिदप्यनुपरमप्रसंगात् । न चापूर्वस्यापि प्रथमस्वर्गादिनैव नाशात्फलसन्तानो न निर्वहेदिति वाच्यं, तस्य चरमफलनाश्यत्वाऽभ्युपगमात् । चरमत्वं च स्वसमानजातीयप्रागभावाऽसमानकालीनत्वादिकं जातिविशेषो वा । न च ज्योतिष्टोमादिजन्यतावच्छेदिकया सांकर्यं, तत्तद्व्याप्यचरमत्वस्य भिन्नस्यैव स्वीकारात् । तच्चादृष्टमात्मनो गुणरूपं विहितनिषिद्धक्रियाजन्यमात्मनः सर्वथा भिन्नमि"त्याहुः ।

तदसत्–यागादिध्वंसेनैव तदन्यथासिद्धेः । न चोक्तदोषानतिवृत्तिरपूर्वाभ्युपगमेऽपि तद्वृत्तिलाभकालस्यैव फलोत्पत्तिनियामकत्वेन ममापि कालविशेषस्यैव फलसन्ताननियामकत्वेनाऽनतिप्रसंगात् । न च कीर्तनादिनाश्यत्वेनापूर्वसिद्धिरावश्यकी कीर्त्तनाऽभाववत्कर्मत्वेन पृथगेव वा कीर्तनाभावस्य विजातीयसुखत्वावच्छिन्नं प्रति हेतुत्वात् । यत्तु–निर्व्यापारस्यैव यागादेरव्यवहितत्वांशत्यागेन कारणताग्रहसम्भवाद्व्यापारतया नाऽपूर्वसिद्धिरिति–तन्न, अव्यवहितपूर्वसमयावच्छेदेन कार्यवति यदभावो ज्ञायते तत्रैव कारणताबुद्ध्यनुदयेन तद्गर्भाया एव कारणताया युक्तत्वादिति स्वतन्त्राः ।

[जैनमते अदृष्टस्वरूपम्]

अस्मज्जातीयाः पुनरित्थमाचक्षते–यत्स्वतन्त्रप्राप्यत्वेनात्मपरिणामरूपमेव भावकर्माऽपरपर्यायमदृष्टं कल्पयितुमुचितं, न पुनरतिरिक्तं, धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पनाया लघीयस्त्वात् । तदुप-

नीतप्रकृतिविशेषाऽबाधाकालपरिपाकादेव फलोदयात् । अत एव फलसन्तानस्थितिः कर्म्मणः स्थितिबन्धं नाऽतिवर्त्तते । परिणामाऽदृष्टजनितेन च पौद्गलिकाऽदृष्टेनैवात्मनोनुग्रहोपघातौ सम्भवतः, पुद्गलस्यैवान्यत्रानुग्रहोपघातकारित्वदर्शनात् । किञ्चा'त्मनः शुभाशुभपरिणामौ परसंसर्गजन्यौ, शुद्धपरिणामं तिरस्कृत्याऽऽविर्भावात् जपातापिच्छकुसुमसंक्रमजनितस्फटिकपरिणामवदि'त्यनुमानादपि पौद्गलिकाऽदृष्टसिद्धिः । न च 'परिणामाऽदृष्टात्पौद्गलिकादृष्टं, पौद्गलिकाऽदृष्टाच्च परिणामादृष्टमि'त्यन्योन्याश्रय इति वाच्यं, बीजांकुरस्थल इवाऽनाद्यन्योन्याश्रयस्याऽत्राऽदोषत्वात् ।

अथ मूर्त्तयोः परस्परसंक्रमसम्भवात् स्फटिकादौ जपातापिच्छसंसर्गवशात् श्यामरक्तपरिणामौ समगंसातां, आत्मनस्त्वमूर्त्तत्वात्पुद्गलसंसर्गेणाऽपि कथं विभावपरिणामः सम्भवत्विति चेत् ? अवधेहि—ज्ञेयनिमित्तकोपयोगाधिरूढज्ञेयाऽऽकारसम्बन्धस्येव कर्मनिमित्तकोपयोगाधिरूढरागद्वेषभावस्याऽऽत्मनि निरपायत्वात् । वस्तुतो रागपरिणामो यथा क्रमुकफलपर्णचूर्णसंयोगजन्यस्तथा रागद्वेषपरिणामोऽपि जीवकर्मोभयसंयोगजन्य इति प्रतिपत्तव्यम्, तेन जपातापिच्छगते एव रक्तत्वश्यामत्वे स्फटिकादावारोप्येते तत्सन्निधेरेव तत्र दोषत्वात्, न पुनरतिरिक्ततदारम्भो युक्त इत्युक्तावपि न क्षतिः ।

न चैवं निश्चयतस्तदभावोक्तिरयुक्ता स्यात्, त्रिकालाऽनुगतग्राहिणा तद्ग्रहपराङ्मुखेन तेन तदुक्तेर्युक्तत्वात् । अत एव शुद्धपरिणामस्य न तेन प्रतिक्षेपः, निरुपाधिकाऽऽत्मपरिणामरूपस्य तस्य ज्ञानदर्शनवत्सार्वदिकत्वात् । न चैवं सिद्धानामपि चारित्रप्रसंगो, निश्चयतोऽभिमतत्वात् । यथा हि ज्ञानदर्शनावरणदर्शनमोहक्षयात्तेषां शुद्धज्ञानदर्शनसम्यग्दर्शनानि प्रादुर्बभूवुस्तथा चारित्रमोहक्षयाच्चारित्रमप्युत्पद्यमानं कस्य पाणिना पिधेयम् । तदिदमभिप्रेत्य कंठत एवोक्तं गुणस्थानक्रमारोहे—"अनन्ते शुद्धसम्यक्त्वचारित्रे मोहनिग्रहादि"ति । नैश्चयिकचारित्रमपि शैलेशीचरमसमय एवोत्पदिष्णु, चौरसंसर्गिसमयोगादीनां तदानीमेवाऽपगमात् । तदुक्तं—धर्म्मसंग्रहण्यां—"[1]सो उभयक्खयहेऊ सेलेसी चरमसमयभावी जो । सेसो पुण णिच्छयओ तस्सेव पसाहगो भणिओ" ॥२६॥त्ति।

न च धर्माऽधर्मोभयक्षयकारी सिद्धधारणालम्भूष्णुस्तदानीं कश्चिदन्य एव धर्म इति वक्तुं युक्तं, ज्ञान-दर्शन-चारित्राणामेव मोक्षमार्गत्वोक्तेः । अथ पञ्चस्वनन्तर्भावात्कतरत्तेषां चारित्रमस्त्विति चेत् ? न, एतदनुयोगस्य 'दशस्वऽनन्तर्भावाद्धर्मोऽपि तेषां कतरः ?' इति पर्यनुयोगतुल्ययोगक्षेमत्वात् । 'सिद्धे णो चरित्ती णो अचरित्ती'त्यभिधानं कथं संगतिमङ्गतीति चेत् ? चारित्रित्वाऽचारित्रित्व—व्यवहारप्रयोजकव्यावहारिकचारित्राऽचारित्रोभयाऽभावान्नैश्चयिकसंज्ञाशालिनि नोसंज्ञि—नोअसंज्ञित्वाऽभिधानवद्व्यवहारनयाऽभिप्रायेण चेदम् । निश्चयतस्तु परमचारित्रवत्पदाभिधेयः सिद्धस्तत्रैव सर्वगुणपारम्यविश्रान्तेरित्यधिकमस्मत्कृताऽध्यात्ममतपरीक्षायामध्यवसेयम् ।

तथा च स्वभावभेदेनैव तादृशधर्माधर्मयोर्जननादेकान्तनित्यतापक्षो मूलक्षत एव । अत एव बन्धमोक्षयोरपि कर्माऽऽदान-सकलकर्मविप्रमोक्षलक्षणयोर्मिथ्याज्ञानवासनादुःखध्वंस-

१—स उभयक्षयहेतुः शैलेशीचरमसमयभावी यः । शेषः पुनः निश्चयतस्तस्यैव प्रसाधकः भणितः ॥

रूपयोर्वा तत्पक्षेऽसम्भवः । एवमुत्तरार्द्धे दोषोद्भावनमपि विभावनीयं, क्षणिकस्य क्रमिकक्रियाकारित्वविरोधादिति ॥३॥

[एकान्तनित्यवादे अर्थक्रियाकारित्वानुपपत्तिः]

क्रमाक्रमाभ्यामिति—अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपाणां हि क्रमेण युगपद्वाऽर्थक्रियाकारित्वं न घटामटाट्यते। तथाहि -'अर्थस्य'=घटादेः=स्वस्य वा, 'क्रिया'=ज्ञानादिरूपा, 'तत्कारित्वं'=तज्जनकत्वं, सर्वथा नित्यानामात्मादीनां देशक्रमेण कालक्रमेण वा न सम्भवति, यत्किञ्चिद्देशकालावच्छेदेनैव सकलकार्यकरणसामर्थ्यात् । अन्यथा देशकालभेदेन स्वभावभेदादनित्यताप्रसंगात् ।

अथाऽऽत्मादीनामर्थक्रियाकारित्वेऽपि यत्र कुत्रचिद्यदाकदाचित्सर्वार्थक्रियाकारित्वे आपादकाऽभाव इति **चेत्**? **न,** देशकालादीनामप्यात्मादेरिव तिरस्कृतविशेषतया कार्यभेदाय स्वभावभेदस्याऽवश्याऽऽश्रयणीयत्वे एकान्तनित्यतापक्षस्य विघ्नशीर्णत्वात्, अन्यथा पुनरुक्तापत्तेर्दुर्निवारत्वात् । **अथ** स्वस्य भावः स्वभावः, स चाऽऽत्मत्वादिरूपः कार्यभेदाय न भिद्यते किंत्वनुगत एव जन्यज्ञानत्वाद्यवच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतावच्छेदको, घटज्ञानादिरूपविशेषकार्यं तु घटेन्द्रियसन्निकर्षादिविशेषकारणसंपातादुपजायते । अत एवोभयसामग्रीसमावेशाद् घटपटोभयसमूहालम्बनमप्युदेतीति **चेत्**? **न,** स्वस्याऽऽत्मनो भावः कार्यजननपरिणतिः, सा च घटोपयोगरूपा घटज्ञानादिभेदाय भिद्यत एव, सुषुप्तिकाले ज्ञानाऽनुत्पत्तिनिर्वाहायोपयोगरूपव्यापारसाचिव्यैनैव जीवस्य ज्ञानजनकत्वस्वीकारात्[1] ॥

अपूर्णं सम्पूर्णम्

सम्पादकीयम्

तदेवं पृदक् पृथक्ज्ञानकोशेभ्यो लघु–मध्यमस्याद्वादरहस्ययोः उपाध्यायस्वकीयहस्ताक्षरादर्शद्वयं बृहतश्च अन्यदीयहस्ताक्षरादर्शं कुत्रचिदुपाध्यायस्वहस्ताक्षरैः पूरितमेवमादर्शत्रयमुपलभ्य पठनमुद्रणानुकुलहस्तादर्शं सज्जीकृत्य सम्पाद्य मुद्रापितोऽयं विक्रमीयाष्टादशशतकालंकारजिनशासनोद्योतक–न्यायविशारद–न्यायाचार्य–महोपाध्यायश्रीमद्**यशोविजय**गणिविरचितः लघुमध्यम–बृहट्टीकात्रयात्मकः **स्याद्वादरहस्य**शुभनामधेयप्रकरणग्रन्थः विक्रमीयविंशतितमशतकज्योतिर्धर–युगप्रधानदेशीय-शतत्रयाधिकमुनिवृन्दसार्थवाह–त्यागवैराग्यसंयमादिगुणगणरत्नाकरनिस्पृहशिरोमणि–व्याकरण–न्याय-आगमादिसर्वशास्त्रनिपुणमतिः—**बन्धविधाना**दिलक्षद्वयश्लोकपरिमाणप्रमितनूतनकर्मसाहित्यग्रन्थरचनासूत्रधारश्रीमद्विजय**प्रेमसूरिश्वर**पट्टप्रद्योतक–प्रशमरसपूर्णोपदेशघण्टारवप्रबोधितानेकशिष्यगणपरिवृत–न्यायविशारद-शास्त्रमर्मज्ञ-शताधिकश्रेणिकवर्धमानतपश्चर्यासफलीकृतमनुष्यजन्म–उग्रचारित्रचर्यापालनोद्यतश्रीमद्विजय**भुवनभानुसूरीश्वर**चरणकिंकरेण भुवनभानुसूरिशिष्यरत्नसमाधिसाधनोद्यतशान्तमूर्त्तिमुनिपुङ्गवश्रीमद्**धर्मघोष**विजयशिष्यरत्नगीतार्थ-आगमाद्यनेकशास्त्ररहस्यविद्-मुनिप्रवरश्रीमद्**जयघोषविजय**गणिवरशिष्याणुना जयसुन्दरेणेति ।

शुभं भूयात् सर्वजगतः

१–इतः परं मूलादर्शस्य पञ्चविंशतितमपत्रं पञ्चमपङ्क्तेरारभ्य रिक्तमेव ॥

परिशिष्ट–१ म०बृ०स्या०रहस्ये स्पष्टीकृता अर्थविशेषाः

पृष्ठाङ्कः

२ ऋजुसूत्रनये उपादेयक्षण एवोपादानप्रध्वंसः ।
२ व्यवहारनये तु घटोत्तरकालवर्त्तिमृदादिस्वद्रव्यं घटप्रध्वंसः ।
२ समनियताभावस्त्वेक एव ।
६ उपयोगश्चोपलिप्सोराभोगकरणं इति विशेषावश्यकवृत्तौ ।
११ कृतस्य=कुम्भकारादिप्रयत्नस्य नाशः=उपधानाव्याप्यत्वम् ।
अकृतस्य=कुम्भकारादिप्रयत्नाऽभावस्य आगमः=अनुपधानाऽव्याप्यत्वम् ।
१६ स्वभावो हि स्वद्रव्यगुणपर्यायानुगतं स्वरूपास्तित्वम् ।
१८ मोहक्षोभविहीनो ह्यात्मनः परिणामः शुद्धः........स एव हि चारित्रशब्दवाच्यः ।
२५ एकशेषस्थले तु वस्तुतः पदान्तरस्मरणमेव कल्प्यम् ।
२६ एकदोभयतात्पर्यग्रहे एकपदादेकदोभयबोधास्वारस्यनिर्वाहाय 'सकृदुच्चरिते०' त्यादिनियमो युक्तः ।
२६ 'सर्वे सर्वार्थवाचका' इत्यभ्युपगमेनैकया शक्त्याप्येकपदस्यानेकार्थबोधकत्वात् ।
२८ योग्यताविशेषश्च तदंशे ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमः ।
३० वस्तुतः सामान्यत एका चाक्षुषजननी योग्यताऽपरा च तमःसंयुक्तचाक्षुषजननी ।
३८ क्षयश्चात्र(कर्मक्षये) स्वसमानाधिकरणतज्जातीयपर्यायप्रागभावाऽसमानकालीनस्तत्पर्यायध्वंसो, न तु सर्वथाऽभावः ।
३९ द्वयं न विरुद्धं= न परस्परानधिकरणाधिकरणम् ।
४० विधिमुखप्रत्ययवेद्यत्वं सत्त्वं, निषेधमुखप्रत्ययवेद्यत्वं चासत्त्वम् ।
४३ सादृश्यं न तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वं, किन्तु तद्वृत्तिधर्मैकधर्मवत्त्वम् । एकत्वं च संग्रहनयार्पणार्पितबुद्धिविशेषविषयत्वम् ।
४५ तत्तदर्थस्वरूपपरिणामपरिणतपदबोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्वं तत्(अनभिलाप्यत्वम्) ।
४६ भगवतां मोहाभिव्यक्तचैतन्यविशेषरूपाया इच्छाया असत्त्वेऽपि तदनभिव्यक्तचैतन्यविशेषरूपानुजिघृक्षादिसत्त्वमविरुद्धम् ।
४६ न चैवं मोक्षेऽप्यनुजिघृक्षापत्तिः, जिननामकर्मोदयसाचिव्यादेव तत्प्रवृत्तेः ।
५६ आभिमुख्येन ग्रहणं मुख्यत्वं, तद्विपरीतत्वमुपसर्जनत्वम् ।
५७ संकेतो हि तपश्चरणदानप्रतिपक्षभावनावज्ज्ञानावरणक्षयोपशमाऽभिव्यञ्जकतयोपयुज्यते न तु शब्दार्थसम्बन्धतया ।

६३ अवगाहना हि न संयोगदानमुपग्रहो वाऽन्यसाधारणत्वात् किन्त्वाधारत्वपर्यायः ।

६४ प्राच्यादिविभागेन कथञ्चिद्विभिन्ना प्राच्यप्रतिच्योभयाधारत्वेन कथञ्चिदेका चाकाशात्मिकैव दिगिति ।

७६ नन्वत्र किं कारणत्वमिति चेत् ! नियतान्वयव्यतिरेकव्यंग्यः परिणामविशेषः ।

९९ भेदश्चेदमस्माद्भिन्नमिति प्रतीतिनियामको व्यावृत्तिविशेषः ।

परिशिष्ट–२ म०बृ०स्या०रहस्ये ग्रन्थान्तरोद्धृतश्लोकादयः

	पृष्ठांङ्क
'अण्णं घडाउ रुवं.' [श्रीपूज्यलेख]	९
'अत्यन्ताऽसत्यपि ज्ञानं.' [ ]	५५
'अनन्ते शुद्धसम्यक्त्व.' [गुणस्थानक्रमारोह-१३०]	१८
अभावविरहात्मत्वं भावानां प्रतियोगिता [न्या. कु. ३--२]	८५
'असदकरणादुपादान.' [सांख्यकारिका–९]	११,९९
'आदावन्ते च यन्नास्ति.' [ ]	१०१
'आनन्दं ब्रह्मणो रूपं.' [ ]	१५
'आया सामाइए.' [ ]	१८
'इह विविधलक्खणाणं.' [प्र. सा. २–५]	४१
'उपयोगश्चोपलिप्सो.' [विशेषा. टीका]	६
'उपाधिभेदोपहितं.' [ ]	५४
एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म [त्रि.म.ना. ३-३]	११०
'एकत्र वस्तुनि.' [प्र न. ४–१४]	२१
'एकत्र वृत्तौ हि.' [स्तुति (?)]	८
'एगे भंते जीवप्पएसे.' [ ]	७५
'एतस्य चाक्षरस्य.' [बृहदारण्यक ३।८।९]	३६
'एवंविधं सहावे.' [प्र. सा. २–१९]	१२,१०१
'कयमाणे कडे.' [ ]	३६
'केवलविन्नेयत्थे.' [ ]	४५
'खुर–अग्गि–मोअगु.' [ ]	४५
'गुणे शुक्लादयः पुंसि.' [अमरकोश १–५–१७]	९०
'चैतन्यस्वरूपः.' [प्र. न. ७–५६]	६९
ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत	११०
'जुत्तो य तदुवयारो.' [ ]	७४

पृष्ठाङ्कः

'ठाण–निसेज्ज-विहारा.' [प्र. सा. १–४४] ४६
'तत्र सचेतसां.' [ ] ५५
'तस्मान्न बध्यते.' [सांख्यकारिका-६२] ७१
'तेषां मोहः पापीयान्.' [न्या. सू. ४–१–६] ३९
'तो भासइ सव्वन्नु.' [ ] ४६
'दृष्टस्तावदयं घटोऽत्र.' [त. चि. पृष्ठ७१७] ८५
'द्रव्यं पर्यायवियुतं.' [ ] १०१
'धर्मः क्षरति कीर्त्तनात्' [ ] ११०
'न भवो भंगविहिणो.' [प्र. सा. २–८] ३,८६
'नाणस्स सव्वस्स.' [उत्तरा. ३२–२] १८
'नानात्मानो व्यवस्थातः.' [ ] ७५
'नित्यं विज्ञानमानन्दं.' [तै. आ.] १५,७६,११०
'नित्यं सत्त्वमसत्त्वं' [ ] ५५
'पन्नवणिज्जाणं पुण०' [वि० आ० १४१] ४५
'पन्नवणिज्जा भावा०' [वि० आ० १४१] ४४
'परिणमदि जेण दव्वं०' [ ] ८६
'पविभत्तपदेसत्तं०' [प्र० सा० २–१४] ९
'पुट्ठं सुणेइ सद्दं०' [आ० नि०–५] ६४
'प्रमाणप्रतिपन्ना०' [प्र० न० ४–४४] २४
'मुखे पुच्छे च पाण्डुरः०' [इतिहा० ९६] ५२
'यत्रैव यो दृष्टगुणः०' [अन्य० व्यव० ९] ७४
'यथा हि प्रेर्यते०' [ ] ६५
'यो ह्यन्यरूपसंवेद्यः०' [ ] १०१
'रुवं पुण पासइ०' [आ० नि० ५] ७,९४
'विसेढी पुण सद्दं०' [ ] ६४
'सद्दव्वं सच्च गुणो०' [प्र० सा० २–५] १०,९९
'सद्दंधयारउज्जोआ०' [नवतत्त्व ११] ६४
'सब्भावो हि सहावो०' [प्र० सा० २–४] ४१
'साधु चन्द्रमसि०' [ ] ३७
सिद्धिः स्याद्वादात् [सिद्ध० श० १–१–२] ६८
'सो उभयक्खयहेउ.' [ध.सं.–२६] ११४
'संविदेव हि०' [ ] १०

परिशिष्ट ३ म०वृ०स्या०रहस्ये उल्लिखिता न्यायाः

न्यायाः	पृष्ठाङ्कः
विशिष्टवाचकानां पदानां विशेषणवाचकपदसमवधाने सति विशेष्यार्थमात्रपरत्वम् ।	१५,१११
सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति ।	२५,२६
यद्विशेषयोः कार्यकारणभावः स तत्सामान्ययोरपि ।	३५
प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वम् ।	३९
एकत्र द्वयम् ।	१३,४२
तद्धेतोरेवास्तु किं तेन ?	६४
धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पना लघीयसी ।	६४,११३
एकं सीव्यतोऽपरप्रच्युतिः ।	६७

परिशिष्ट ४—म०वृ०स्या०रहस्ये उल्लिखितानि विशेषनामानि

नाम	पृष्ठाङ्कः	नाम	पृष्ठाङ्कः
अष्टसहस्रीकारः (विद्यानन्दः)	२३	नव्यचार्वाकः	५८,६०
उच्छृंखलाः	२९	नव्यनैयायिकः	७,३२
उदयनः	१०,८५	नव्यमतानुयायी	४३
ऋजवः	१०,५१,९९	नूतननैयायिकः	८९
एकदेशी	१४,५१	नैयायिकः	५,४८,६६,६७,९८.
कन्दलीकारः (श्रीकण्ठः)	३४	नैयायिकैकदेशी	७,१६
कापिलमतम्	५७	प्रगल्भः	३१
गङ्गेशः	४	प्राञ्चः	५,६३,१०८
ग्रान्थिकाः	६१	प्राभाकराः	— ३१
चार्वाकः	५८	बौद्धः	१३,१०६,१०७
जरन्नैयायिकः	६५	भट्टाः	७०,७१
तथागतः	४८	भवदेवः	२२
तौतातिकैकदेशी	३०	मणिकृत्	२,४,९,१५,५४,८२,९०,९१,९२,१११
दिगम्बराः	९,३८,४१ ४५	महोपाध्यायः	१०४
दीधितिकृत्	९,२२,३६,७९,८४,९८	मीमांसकः	६६,१०३
देवसूरिः	८१	यशोविजयः	१४,१०९,११३

यौक्तिकाः	९,९७	शिरोमणिनव्यः	६७
योगाः	९,१२,४२,४८,७१,७६	सांख्यः	११,१२,५७,७०,७१,९९,१०१
योगैकदेशी	९३	साम्प्रदायिकाः	६७,६९
रामभद्रसार्वभौमः	४९	सिंहसूरिः	८१
लोकायतिकः	५८	स्तुतिकृत्	७४
वर्धमानः (उपाध्यायः)	३३,४४	स्याद्वादी	३८,४६,५४,८३,९१
वैशेषिकः	४८	स्वतन्त्राः	३३
		हेमसूरिः	१,१४,८१,१०९

परिशिष्ट–५ म०बृ०स्या०रहस्ये उल्लिखिता ग्रन्थाः

ग्रन्थनाम	पृष्ठाङ्कः	ग्रन्थनाम	पृष्ठाङ्कः
अध्यात्ममतपरीक्षा	१८,४६	न्यायवादार्थाः	१३,५०,६०
अनुमानखंडः (त. चि.)	५४	पदार्थमाला	६६
अन्धकारवादः	७,६५	प्रवचनसारः	९७
अष्टसहस्री	७०	विशेषावश्यकवृत्तिः	६
आकरः	९,२६,१०२	श्रीपूज्यलेखः	९,२६
गुणस्थानक्रमारोह	१८,११४	स्तुतिः	८,९७
चित्ररूपप्रकाश	५१	सप्तभङ्गीतरङ्गिणी	२६
ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद	७६	स्याद्वादरत्नाकरः	३,६०,८६
धर्मसंग्रहणि	११४		

संकेतस्फुटीकरणम्

अन्य. व्यव.–अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका

अमर.–अमरकोश

आ. नि., आव. नि.–आवश्यकनिर्युक्ति

उत्तरा.–उत्तराध्ययनसूत्र

त. चि.–तत्त्वचिन्तामणि

तै. आ., तैत्ति. आर. तैत्तिरीय आरण्यक

त्रि. म. ना.–त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषत्

ध. सं–धर्मसंग्रहणि

न्या. कु.–न्यायकुसुमांजली

न्या. सू. न्यायसू.–न्यायसूत्र

प्र. न., प्र. न. त.–प्रमाणनयतत्त्वालोक

प्रा. सा., प्रव. सार–प्रवचनसार

वि. आ.–विशेषावश्यकभाष्य

शा. वा.—शास्त्रवार्त्तासमुच्चय

सि. हे., सिद्ध. श.–सिद्धहेमशब्दानुशासन

नमो तित्थस्स

प्रकाशक:—
श्री भारतीय प्राच्यतत्त्व प्रकाशन समिति
पिंडवाडा स्टे. सिरोहीरोड (राजस्थान)